प्रोषित पतिका और हंस
(एक प्राचीन चित्र)

"दीजो पिय को जाय सँदेस।"

(साहित्य, कला और मानव-जीवन से सम्बद्ध
अध्ययन सहित)

राजेश्वरप्रसाद नारायण सिंह

प्रस्तावना:

जवाहरलाल नेहरू

पब्लिकेशन्स डिवीजन
सूचना और प्रसारण मन्त्रालय, दिल्ली
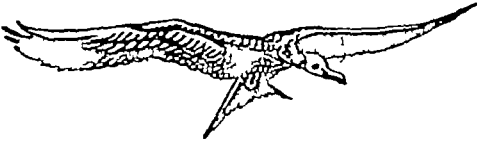
आषाढ़-श्रावण (जुलाई १९५८)

मूल्य

१२ रुपये ५० नये पैसे

प्र

डायरेक्टर पब्लिकेशन्स डिवीजन, सूचना और प्रसारण मंत्रालय, भारत सरकार द्वारा
प्रकाशित, जोडियक प्रेस, कश्मीरी गेट, दिल्ली द्वारा मुद्रित, रंगीन चित्र और
आवरण पृष्ठ गवर्नमेंट ऑफ इंडिया यूनाइटेड प्रेस, दिल्ली में मुद्रित

प्रस्तावना

जब मुझे बताया गया कि श्री राजेश्वरप्रसाद नारायण सिंह ने भारत के पक्षियो पर एक किताब लिखी है तो मुझे खुशी हुई और मै ने उसमें दिलचस्पी ली। मुझे इस बात पर ताज्जुब और कुछ अफसोस भी होता रहा है कि भारत मे चिड़ियो, जानवरों, फूलो और पेड़ो के बारे मे और चीज़ो की बनिस्बत किस कदर कम दिलचस्पी ली जाती है। पश्चिमी देशो मे इन विषयो पर वैज्ञानिक और लोकप्रिय पुस्तके बहुत मिलती हैं। असल मे, वहा इस तरह की किताबो की गिनती हज़ारों में है और नई-नई किताबे भी बराबर निकलती ही रहती हैं।

खासतौर से, बच्चों के लिए इन विषयों पर बड़ी ही आकर्षक किताबे निकल रही है और उनकी खपत भी खूब है। अक्सर योरोपीय बालक चिड़ियो और जानवरों, यहा तक कि फूलो और पेड़ो के बारे में भी बहुत कुछ जानता है। हमारे बच्चों, या बड़ों में भी, कितने ऐसे होगे जो इन चीज़ों के बारे में काफी जानकारी रखते हो ? मै समझता हूं, ऐसे लोग बहुत न होंगे।

यह सचमुच अफ़सोस की बात है, क्योकि इस तरह हम जीवन के एक ऐसे आनंद से वचित रह जाते है जिसे कोई भी हमसे छीन नहीं सकता, चाहे हम खुशकिस्मत हो या बदकिस्मत। यू तो इस दुनिया मे परेशानिया भरी है लेकिन कितना सौदर्य भी है। अगर हम मुसीबतों और परेशानियो से बच नहीं सकते तो प्रकृति की सुन्दरता और विविधता मे रस लेकर कम से कम इस घाटे को पूरा तो कर ही सकते है।

भारतीय चिड़ियो का अध्ययन करनेवाले एक प्रसिद्ध विद्वान ने एक बार कहा था कि "जिस इन्सान के कानो ने चिड़ियो के मोहक संगीत मे रस लेना नही सीखा, वह अकेला सफर करता है जबकि उसको अच्छे

साथी मिल सकते है"। मुझे याद है, जब मै देहरादून जेल मे था तो नियमित रूप से साल मे दो बार प्रवासी चिड़ियों को आसमान मे उड़कर जाते देखता था। शुरू जाड़ो में, ये चिड़िया दूर-दूर के देशो से हिमालय को पार कर भारत की गर्म जलवायु मे चली आती थीं और वसन्त में उत्तरी देशों को लौट जाती थी। इन उड़ानों को देखकर मुझे खुशी और आश्चर्य होता था - कितनी दूर से वह हर साल उसी रास्ते से जाते थे। जब हम अहमदनगर किले की जेल में रक्खे गए थे तब वह जगह बिलकुल उजाड़ और अनाकर्षक थी। चिड़िया भी वहा नही आती थी। लेकिन कुछ समय बाद मैं ने देखा कि पथरीली ज़मीन में से तरह-तरह के नन्हे-नन्हे जगली फूल उग आए है। मेरे साथी, आसफअली को फूलों के बारे में कुछ जानकारी थी, और हम दोनो इन छोटे फूलों को बहुत दिलचस्पी से देखते थे और कभी-कभी उन्हें चुनकर रखते भी थे।

बहुत सी घटनाओं में से इन दो का ज़िक्र मैने इसलिए किया है कि यह ज़ाहिर हो कि मामूली दुनिया से अलग होने पर भी प्रकृति के अनन्त रूपो को देखकर हमारा जीवन कैसे पूर्ण बन सकता है। बरसात के मौसम मे बादल कैसे खूबसूरत होते है, उनके बदलते हुए रगों को देखकर जो खुशी हासिल होती है, वह कभी मिटती नही। चिड़िया आती है और हमारी साथी और मित्र हो जाती है। एक फूल भी हमे दुनिया की खूबसूरती की याद दिलाता है।

कुलू घाटी मे मनाली है। वहा मै अभी कुछ दिन रहा। मनाली के ऊपर हिमालय की बरफ से मढ़ी चोटिया है, जिनके नीचे इस ओर तो पेड़ो से ढके मैदान हैं, और उधर है - ऊचा, बजर पठार, जो लाहौल और स्पिती से होता हुआ तिब्बत तक चला गया है। मनाली मे मैने अपने यहा के खूबसूरत पहाड़ी पक्षी देखे और देवदार के विशाल वृक्षों के नीचे सैर की। वहा और भी कितनी ही तरह के सजीले और शानदार पेड़ थे। बान (ओक), करज (बीच), अखरोट (वालनट), कनौर (चेस्टनट),

अंगु (रेश), किरमोली (मेपल), कैल (पाइन) आदि कितने ही पेड़ वहा थे। लेकिन सब से शानदार हिमालय के देवदार वृक्ष थे, जो हमारे पहाड़ों मे विशेष रूप से पाए जाते हैं। मनाली के आसपास, बहुत से देवदार के पेड़ हज़ार साल से भी ज्यादा पुराने हैं। मनाली मे मेरे साथी चिड़ियां थीं और फूल और बड़े-बड़े वन-वासी वृक्ष। इन चन्द दिनों में मेरा जीवन इन सब के कारण भरा-पूरा रहा और ज़रा भी मैने अकेलापन महसूस नहीं किया।

लेकिन यह किताब तो चिड़ियो के बारे मे लिखी गई है। इन सुन्दर जीवो की कितनी बेशुमार किस्मे हैं। चिड़ियो को दूर से देख लेना और एक तरह के आनंद का अनुभव कर लेना ही काफ़ी नहीं है। अगर हम उन्हें पहचाने, उनके नाम - या जो नाम हम उन्हे देते हैं - उनको जाने, और उनको गाते चहचहाते सुनकर उनको पहचान सके, तो हमारा आनंद और भी बढ जायगा। अगर हम उनके साथ इस तरह हिलमिल जाएं तो हर जगह वह हमारी साथी हो जाती है।

इसलिए मुझे बड़ी खुशी है कि भारत के पक्षियों पर यह किताब हिंदी मे प्रकाशित हुई है। श्री राजेश्वरप्रसाद ने साहित्यिक प्रसंगो और अनेक चित्रों के द्वारा इस पुस्तक का सौंदर्य और भी बढ़ा दिया है। मुझे उम्मीद है कि यह किताब खूब पढ़ी जाएगी और पक्षि-जगत के बारे में, जिसकी भारत में बहुतायत है, अधिकाधिक लोगों की रुचि बढ़ेगी। मैं आशा करता हूं कि हिंदी में, बच्चों के लिए भी पक्षियों के बारे मे अच्छी और आकर्षक पुस्तके लिखी जाएगी।

जवाहरलाल नेहरू

नई दिल्ली,
५ जून, १९५८

निवेदन

उर्दू के एक प्रसिद्ध शायर (आजाद) ने प्रकृत कवि की मानसिक अवस्था का वर्णन करते हुए लिखा था—

डूबा हुआ है सर को गरेबां में डाल के,
उडता मगर है खोले हुए पर खयाल के—
जिस तरह बाज लाये कबूतर को मार कर,
यों लाता आसमां से है मजमूं उतार कर।

आसमा से मजमू उतार लाने की क्षमता तो मुझ में नही है, पर यह अवश्य है कि पक्षियो को देखकर मेरे हृदय का घट भी भावो से भर उठता है। दाना चुगता हुआ कपोत का जोडा एक सुखी गार्हस्थ्य जीवन का चित्र आखो के सामने ले आता है, उडते हुए तोते उन विगत दिनो की याद दिलाते है, जब इस देश के हर घर में शुक-सारिकाओ के पिंजरे टगे होते थे। तोतो का एक जमघट देखकर मेरे हृदय में जो भाव उत्पन्न हुए थे, वे उस लेख का आधार है, जिसमें तोतो की एक काल्पनिक सभा का मैंने उल्लेख किया है।

पक्षी हमेशा से मानव-हृदय में भावो का उद्रेक करते आए है। आदिकवि वाल्मीकि के हृदय में काव्य की सृष्टि एक पक्षी के कारण ही तो हुई, जब एक बहेलिये के बाण से क्रौंच का वध देखकर अनायास उनके मुख से अभिशाप के कुछ शब्द अनुष्टुप छन्द में निकल पडे थे। कहते है, कविता का आरम्भ इन्ही दो पक्तियो से हुआ था

मा निषाद प्रतिष्ठां त्वं अगम· शाश्वती समाः
यत्क्रौंच मिथुनादेकं अवधिः काममोहितम्।[1]

प्रस्तुत पुस्तक के सम्बन्ध में एक आवश्यक निवेदन यह है कि अधिकाशत इसका प्रत्येक परिच्छेद एक स्वतन्त्र लेख है। किसी पक्षीविशेष को देखकर जब जो भाव हृदय में जगे, उन्हें मैंने लिपिबद्ध कर लिया। इस पुस्तक के लिखने की मेरी यही प्रणाली रही है। वैज्ञानिक विश्लेषण के साथ-साथ मेरी इन भावनाओ का समावेश ग्रन्थ के

१—"हे निषाद, आने वाले किसी भी युग में तुम्हें प्रतिष्ठा प्राप्त न हो, क्योंकि तुमने काममोहित क्रौंच युगल में से एक का वध कर दिया है!"

विभिन्न स्थलो पर साफ-साफ परिलक्षित है । मित्रो का कहना है कि इससे पुस्तक की रोचकता बढ गई है, पर इस बात की वास्तविक समीक्षा तो विषय के ज्ञाता तथा विज्ञ पाठक ही कर सकेंगे ।

हिन्दी पाठको में पक्षी-जाति के प्रति दिलचस्पी उत्पन्न करना इस पुस्तक का मुख्य ध्येय है । यही कारण है कि इस पुस्तक की लेखन प्रणाली इस विषय की अन्य पुस्तको से कुछ भिन्न है । जिस तरह केवल व्याकरण के द्वारा किसी भाषा के आन्तरिक एव वास्तविक सौन्दर्य का ज्ञान असभव है, उसी प्रकार पक्षी के वैज्ञानिक विश्लेषण मात्र से ही उस का पूरा परिचय नही मिलता इसके लिए उसकी जीवन सम्बन्धी बातो का ज्ञान भी उतना ही जरूरी है । यही कारण है कि पक्षियो के आकार-प्रकार या रहन-सहन के वर्णन तक ही मैंने अपनी इस रचना को सीमित नही रक्खा है । उनके जीवन में जो गहरा रोमास छिपा हुआ है, उस पर प्रकाश डालने की भी चेष्टा की है। रूप-रेखा मात्र का सीमाबद्ध ज्ञान हमे उस अग्रेज की भाति, जो आज से प्राय डेढ सौ वर्ष पूर्व बम्बई में जहाज से उतरते ही एक हाथी को देख कर उसे मच्छर समझ बैठा था, भ्रम में डालने वाला है । मानव-जीवन में पक्षी-जगत जिस तरह घुलमिल गया है, उसका भी भरसक वर्णन मैंने किया है। विभिन्न पक्षियो की सभी जातियो और उपजातियो के सम्बन्ध में न लिख कर मैंने केवल मुख्य उपजातियो का ही उल्लेख किया है । भारतीय जीवन और साहित्य तथा चित्रकला पर उनका जो प्रभाव पडा है, उसकी खास तौर पर चर्चा की है । मतलब यह कि यह पुस्तक न तो भारतीय पक्षियो की सूची है, न सन्दर्भ-ग्रन्थ ही । यह पक्षी-सम्बन्धी मेरे वर्षो के अध्ययन का एक रिकार्ड या सग्रह है । इस पुस्तक से पाठको में यदि पक्षी-जगत के प्रति दिलचस्पी उत्पन्न हुई तो मैं अपने प्रयत्न को सफल समझूगा ।

दरअस्ल पक्षी-ससार का पूरा ज्ञान हमें अभी तक प्राप्त नही हो सका है क्योकि जब-तब हमारे दृष्टि पथ पर ऐसे अनजान पक्षी आ जाया करते है जिनके सम्बन्ध में पक्षी-साहित्य मौन है, मसलन हाल ही मे राची के श्री हिचकौक के बाग में देखा गया वह कौआ, जिसकी रूप-रेखा तो कौए की है पर रग बिल्कुल सफेद है और जो प्रतिदिन अन्य कौओ के साथ-साथ वहा आया करता है (देखिए, "स्टेट्स्मैन" अप्रैल २७, १९५८) । गरज यह कि अभी हमें इस दिशा में बहुत काम करना है ।

आदरणीय श्री जवाहरलाल जी नेहरू का मैं हृदय से आभारी हू कि अत्यन्त कार्य व्यस्त रहते हुए भी उन्होंने इस पुस्तक की प्रस्तावना लिखने का कष्ट किया। वह उन लोगो में है, जो विविध सासारिक झझटो में फसे रह कर भी, प्रकृति से अपना सम्बन्ध-विच्छेद नही करते। पर्वत के हिममडित शिखर, नदी के स्रोत, वृक्ष के फूल, पक्षियो का कलरव उनके हृदय में आदि मानव की भाति ही गुदगुदी पैदा करते है, और उर्दू के किसी शायर के शब्दो में प्रकृति-सुन्दरी से वह यथार्थ भाव से कह सकते है कि—

गो मैं रहा रहीने-सितम हाय रोजगार,
लेकिन तेरे ख़याल से ग़ाफ़िल नहीं रहा।

मै उन मित्रो का भी आभारी हू जिन्होंने चित्रो को उपलब्ध करा कर इस पुस्तक की सजावट में सहयोग प्रदान किया है, खासकर हर हाइनेस महारानी

पटियाला का कतिपय रगीन चित्रो के लिए, क्विलन के श्री टी० एस० ,ाल का 'गल' पक्षियो के चित्रो के लिए तथा मैनापुर के श्री एम० कृष्णन का दाविल एव वगुलो के सुन्दर चित्रो के लिए । कुमारी डाक्टर सीतालाल द्वारा खीचे गए तोते और हसावर के तथा श्री पी० सी० चतुर्वेदी के नारस, लहतोरा, नीलकठ और उल्लू के रगीन चित्रो ने पुस्तक का सौन्दर्य वढाया है, वम्वई की नेचुरल हिस्ट्री सोसाइटी के द्वारा हरे फाखतो की तस्वीर प्राप्त हुई तथा श्री ह्यू म मार्शल की पुस्तक से कुछ अन्य चित्र—इन सवो के लिए मे अपना आभार प्रकट करता हू ।

३२, क्वीन विक्टोरिया रोड,
नई दिल्ली
७ जून, १९५८

—राजश्वरप्रसाद नारायणसिह

विषय-सूची

चित्र-सूची

—o—

पक्षी : विकास और उपयोगिता

सृष्टि का आरम्भ कब और कैसे हुआ, इसका पता आज तक कोई न पा सका, और न स्रष्टा के सम्बन्ध में ही निश्चित रूप से कोई कुछ कह पाया। आदि काल से ही लोग इसके अन्वेषण में लगे रहे है, तरह-तरह की अटकलबाजिया लगाई गई है, पर जैसा कि अकबर साहब ने कहा है कि—

> सदियो से फिलसफे की चुना औ चुनीं रही,
> लेकिन खुदा की बात जहां थी, वहीं रही।

दर्शन शास्त्र के पडित तथा सृष्टि-शास्त्र-वेत्ता इन प्रश्नो का उत्तर, युग-युग की इन समस्याओ का समाधान, ढूढते ही रहे है। बडे-बडे मेधावी जनो का प्रयत्न आज भी जारी है और इसमें सन्देह नही कि इस प्रयत्न में वे एक हद तक सफल भी हुए है। पर निश्चित तथ्य पर वे आज तक भी नही पहुँच पाए है।

ससार परिवर्तनशील है, उसका रूप-परिवर्तन अवश्य होता है, पर वह विनष्ट नही होता। ससार की हर चीज प्रतिक्षण आगे की ओर बढ रही है, उसे लाख कोशिशें करके भी हम न तो रोक सकते है, न पीछे की ओर मोड ही सकते है। नदी-प्रवाह की भाति यह सृष्टि अग्रगामी है।

इसलिए प्राणिशास्त्र के पडितो का यह मत है कि इस ससार के सारे जीव-जन्तुओ की रूप-रेखा में सृष्टि के आदि से ही परिवर्तन होता आया है। जिसे हम आज जिस रूप में देख रहे है, आज से हजारो साल पहले उसका वह रूप न था। तभी तो डार्विन ने यह सिद्धान्त प्रतिपादित किया था कि मनुष्य के पूर्वजो में ऐसे प्राणी थे जो आकृति में एक प्रकार के बन्दर दिखते थे। पर प्राचीन मतावलम्बियो को यह बात पसन्द न आयी थी और महाकवि अकबर ने तो उन्हें खरी-खोटी तक सुना दी थी, लिखा था—

> डार्विन साहब हकीकत से निहायत दूर थे,
> मैं न मानूगा कि मूरिस आपके लगूर थे।

अकबर इस बात को मानें या न माने, पर ससार के वैज्ञानिक इस विचार पर दृढ है कि आज जो चीजें इतनी सुन्दर लग रही है, जो जीव इतने खूबसूरत है, आकर्षक है, वे शुरू में ऐसे न थे।

स्पष्टत पक्षियो के सम्बन्ध में भी उनका यही मत है। जो चिड़ियां आज इतनी सुन्दर लगती है वे आज से हजारो वर्ष पहले कुरूप थी तथा उनके पूर्वज उस जाति के प्राणी थे जिसे देखकर हम आज नाक-भौं सिकोडते है, घृणा करते हैं, अर्थात् वर्तमान (सरीसृप) रेंगने वाले जन्तु, छिपकली आदि। वे दो टागो पर कूद-कूद कर चलते थे, और पखहीन थे, अत उनके उडने का प्रश्न ही न था। उनकी हड्डिया, जिन्होंने मिट्टी के अन्दर दब कर कालान्तर में पत्थर बनी हुई मिट्टी पर अपनी अमिट छाप छोडी है और जिन्हे आज हम "फासिल्स" या ककाल कहते हैं—इसकी साक्षी हैं।

धीरे-धीरे इनके पख उग आए, यद्यपि ऐसा होने में हजारो वर्ष लग गए। भूगर्भ से निकले हुए इनके ककालो से विशेषज्ञो न उन विविध अवस्थाओ का पता लगाया है जिनसे होकर ये गुज़रे थे, पर यहा इन्हे विस्तार से बताना अनावश्यक है।

कुछ पक्षी-शास्त्र-वेत्ताओ का मत है कि पक्षियो के पूर्वज तथा वर्तमान पक्षी के बीच का जन्तु है वह चमगादड, जिसे हम अक्सर पुराने मकानो की छतो पर लटका हुआ देखते है। परो की जगह इसके एक खाल होती है, जो पखो का काम देती है। अनुमान किया जाता
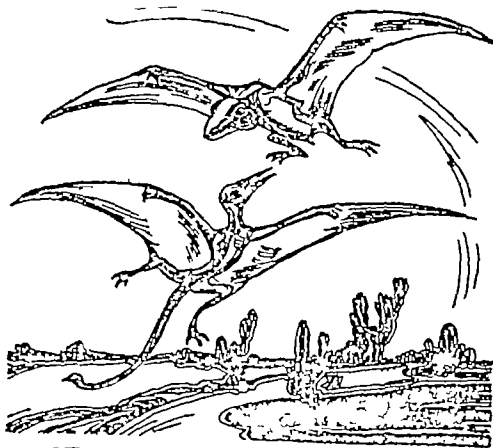
है कि वर्तमान पक्षी के पूर्वजो की भी ऐसी ही खाल थी जो धीरे-धीरे परो में परिवर्तित होती गई। परन्तु इसके सम्बन्ध में निश्चित रूप से कुछ कहना कठिन है। इतना अवश्य है कि उन चन्द ककालो के, जो भू-गर्भ में पाए गए हैं, छिपकलियो की भाति लम्बी पूछ तो है ही, पर भी पाए गए हैं। कइयो का ऐसा ख्याल है कि ये सारी बाते अटकलबाजी की अवस्था में है। यदि मनुष्य के पूर्वज लगूर थे तो सम्भव है पक्षियो के पूर्वज छिपकलिया रही हो, पर इसके सम्बन्ध में दृढतापूर्वक कुछ कहना कठिन है।

ससार में कुल कितनी जाति के पक्षी हैं, यह कहना भी कठिन ही नही, असम्भव है। फिर भी पक्षी-शास्त्र के विशेषज्ञो तथा प्रकृति-निरीक्षको ने मोटे तौर पर जो सूचिया बनाई है उनमे ससार के प्राय सभी प्रमुख पक्षी आ जाते है। पक्षियो की पहचान उनकी बनावट से होती है, पर उससे भी ज्यादा उनकी पोशाक से—उनके परो से होती है। पक्षियो की जितनी जातिया हैं, प्राय उतने ही उनके परो के रग-रूप भी है। ये इन्हे सुन्दरता तो देते ही हैं, जाडे और गर्मी से इनका बचाव भी करते है। चन्द शब्दो में यह कहा जा सकता है कि ये इनके सबसे जबर्दस्त शरीर-रक्षक हैं। पर साथ ही हम यह न भूले कि इनके लिए यह वरदान एक प्रकार से घातक भी है, क्योकि अपनी सुन्दरता के कारण ही काकातुआ को बन्दी बनना पडता है तथा उन परो का सौन्दर्य, जिन्हें यूरोप की रमणिया अपने मस्तक का भूषण बनाती है, "स्वर्ग के पक्षी" (जिसके सम्बन्ध में आप इस पुस्तक मे आगे पढेंगे) के लिए प्राणघातक सिद्ध होता है। फिर भी, किसी पक्षी से

यदि हम उसके सुन्दर परो की याचना करे तो वह साफ शब्दो में हमारी प्रार्थना नामजूर करेगा ; इसमें हमें तिल मात्र भी सन्देह नही है ।

शैशव काल में पक्षियो के पर प्राय सौन्दर्य-रहित रहते है , ज्यो-ज्यो उम्र बढती है, उनका सौन्दर्य निखरता जाता है। "गल" अर्थात् गगाचील आदि समुद्री पक्षियो के बच्चो के पर तो बरसो में अपना वास्तविक रग ग्रहण कर पाते है ।

पक्षी के पर दो किस्म के होते हैं—एक बडे और मोटे तथा शक्तिशाली, जिन्हें पख या डैने भी कहने है , दूसरे छोटे और मुलायम, जो शरीर के ऊपर छाये होते है तथा उनके बदन के भीतरी वस्त्र के समान है। किसी-किसी के पर बडे होते है यथा पेंगुइन नामक पक्षी के, तथा कुछ के पर बाल जैसे मुलायम होते है, मसलन न्यूज़ीलैंड के "किवी" पक्षी के ।

मनुष्य जैसे वस्त्र बदलता है, वैसे ही पक्षी अपने पर बदलते रहते है , पुराने पर झडते है, नए उगते है । यह क्रिया प्रति वर्ष एक या दो बार होती है और सारी उम्र चलती रहती है ।

प्रकृति ने बहुतेरे ऐसे पक्षियो को, जो जमीन पर रहते है और जमीन पर ही अडे देते हैं, मटमैला रग देकर उनकी रक्षा की व्यवस्था कर दी है । तीतर, बटेर आदि का रग मटमैला होता है क्योकि वे जमीन पर रहते है ; रेत में रहने वाली कुररी का रग रेत जैसा—रेतीला होता है ताकि ये पक्षी जमीन के रग से ऐसे मिल जायें कि दुश्मनो की निगाह से बचे रहे।

दुम और डैने पक्षियो के बडे आवश्यक अग है । दुम उड़ते पक्षी के लिए एक प्रकार की पतवार है, साथ ही ब्रेक या रुकावट भी । रफ्तार रोकते समय वह दुम की सहायता लेता है।

डैनो के द्वारा वह उड़ता है, पर यह समझना कि वह पख मार-मार कर आगे बढ़ता है, भ्रम है। वह उन्हे आगे-पीछे, गोलाकार घुमा-घुमा कर हवा में तैरता है ।

पक्षियो की चोच की बनावट उसके आहार तथा खाने की रीति को प्रदर्शित करती है। चोच से ही हम समझ सकते है कि वह अपने खाद्य-पदार्थ को लहटोरा की तरह नोच-नोच कर खाता है या गौरैये की भाति दाना चुगा करता है। कुररी आदि कुछ पक्षी मत्स्य-भक्षी भी है ।

पक्षियो के पैर की बनावट भी उनके रहने की जगह के अनुसार ही होती है। पानी में रहने वाली बतखो के पैर ऐसे होते है जो उसके तैरने में सहायक हो । उनकी उगलियाँ आपस में एक झिल्ली से जुडी रहती है। पेड़ पर रहने वाले पक्षियो का पिछला अगूठा मजबूत होता है ताकि वे नीद में भी डालो से गिरे नही , शिकारी पक्षियो के पजे फौलादी होते है जिससे वह शिकार को मजबूती से पकड सके । गरज यह कि प्रकृति ने आवास-स्थल तथा प्रयोजन के अनुसार ही इनके अगो की सृष्टि की है ।

चिडियो के आहार भी भिन्न-भिन्न है। कुछ ऐसी चिडिया है जो दाना चुग-चुग कर पेट भरती है (गौरैया आदि) , कुछ ककड-पत्थरो के बीच खाद्यान्न चुन-चुन कर (कपोत, फाखता आदि) , कुछ केवल फल खाकर (हारिल, तोते) , कुछ फल और छोटे कीडों से (कोयल आदि); कुछ कीट-पतगो से (भुजगा वगैरह), कुछ गोश्त, रोटी आदि मानव-भोज्य पदार्थों से (कौआ); कुछ मास से (गृद्ध, गरुड, चील, उल्लू); कुछ मछलियो से (बगुले, कौडिल्ले आदि); तथा कुछ फूलो के रस से (शकरखोरा आदि) ।

चिड़ियों के दुश्मनो में मनुष्य तो है ही, स्वय पक्षी भी एक दूसरे के प्रवल दुश्मन है। इनमें बाज़ मशहूर है, जिसके प्रति किसी कवि की यह उक्ति है—

हसि खगानन्यानहो सुकृतस्वार्थो नैव,
खगपलाश परहस्तगत कुरु न श्रम वृथैव।

फूल और पक्षी से यदि पृथ्वी विहीन होती तो शायद ससार में साहित्य और सगीत का जन्म ही न होता। हमारा जीवन सूखा-सूखा सा लगता, प्रकृति निर्जीव सी लगती। पक्षियो का मधुर सगीत तथा रूप-सौन्दर्य सासारिक जीवन से ऊबे हुए मन के लिए "टानिक" का काम करते है, पर इसके सिवाय भी हमारे लिए इनकी बडी उपयोगिताए है जिनके लिए मानव समाज को पक्षी-जाति के प्रति आभारी होना चाहिए। अब देखिए इनकी उपयोगिताए क्या क्या है

(१) मनुष्य ने बडे-बडे दुश्मनो पर विजय पाई है। कराल हाथी, भयकर सिंह और बाघ, विषैले सरीसृप—इन सभी जीव-जन्तुओ को उसने अपने काबू में कर लिया है, पर छोटे-छोटे कीडो से वह आज तक नही जीत पाया है। एक बार टिड्डियो का दल आता है और सारी फसल को नष्ट कर डालता है। हम टिड्डियो के एक दल को भले ही मार डाले पर उनका वश अनन्त है और हम उससे हमेशा के लिए त्राण नही पा सकते। यही हाल अन्य कीडो का भी है। जिस प्रकार उनकी वश-वृद्धि होती है वह यदि वेरोक-टोक होती रहे तो शायद सारी पृथ्वी पर कुछ दिनो में सिवा कीडो के और कुछ न रह जाए। उदाहरण के लिए आलू के उस एक कीडे को लीजिए जो 'आलू-कीट' के नाम से विख्यात है। वैज्ञानिको का कहना है कि यदि इस कीडे का एक जोडा बिना किसी रुकावट के सन्तानोत्पत्ति कर पाये तो केवल एक ऋतु में ६०,०००,००० कीडे उत्पन्न कर सकता है। यही हाल और कीडो का भी है। ये कीडे क्या नही कर सकते! प्लेग जैसे घातक रोग का विस्तार, फसल की अपार क्षति, वनस्पतियो का सहार, इनके द्वारा यह सभी कुछ सम्भव है। पक्षी जो हमारा सबसे बडा उपकार करते है वह यह है कि इन कीड़ो को खा-खाकर इनकी अनियन्त्रित वश-वृद्धि को रोकते रहते है।

अपने बाग में आप पक्षियो को बिल्कुल न आने दें, फिर देखें, कुछ ही दिनो में आपके फूलो की क्या दशा होती है और आपके फल किस अवस्था को पहुँचते है। कृमियो आदि की बाढ से आपके बाग का सहार अवश्यम्भावी है।

(२) कीडो को ही नही बल्कि, छिपकली, चूहे, मेंढक आदि नुकसानदेह जीव-जन्तुओ की वृद्धि को भी पक्षी रोकते है। यदि ये ऐसा न करे तो यह पृथ्वी इन जन्तुओ से ही भर जाए। एक चूहे को ही लीजिए। कहते है कि चूहे का एक जोडा पाच वर्षों में ६४०,३६६,६६६,१५२ चूहे पैदा कर सकता है। पर ऐसा नही हो पाता क्योकि हमारी आखें बचाकर उल्लू आदि मासाहारी पक्षी बगैर शोर मचाये, बगैर वाहवाही लिये, रात के गहन अधकार मे इनका सहार किया करते है।

(३) चील, कौवे, आदि कुछ पक्षियो से सफाई का काम भी चलता रहता है। मवेशियो के शव तथा विभिन्न गन्दी चीजें, जो हमारे गावो के आस पास पडी रहती है तथा जिनसे बीमारी फैलने का भय रहता है, इनके द्वारा नष्ट होती रहती है। क्या यह उपकार थोड़ा है?

(४) पक्षियो से केवल सहार का ही काम सम्पन्न नही होता, सृजन के काम में भी ये सहायक है। फुलचुही, शकरखोरा आदि पक्षी एक फूल का पराग दूसरे में डाल-डाल कर नई-नई किस्में पैदा करते है और इस तरह इनकी वजह से सैकडो नए प्रकार के फूल और फल पैदा हुए है, हो रहे है, और होते रहेगे। इनकी चोच, जिसमें फूलो का रस और पराग लगा होता है, विभिन्न पुष्पो का स्पर्श करके इस सृजन-क्रिया को सम्पन्न करती है, नर पौवे का पराग मादा पौधो के पास पहुचा-पहुचा कर वलिष्ठ पौधों के जनन में सहायक होती है। कहते है, इन मधुपायी पक्षियो के कारण सेमल वृक्ष के वश को अपार लाभ हुआ है और इस तरह भारतवर्ष के दियासलाई के व्यवसाय को भी, क्योकि दियासलाई में सेमल की लकडी का ही उपयोग होता है।

वसन्त काल में सेमल पर रस से भरे लाल-लाल फूल खिल आते है तो उन पर रसपायी पक्षियो का एक हुजूम-सा लग जाता है, दिनरात लगा रहता है। एक वार इन पक्षियो की जाति-गणना की गई तो कुल ६० जाति की चिडिया सेमल वृक्ष पर रस-पान करती हुई पाई गई ।

(५) यही नही, इन पक्षियो के द्वारा फलो की किस्म में भी इज़ाफ़ा होता रहा है, और फल वृक्षो के प्रसार मे भी। देखिए यह किस तरह होता है।

पक्षी फल खाता है। उसके वीज उसके पेट से होकर उसकी वीट के साथ वाहर निकलते है तथा मिट्टी के सम्पर्क में आकर अकुरित होते है। कुछ दिनो में ये वृक्ष वन जाते है। प्रकृति की विचित्र लीला है कि पक्षियो के उदर से होकर गुजरने वाले वीजो से उत्पन्न वृक्ष अधिक हृष्ट-पुष्ट होते है। ये वीज सावारण ढग से वोये गए वीजो की अपेक्षा कही अधिक सुगमता से उपजते भी है। उदाहरण के लिए वट या अश्वत्थ को लीजिए। यदि आप इसके वीज वोयें तो वड़ी देर से उगेंगे—सम्भव है कि न भी उगें, पर वे ही यदि कौए के पेट से होकर गुजरते है, उसकी वीट के साथ-साथ वाहर होते है ता धरती के सम्पर्क में आते ही जल्दी और आसानी से अकुरित हो जाते है। इस तरह के दर्जनो पौवे मकान की दीवार तथा छतो पर, जहा मिट्टी का थोडा भी सम्पर्क रहता है, उपजते रहते है।

यही हाल अमरूद का भी है। पक्षी के उदर से होकर गुजरे हुए वीज-वृक्ष के फल कलमी वृक्षो की अपेक्षा कही अधिक मीठे, सुस्वादु तथा वडे होते है।

इसी तरह जव किसी वृक्ष के फल खा-खाकर पक्षी पर्यटनशील रहते है तो एक देश या प्रान्त के फल-वृक्षो की उत्पत्ति दूसरे देशो में होती है। पक्षी-जाति की यह भी एक अमूल्य देन है।

(६) कुछ पक्षी, जिन्हे हम 'शिकार के पक्षी' कहते है, भोजन के काम भी आते हैं। मुर्गी, तीतर, वटेर और जल की वतखें आदि प्रसिद्ध भक्ष्य पक्षियो में है। मासाहारियो के लिए ये सुस्वादु तो है ही, आयुर्वेद के कथनानुसार कई रोगो में वडे लाभदायक भी है।

(७) पक्षियो के पर—सुरखाव के पर आदि—नारी-समाज के शृगार के सावन है, उनको सौन्दर्यवृद्धि में सहायक है। पुरुष भी किसी-किसी देश में इन्हे सर पर धारण किया करते है।

(८) पक्षियो की वीट खाद के काम में भी आती है। कवूतरो की वीट खास

तौर पर इस काम के लिए बड़ी उपयोगी मानी गई है और काफी तादाद में प्राप्य भी है। 'वायलट' आदि मौसमी फूलो के लिए तो यह अमृत के समान है।

'(६) सन्देश-वाहक का काम भी ये पक्षी बड़ी निपुणता से करते आए है। प्राचीन काल की बाते जाने दीजिए, जब हस दमयन्ती का सन्देश-वाहक बना था या हीरामन तोता राजकुमारी का। आधुनिक समय में भी कपोत सन्देश-वाहक का काम जिस खूबी से करते है यह सर्वविदित है। खास कर लडाई के दिनो में कबूतर बड़े काम के साबित हुए है। तभी तो अकबर ने ऐसे २०,००० कबूतर पाल रखे थे। श्री जोश मलसियानी के इस शेर में कबूतर के इस इस्तेमाल की ओर ही इशारा है—

हाय, लाया भी तो क्या लाया मेरे खत का जवाब,
बालो-पर नुचवा के आ बैठा कबूतर सामने।

तात्पर्य यह है कि पक्षी-समाज अनेक प्रकार से हमारे लिए लाभदायक सिद्ध हुआ है। यह सही है कि यह फसल का दुश्मन भी है, पर इसकी एक बुराई इसकी भलाइयो में उसी प्रकार छिप जाती है जैसे चाद में उसकी कलक-कालिमा—

एकोहि दोषो गुण सन्निपाते,
निमज्जितीन्दोः किरणेष्विवाक।

पक्षियो के सम्बन्ध मे एक महत्वपूर्ण प्रश्न उनकी पूर्णायु का है। किस पक्षी की आयु कितनी है, यह कहना कठिन है। इसका वास्तविक पता पाना कठिन तो है, पर जब से पक्षियो को पैर में छल्ला पहनाने की प्रणाली चल पड़ी है तब से यह कुछ आसान-सा हो गया है। इन छल्लो की मदद से साधारण तौर पर यह पाया गया है कि बड़े पक्षियो की आयु अधिक होती है, छोटो की कम। यह भी मालूम हुआ है कि जगल में रहने वाले पक्षियो की अपेक्षा पालतू पक्षी ज्यादा दिन तक जीवित रहते है।

विलायत के एक पक्षी-विशेषज्ञ के अनुसन्धान का नतीजा, चार पक्षियो के सम्बन्ध में, इस प्रकार है

जाति	पूर्णायु (पालतू अवस्था में)	पूर्णायु (जगली अवस्था में)	औसत आयु (जगली अवस्था में)
कस्तूरा	१७ वर्ष	९ वर्ष	१½ वर्ष
कस्तूरी	२० वर्ष	१० वर्ष	१¾ वर्ष
विदेशी मैना	१५ वर्ष	९ वर्ष	१½ वर्ष
दहगल	२० वर्ष	११ वर्ष	१-१½ वर्ष

गरज यह कि जहा छोटी चिड़िया जगलो मे औसतन १½ वर्ष से अधिक नही जीती, वहा बड़े पक्षी स्पष्टत ज्यादा दिनो तक जिन्दा रहते है, जैसे कि उल्लू, जिनकी जगली अवस्था में औसतन आयु पाच साल की होती है या गरुड, जो कि औसतन चार साल तक जीते है।
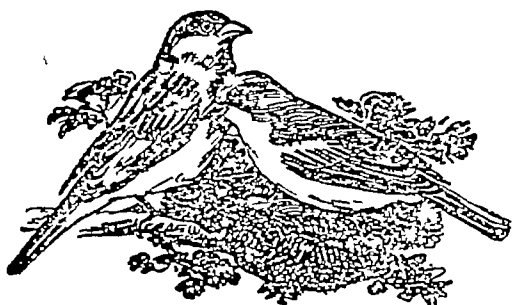
पक्षियों का जीवन

वन-उपवन की तरु-शाखाओ, समुद्र, नदी, तालाव के जल या कूलो पर, घोर जगल और पहाडो के वीच या कि हमारे घरो के कार्निस पर अथवा पुराने मकानो की सूराख में रहने वाले, सुदूर व्योम में उडन वाले या गृह-प्रागण में विचरण करने वाले पक्षियो के जीवन में भी एक अद्भुत रोमास भरा हुआ है जिसकी मिसाल सिवाय मानव-जीवन के किसी और जीव-जन्तु के जीवन में पाना मुश्किल ही नही, असम्भव है।

इनके रोमानी जीवन का आरभ तभी होता है जव कि अडे के भीतर इनमें जीवन-शक्ति का सचार हो आता है तथा अडे की कैद से वाहर निकलने को ये व्याकुल हो उठते है। यदि आप वडे पक्षियो के अडे पर, जव कि उसके फूटने का समय निकट आ जाता है, कान रखें तो आप ठहर-ठहर कर एक ध्वनि सुनेंगे तथा अडे को हिलता हुआ पायेंगे। ये उस उद्योग के परिचायक है जो अडे के भीतर विहग-शिशु वाहर आने के लिये कर रहा है ; मानो वह अडे रूपी कैदखाने के द्वार पर उसे तोडने के लिये चोट-पर-चोट दे रहा है ।

अत में उसका परिश्रम सफल होता है तथा अडे के वीचो-वीच अथवा अन्य किसी चौडे स्थल पर जाति भेद के अनुसार एक दरार हो जाती है और कैदी वाहर निकलता है। उस समय तक वह एक तरल पदार्थ से भीगा हुआ-सा रहता है जो हवा के लगने से शीघ्र ही सूख जाता है। मुर्गी, तीतर, शुतुरमुर्ग आदि के वच्चे तो निकलते ही दौडना शुरू कर देते है, पर तोता, फाखता, कौए के शिशु कई दिन तक आख नही खोल पाते, वे एक निरीह-सी अवस्था में पडे रहते है तथा हफ्तो तक घोंसले में ही अपने शैशव के दिन विताते है। आश्चर्य है कि उन पक्षियो के वच्चे, जो तीक्ष्ण वुद्धि के लिए विख्यात है, प्रारम्भ में असहायावस्था में रहते है, पर मन्द वुद्धि वालो के वच्चे अडे से वाहर होते ही चलना-फिरना और उड़ना तक शुरू कर देते है। यह भी प्रकृति की एक विचित्र लीला है।

महाकवि विद्यापति ने कहा है—

समय पाय तरुवर फर रे
कतवो सिचु नीर ।

—समय आने पर ही तरुवर फलते है, चाहे उनमें कितना भी जल डाला जाए। पक्षियो का भी यही हाल है। प्रजनन-काल आने पर ही वे जोडा वाधते है, अडे देते है, लाख

कोशिश करके भी हम उनसे असमय में अडे नही दिलवा सकते।

जब अडा देने का समय आता है तो मादा के अडाशय में अडा आकार लेने लगता है। फिर वह जोडा बाधती है और तब इन अडो के भीतर अडाशय की नाली में नर के द्वारा उर्वरत्व स्थापित होता है। जिन पदार्थों से मास-पिण्ड वनता है या परो की सृष्टि होती है वे विकसित होते है तथा धीरे-धीरे बढने लगते है। फिर उपयुक्त समय पर मादा अडे देना शुरू कर देती है। अडो की निश्चित सख्या पूरी होने पर उनका सेना शुरू होता है। हर एक पक्षी के अडो की एक निश्चित सख्या होती है। जब तक वह पूरी नही हो जाती है, वह अडा देना समाप्त नही करती। बीच मे यदि पारे हुए अडे को आप हटा डालें तो वह पुन अडा देकर निश्चित सख्या पूरी करेगी। मसलन, यदि किसी चिडिया के पाच अडे हुआ करते है पर आप उसके अडो को हटाते जाए तो वह तब तक अडे देती ही जाएगी जब तक उसे सन्तोष न हो जाए कि अडो की निश्चित सख्या पूरी हो गई है, भले ही इस उद्योग में उसे पाच के बदले बीस अडे तक देने पड जाए। फिर भी उसके अडाशय के भीतर कुछ अडे बच ही जाते है जो अन्तत शरीर में ही मिल जाते है, उसमें ही सूख जाते है।

जब बाकायदा अडो का सेना प्रारम्भ होता है तो अडो के पारने का द्वार अवरुद्ध-सा हो जाता है। किसी-किसी पक्षी के सम्बन्ध में यह पाया गया है कि वह बीच में, अर्थात् अतिम अडा पारने के पहले सेना आरम्भ कर देता है, पर ऐसा कम होता है तथा बाद के अडो की सख्या अधिक नही हो पाती।

अडा सेने के दिनो में मादा का ध्यान इस काम में कुछ ऐसा लग जाता है, उसमें ऐसी एकाग्रता उत्पन्न हो जाती है, कि यदि आप उसके अडो को हटा कर कोई दूसरी वस्तु जैसे पत्थर के टुकडे, रोडे इत्यादि भी रख दें तो वह बगैर देखे-सुने उन पर बैठकर उन्हे सेती रहेगी। यही नही, उसके वक्षस्थल पर एक या उससे अधिक ऐसे स्थान निकल आएगे जहा के पर गिर पडेंगे ताकि त्वचा से अडो का सीधा सम्पर्क बना रहे और वे शरीर की गर्मी से लाभ उठा सकें और वृद्धि पाए। शरीर के पर-रहित स्थान का तापमान अन्य स्थलो से अधिक होता है, क्योकि परो के अभाव से तथा रगड से वहा रक्त अधिक मात्रा में जमा रहता है।

बहुधा ऐसा देखा गया है कि अडो के खराब या निर्जीव हो जाने पर भी मादा एक लम्बे अर्से तक उन्हे सेती रहती है। उपयुक्त समय पर अडे के भीतर एक खलबली उत्पन्न होती है तथा अडे के भीतर से बाहर निकलने के लिए विहग-शिशु व्याकुल हो उठता है, जिसकी चर्चा उपर्युक्त पक्तियो में की जा चुकी है।

अब प्रश्न यह उठता है कि उपर्युक्त सारे काम बुद्धि के द्वारा होते है, मनुष्य की भाति, अथवा अन्तस् की प्रेरणा से? ध्यानपूर्वक देखने से ऐसा लगता है कि ये काम बुद्धि से नही, अन्तर्प्रेरणा के द्वारा ही सचालित होते हैं। यदि ये बुद्धि के द्वारा सोच-विचार कर किये जाते तो इनमें भिन्नता होती, पर यथार्थ में ऐसा पाया जाता है कि यदि सौ अथवा हजार पक्षी भी किसी ऐसे काम को करते है तो उनकी कार्य-विधि में एक अजीब समानता होती है। इसके ठीक विपरीत बुद्धि के द्वारा किये गये काम कभी एक-सा नही होते, 'मुण्डे मुण्डे मतिर्भिन्न' के सिद्धान्त पर दस-बीस-पचीस की बात तो दरकिनार, दो प्राणी भी कभी ऐसा काम न करेंगे जिसमें भिन्नता न हो—जो हूबहू एक-स हों।

बुद्धि तथा अन्तस्स्फूर्ति के द्वारा प्रेरित कामो के बीच यह एक बहुत बडा फर्क है।

बहुधा ऐसा देखा गया है कि जब अडे के भीतर से पक्षी बाहर निकलने की कोशिश करता रहता है, उसके मा-बाप काफी सतर्क रहते है, किसी खतरे की आशका प्रतीत होते ही वे एक खास तरह की आवाज़ करते है जिसे सुनते ही वह शात हो जाता है ; खतरा मिट जाने पर, मादा एक भिन्न प्रकार की आवाज़ करती है और वह पूर्ववत् बन्दी-गृह के द्वार पर चोट देना, प्रहार करना, आरम्भ कर देता है। आखिर इस आवाज या खतरे की घन्टी के समझने की क्षमता, सिवाय अन्तर्प्रेरणा या सहजज्ञान के, उसे कहा से मिलती है ? किसी ने ठीक ही कहा है—

जाके कुल की जौन है, ताके कुल की तौन,
बाज-बाघ के बाचवा, पकडि सिखावत कौन ?

प्रकृति इन्हे अन्तर्प्रेरणा दे कर इनकी जीवन-रक्षा का प्रबन्ध करती है। यही नही, वह और सूरतें भी प्रदान करती है, जैसे कि जमीन, जगल की झाडी अथवा नदी के तट पर निवास करने वाले पक्षी के शरीर का रग ऐसा बनाती है कि वह मिट्टी से मिलता-जुलता सा हो, जल्दी पहचाना न जाए और इस प्रकार अपने दुश्मनो की कुटिल दृष्टि से वह बचा रहे।

खतरे की जिस सूचना की चर्चा ऊपर की गयी है उसे नर या मादा अपने बच्चो को एक खास आवाज़ के द्वारा देती है तथा वे उसे सुन कर ऐसा बरतते है मानो उनकी शिक्षा-दीक्षा किसी शिक्षालय में हुई हो। मसलन, यदि कोई तीतर अपने बच्चो के साथ जा रहा हो और हम उसके रास्ते में आ जायें तो वह फौरन एक आवाज़ करके स्वय झाडियो में जा छिपेगा। बच्चे सज्ञाशून्य-से होकर खडे हो जायेंगे—मानो मिट्टी अथवा पत्थर के निर्जीव टुकडे हो—तथा उसी मुद्रा में तब तक खडे रहेंगे जब तक कि हम वहा से गायब न हो जाए। खतरे के हटते ही वह तीतर, जो स्वय झाडी के भीतर से सारे दृश्य को देख रहा होगा, पुन बच्चो से आ मिलेगा और फिर वे साथ-साथ आगे की ओर बढेंगे।

गरज़ यह कि जो काम हम अन्तस्स्फूर्ति के साथ-साथ बुद्धि के द्वारा भी करते है, तथा जिसे पूरा करने में हम कभी-कभी चूक भी जाते हैं, उसे ये पक्षी बडी खूबी के साथ अपनी अन्तस्स्फूर्ति की सहायता से सम्पन्न कर लेते है।

पक्षियो के नवजात शिशु अपने सहजज्ञान के द्वारा अपनी जीवन-यात्रा के प्रारम्भिक दिन व्यतीत करते है। फिर आते है उनकी शिक्षा-दीक्षा के दिन, जो उन्हें अपने मा-बाप के द्वारा प्राप्त होती है। आपने बहुधा अपने बाग में देखा होगा कि घोसले से तुरत के निकले हुये बच्चो को उनके माता-पिता अपनी चोच से सहायता करके या स्वय उनके सामने पख फडफडाकर, उड कर, उडना दिखा-दिखा कर उन्हे उडने की शिक्षा देते है, कभी-कभी उडने में उन्हे दैहिक सहायता दे कर बल-प्रदान भी करते है। कभी-कभी प्रलोभन भी देते ह। वे मुह में खाने की कोई स्वादिष्ट वस्तु रख लेते है और उसे बच्चो को दिखा कर उडने लगते है। बच्चे स्वभावत उसके लोभ में पीछे-पीछे उडने की चेष्टा करते है—और इस तरह उडना सीख लेते है। बच्चो में कुछ ऐसे भी होते है जो जल्दी उडना नही चाहते, उन्हे ये बलपूर्वक घोसले के बाहर निकाल देते है ताकि वे विवश होकर उडने का अभ्यास करे। बाज़ तथा गरुड खास तौर पर बच्चो के बडे होने पर चोच मार-मार कर उन्हें घर से निकाल देते है और उन्हे जीवन यात्रा में एक प्रकार से अपने पैरो

पर खडा होने को विवश करते है । इसके सम्बन्ध में एक चश्मदीद गवाह "ए बर्ड फोटोग्राफर इन इडिया" नामक पुस्तक के लेखक का बयान सुनिये—

"मै जिस घोसले की बात कर रहा हू उसके भीतर के विहग-शिशुओ के पर निकल आये थे और अब वे चद घटो के भीतर ही बाहर निकलने वाले थे । मुझे देर तक प्रतीक्षा न करनी पडी । घोसले के वयस्क पक्षियो में से एक का चित्र जब मै उतार चुका तो मैने देखा कि मा-बाप में से कोई भी बच्चो को दाना खिलाना नही चाह रहा है, बल्कि वे मुह में दाना रखकर सामने के नीम-वृक्ष की एक डाल पर बैठे हुए तरह-तरह की बोलिया बोल रहे है मानो उन्हे प्रथम बार पख-प्रयोग के लिए फुसला रहे है । प्राय आध घटे के बाद घोसले के भीतर से एक शिशु बाहर निकला पर पुन अन्दर घुस गया । तीन-चार बार ऐसा करके उसने इस नये प्रयास में कूद पडने का निश्चय कर लिया—तथा अन्त में अपने मा-बाप के पास पहुचने में समर्थ हो सका । उसके माता-पिता की उत्तेजित आवाज से यह साफ परिलक्षित था कि जब वह ऐसा कर रहा था, अर्थात् उडने के प्रयास में था, वे आशका-चिन्ता से परिपूर्ण हो रहे थे । उद्योग में सफल होने पर उन्होने इसे दुगना दाना खाने को दिया तथा इसे लेकर वे एक दूसरी डाल पर चले गये ।"

मुह में दाना रख कर मा-बाप बच्चो को किस तरह दूर से उडने के लिये प्रोत्साहित या विवश करते है, उन्हे प्रलोभन देते है और उनके साहस पर उन्हे पुरस्कृत करते है, इसका यह अत्यन्त रोचक, आखो देखा, वृत्तान्त है ।

पक्षी 'परोपदेशे पाडित्य' के सिद्धान्त पर नही चलते, बच्चो को अपने आचरण के द्वारा ही शिक्षा देते है, जो कहते है वह स्वय कर दिखलाते है । पानी में तैर कर तैरने का तरीका बताते है, बडे कीडो को मुह से दूर कर या उनसे अलग रह कर तथा छोटो को खा कर उन्हें यह सिखाते है कि उनका आहार बडे कीडे नही, छोटे कीडे है ।

मतलब यह कि अन्तस्स्फूर्ति तथा मा-बाप की व्यावहारिक शिक्षा के द्वारा पक्षी-समाज के शिशु अपना शैशव-काल समाप्त कर इस योग्य बनते है कि वे अपनी बुद्धि का प्रयोग कर सके । शिक्षक की आवश्यकता हर एक को, हर हालत में, होती है, 'गुरु बिनु कौन दिखावे बाट'—इसी तथ्य की ओर सकेत करता है ।

पर यह तब की बाते है जब वे अडे के अन्धकार से निकलकर भासमान सूर्य की ज्योति में प्रथम-प्रथम विचरण करना आरम्भ करते है । इसके पूर्व जब वे अडा रूपी जेल के भीतर कैद रहते है, उनके मा-बाप बडी तत्परता से अडे सेकर, अपने पखो से उसे गर्म रख कर, उनकी रक्षा करते है । अडा सेने का काम अधिकतर मादा के हिस्से में ही पडता है, पर नर भी, खास कर उन पक्षियो के, जिनकी बौद्धिक शक्ति का विकास अधिक नहीं हुआ है, उसके इस काम में हिस्सा बटाते है, यदा-कदा अडे सेकर उसे अवकाश देते है कि वह घोसले से बाहर निकल कर कुछ दाने चुगे, स्वच्छ वायु का सेवन करे तथा अपने पाव सीधे कर ले ।

तीक्ष्ण बुद्धि वाले पक्षियो की प्रणाली इनसे कुछ भिन्न है । इनमें अडा सेने का काम मादा ही करती है, नर उसके लिए तरह-तरह का खाना जुटाता है, उसकी सुरक्षा के सारे प्रबन्ध करता है, किसी खतरे के उपस्थित होने पर उसे सतर्क करता है, किसी बाहरी पक्षी के आने पर उससे लडने को तैयार रहता है, मादा के मन-बहलाव के लिए तरह-तरह से गाता है, नाचता है, उसके आराम तथा प्रसन्नता के सारे सामान

जुटाता रहता है। मानव-जाति में कितने ऐसे पति है जो अपनी गर्भवती पत्नी के लिए इसका अल्पांश भी करते है?

सूर्य की अन्तिम किरणें जब धीरे-धीरे क्षीण हो चलती है तथा आती हुई सन्ध्या के पावों के नूपुर चरागाह से लौटती हुई गउओं के गले की क्षुद्र घटिकायें बन कर बज उठते है तो मादा—जो सारा दिन अंडे सेती रही है—नीड से निकल कर बाहर आती है, दो-चार बार पंख फड़फड़ा कर थकान मिटाती है, शीघ्रतापूर्वक कुछ आहार ग्रहण करती है और फिर अपने बसेरे को लौट जाती है। पर कभी-कभी ऐसा भी होता है कि वह बाहर के प्राकृतिक सौन्दर्य पर मोहित होकर इधर-उधर उड़ना शुरू कर देती है, कभी इस वृक्ष पर कभी उस पर जा-जाकर दिन भर के थके हुए अपने मन को ताजा करने की कोशिश करती है, उड़कर नीड (बसेरे) से दूर जा बैठती है, तो नर फौरन उसके पास जाकर उससे अनुनय-विनय करने लगता है कि वह घोंसले को लौट चले। मादा बसेरे को लौटती है पर सैर-सपाटे की उसकी प्रबल आकांक्षा उसे पुन उड़ा ले चलती है, नर भी उसके साथ हो लेता है और तरह-तरह से इस बात की कोशिश करता है कि वह शीघ्रातिशीघ्र बसेरे को लौटे।

अन्त में वन-विहारिणी, स्वेच्छाचारिणी, प्रकृति-सौन्दर्य-मुग्धा मादा विवश होकर अपने घर को लौटती है। श्री हडसन ने अपनी पुस्तक में ऐसे ही एक दृश्य का वर्णन इस प्रकार किया है—

"यह भी एक अत्यन्त रोचक दृश्य था—मादा का बसेरे से दूर भागना, नर का जोरो से उसका पीछा करना, और फिर बड़ी कोशिशो के बाद उसका घर लौटना, पर पुनः सहसा उसका गृह-द्वार से उड खड़ा होना, और तब व्योममंडल में नर का मादा को पकड़ने का उन्मत्त प्रयत्न! एक बार मादा को प्रसूति-गृह में लाने के लिए नर को पूरे चार बार अथक प्रयत्न करते हुए मैंने देखा था। चौथी कोशिश के बाद मादा ने अंडो पर बैठना स्वीकार किया—और तब उसका पति सैर-सपाटे को बाहर निकल चला।"

मादा का घोंसले से बार-बार दूर भागना—नीड प्रवेश की उसकी अनिच्छा—जिसका श्री हडसन ने उल्लेख किया है, एक प्रकार से स्वाभाविक भी है। चूंकि उसे वन-उपवन की खुली हुई जगहें त्याग कर हफ्तो घोंसले के भीतर बैठना पड़ता है, अत यदि इस जीवन से उसका जी ऊबता है तो इसमें आश्चर्य ही क्या? किसी किसी पक्षी को तो महीनो अंडे सेते बीतते है। मुर्गी को अंडा सेने में तीन सप्ताह लगते है, तीतर को चार, हंस को पांच तथा कैन्डर नामक पक्षी को पूरे दो महीने।

मनुष्यो में बहुत से ऐसे लोग होते है जिनकी पुत्रैषणा बड़ी प्रबल होती है और इस की पूर्ति के लिए वे शादी पर शादी करते जाते है। पक्षियो में भी कुछ ऐसे है जिनका यही हाल है। यह उनकी अंडा सेने की उत्कट आकांक्षा से स्पष्ट परिलक्षित है। कबूतरो में आपने देखा होगा, नर बड़े चाव से अंडे सेता है यही नही, बल्कि मादा को हटा कर अंडो पर बैठता है। नर स्वयं अंडे नही दे सकता, अतएव वह किसी तरह मादा को रिझा कर जोड़ा बांध लेता है, मादा से अंडे दिलवा लेता है और फिर उसके बाद उसके सेने तथा शिशु-पालन की सारी क्रियाएं स्वयं बड़े चाव से सम्पन्न करता है। इसी तरह का एक दूसरा पक्षी ऑक है जो लैपलैण्ड में पाया जाता है। इस जाति के पक्षियो में नर की संख्या अधिक है, मादा की कम, अत सभी नर जोड़ा बांधने में सफल नही हो

पाते हैं। पर उनकी अडा सेने की—सन्तानपालन की—अभिलाषा दिल से नही जाती।

अप्रैल के आस-पास इस जाति के पक्षी समुद्र से उडकर निकटवर्ती एक खास टापू में, जहा साल-दर-साल ये अडे दिया करते है, आ जाते है। फिर जोडा बाधने की क्रिया शुरू होती है। इनमें नर अधिक होते है मादा कम। अत कुछ अविवाहित ही रह जाते है। पर ये अपना शौक विवाहित औक दम्पति के साथ-साथ रह कर किसी तरह पूरा करते है। नर-मादा जब एक दूसरे के प्रति प्रेम-प्रदर्शन करते रहते है—चोच से चोच मिलाते है, गाते है—तो अविवाहित औक उनके पास खडा इसे देखता रहता है—नेत्र-सुख से ही सतोष प्राप्त करता है। यही नही, किसी एक औक-दम्पति के परिवार का मित्र बनकर उनके प्रसूति-स्थान पर खडा रह कर नर के साथ-साथ पहरा देता है और जब वे दोनो कुछ काल के लिये समुद्र तट की सैर को चल देते है तो उनके अडो पर बैठकर अडा सेन की अपनी इच्छा पूरी करता है। इसके ठीक विपरीत कुछ पक्षी ऐसे भी है जो अडो को स्वय न सेकर दूसरो से सेवाते है। कोयल, पपीहा आदि इनमें मुख्य है जो चोरी से अपने अडे कौए, सतभइए आदि के घोसलो में रख आते है और उन्हें बेवकूफ बनाकर उन से धात्री का काम लेते है। ये किस धूर्तता के साथ इस काम को करते है, यह इस पुस्तक में अन्यत्र दिये गये उनके जीवन-वृत्तान्तो से ज्ञात होगा। तीसरी प्रकृति के वे पक्षी है जो अडो को न तो स्वय सेते है और न औरो से सेवाते है, बल्कि उन्हे धूप के ताप से पका कर उनकी रक्षा करते है, जैसे कि सिकतामय प्रातरो में निवास करने वाले शुतुरमुर्ग। ये अपनी छाती की रगड से गढा तैयार करते है और उसके चारो ओर चोच से बालू रख कर एक दीवार सी खडी कर लेते है। फिर इसी में मादाए प्राय बीस से तीस तक अडे देती है—मादाए इसलिए कि शुतुरमुर्ग की एक ही मादा नही होती, एक नर की कई पत्निया होती हैं और ये सभी बारी-बारी से इसमें अपने अडे पारती जाती है।

अडे देने का काम पूरा हो जाने पर इन पर एक हल्की-सी बालू की परत बिछा दी जाती है। दिन भर सूर्य की किरणो से ये अडे गर्म रहते है, रात्रि काल में ये इन पर बैठ कर इन्हे उष्णता प्रदान करते है।

कई पक्षी ऐसे है जो किसी उष्ण जल के झरने के पास गढे बना कर उनमें अडे देते है, फिर उन्हें मिट्टी से ढाप कर अन्यत्र चल देते है। झरने के उष्ण जल से ये अडे गर्म रहते है। समय पूरा होने के दिन ये लौट कर आते है और ऊपर की मिट्टी को हटा देते है। फिर अडे फोड-फोड़ कर बच्चे बाहर निकल आते है। सेलिबस नामक एक टापू इन पक्षियो का निवास-स्थान है।

जहा सख्त गर्मी पडती है, वहा के पक्षी अडो को ठडा रखने की व्यवस्था करते है, गर्म रखने की नही, और इसके लिए वे जल में अपनी चोच भिगो-भिगो कर उनसे अडो को भिगोते रहते है ताकि अत्यधिक ताप के कारण उन्हे नुकसान न पहुचे।

कितनी रोचक है पक्षियो की ये सतानपालन की क्रियायें!

यही नही, जिस तत्परता के साथ ये अडे सेते है, उनकी रक्षा करते है तथा अपनी सतान का पालन-पोषण करते है उसी तत्परता के साथ ये अपने बच्चों की रक्षा भी करते है।

कई तो नीड के ऐसे जबर्दस्त पहरेदार है कि किसी अपरिचित आगन्तुक पक्षी अथवा

दुश्मन के आने पर अग्निशर्मा हो उठते हैं और जान की वाजी लगा कर उन पर टूट पडते है। एक वार एक सज्जन को उल्लू पालने का शौक हुआ। उल्लू के एक घोसले के पास जाकर उन्होने देखा, एक शिशु चो-चो कर रहा है। वस फौरन उसे हाथ में लेकर वह वहा से चलते वने। थोडी दूर ही गये होगे कि ऊपर से किसी ने उनके सिर पर जोर से चोट मारी। खून निकल आया। आख उठा कर देखते है तो वडा-सा उल्लू उनके सिर पर मडरा रहा है, मानो पुन चचु-प्रहार की चेष्टा कर रहा हो। वच्चे को जमीन पर फेंक कर वह फौरन वहा से नौ-दो-ग्यारह हुए।

यह तो वड़े पक्षियो की वात है। यदि आपको छोटे पक्षी का तमाशा देखना हो तो किसी भुजगे के घोसले के पास चले जायें। चोच मार-मार कर यह आप को परेशान कर डालेगा।

सन्तान-रक्षा में वहुवा देखा गया है कि पक्षी अपनी जान की भी परवाह नही करते। टामस एडवर्ड नामक एक सज्जन का कहना है कि एक वार किसी झझावात के वाद वह रास्ते से गुजर रहे थे, कि उन्होने एक जगली वतख को छाती से कुछ दवाये हुए पाया। निकट जाकर देखा तो वह अपने ग्यारह अडो के साथ घोसले को छाती से लगाए मरी पडी थी। जाहिर है कि झझावात से अडो को वचाने में ही उसने प्राण गवा दिये थे।

एक घटना मेरी आखो के सामने घटी। "गुलमोहर" के एक वृक्ष पर पीलक का एक घोसला था। नर-मादा घोसले के पास वैठे हुए नवजात शिशुओ की निगरानी कर रहे थे। इतने में एक कौआ वहा आ धमका। वस पीलक की त्योरिया चढ गयी और वह हुकारता हुआ कौए पर टूटा। कौआ भाग चला। पीलक ने उसका पीछा किया तथा उसके अगो पर चोच मारता हुआ उसे वह वाग की सरहद के पार तक भगा आया। फिर लौट कर इस तरह वैठा जैसे दगल में विजयी कोई पहलवान हो।

चिडिया सन्तान-रक्षा में तरह-तरह की वहानेवाजिया करके आगन्तुक को अचम्भे में भी डाल देती है। वहुवा ये उसे देखकर लगडाने लगेंगी, मानो किसी शिकारी के द्वारा घायल की गयी हो। दुश्मन—शिकारी, वधिक, श्वान, श्रृगालादि—उन्हे पकड़ने की उम्मीद में उनका पीछा करेगा। वे दूर तक चकमा देती हुई निकल जायेंगी और तव एकाएक तेजी से उड कर कही चल देंगी। और इस तरह दुश्मन को घोसले से दूर ले जा कर उसे पथभ्रष्ट कर देंगी ताकि वह किसी और दिशा को चल दे तथा नीड़ के शिशुओ पर आयी हुई आपदा इस तरह टल जाये।

विलायत में टिट्टिभ पक्षी के अडे वडे कीमती समझे जाते है तथा उनकी तलाश में अडा-विक्रेता नदी के कछारो में अक्सर घूमते रहते है। अडो के सही स्थान से दूर वैठी हुई टिट्टिभ अपनी करुणापूर्ण वोली से इन विक्रेताओ का ध्यान अपनी ओर आकर्षित करती रहती है ताकि उसकी भावी सन्तान सुरक्षित रहे।

छोटी-छोटी चिडियो में यह वहुवा देखा गया है कि ये शिशु-पालन में भेद-भाव नही रखती तथा खिलाते वक्त दूसरे के वच्चो को भी उसी अपनी आनन्द से खिलाती है जैसे अपनी सन्तति को। इसमे ये एक कौतूहल अनुभव करती है।

चिडिया दूसरो की आख में धूल झोकना भी खूव जानती है। वे जव घिर जाती

हैं तो मृतवत् होकर जमीन पर लेट रहती है, देखने वाला उन्हें मरी समझ कर आग की ओर बढ चलता है और तब ये फौरन जमीन छोड कर भाग खडी होती है ।

कभी-कभी पकडे जाने पर भी ये मृतक होने का वहाना कर लेती है ताकि हम इन्हे मरी हुई जान कर फेंक दें। पक्षियो के नाडी-ज्ञान के ज्ञाता ही समझ सकते हैं कि ये जीवित है या मृत, क्योकि इनका यह छद्म-भाव बडे ऊचे दर्जे का होता है। इस अभिनय को ये बडी निपुणता के साथ अदा करती है । हमारे लिए इसका भेद पाना बडा मुश्किल होता है ।

क्रीडा-कौतुक में भी पक्षी-समाज पूरा दक्ष है । आपने शायद देखा होगा, आपके प्रागण अथवा बरामदे में अक्सर गौरैयो का झुड झूठी लडाइया लडा करता है । पहले एक बोलेगी, फिर दूसरी, तब तीसरी, और इस तरह सभी गौरैया बोल उठेंगी । फिर इकट्ठी होकर ये झूठी लडाई में जूझ पडेंगी। पर यह लडाई अधिक काल तक नही ठहरती, कुछ ही क्षणो में ये पुन उड-उड कर दाना चुगने को चल देंगी। इनके युद्ध के रग-ढग से ही यह समझा जा सकता है कि ये वास्तव में झगड रही है या वनावटी लडाई लड रही हैं ।

पालतू पक्षी—कनेरी आदि—इतने शोख हो जाते है कि बहुधा अपने पालने वाले की अगुलिया चोच से चाटते रहते है या दाढी-मूछ सुलझाते रहते है । इसमें ये एक खास आनन्द अनुभव करते है ।

चिडिया तरह-तरह के खेल भी खेलती है। कभी बसेरे बनाती है और फिर उन्हे तोड-फोड कर फेंक देती है, कभी मादा को हटा कर नर अडो पर बैठता है और फिर उसे फोड डालता है, कभी नट की तरह आकाश में उडते हुए ये तरह-तरह के खेल दिखाती हैं—सीधे ऊपर जाकर इस तरह गिरती है मानो निष्प्राण हो गयी हो ! कभी-कभी ये आपस में खासकर कठफोडे, लुकाछिपी का खेल भी खेलते है । बया को यदि आप पिंजडे में डाल दें और उसमें कुछ डोरे, रुई इत्यादि रख छोडें तो फिर देखें कि वह किस आनन्द के साथ वही बुनाई का काम शुरू कर देती है।

किसी डाल से लटक कर झूला झूलना भी कई पक्षियो को बडा पसन्द है, खासकर तोतो तथा कनेरियो को। इन्हें आप वहुधा शाखाओ पर लटके हुए झूला झूलते पाएगे । कई ऐसे भी पक्षी है जो मानव-शिशु के साथ बडे आनन्द से खेलते है । इनमें स्टार्क (लगलग), कोयल, कौए आदि इस काम के लिए प्रसिद्ध है। ये वच्चो के पास चले जाते है, पर जब बच्चे इन्हें पकडने को दौडते है तो थोडी दूर भाग जाते है, फिर लौट आते है, फिर भागते हैं और इस तरह काफी देर तक खेलते रहते है ।

कइयो को पिंजडे का सामान बाहर फेंकने में बडा मजा आता है। वे खाने-पीने के प्याले वाहर गिरा देते है और वे यदि फूट जायें तो वडा आनन्द अनुभव करते है, जो उनके कूदने-फादने, चहकने से साफ ज़ाहिर होता है ।

काकातुआ की यह खास आदत है कि वह अपने पिंजडे की छड से बधे हुए तार को तोडने की कोशिश में दिन-रात लगा रहता है ।

गरज़ यह कि मनुष्य की तरह पक्षी भी खेल-कूद, क्रीड़ा-कौतुक के वडे शौकीन है।

इन्हे घर वनाने और सजाने का भी शौक है। मलय, ताइलैण्ड, इण्डोनेशिया आदि देशो में एक प्रकार का तीतर पाया जाता है जो झाडियो में अपना 'वैठक खाना' वनाता है। घास-फूस ला-ला कर किसी एक खास स्थान पर अपना ड्राइग रूम तैयार करता है और सफाई पर इतना ध्यान देता है कि यदि वहा घास का कोई टुकडा अथवा कोई सूखी पत्ती कही से उड कर आ जाये तो उसे फौरन चोच से उठाकर दूर फेंक आता है। इस तरह के एक नही दर्जनो पक्षी पाये गये है, जिन्हे अपना कमरा सजाकर, स्वच्छ रखने का वडा शौक है।

"भिन्न रुचिर्हि लोक"—ससार में भिन्न-भिन्न रुचि के लोग होते है। पक्षियो का भी यही हाल है। हर एक की रुचि एक-सी नही होती ; मसलन, कुछ तो ऐसे होते है जिनको सफाई का वडा ध्यान रहता है , कुछ ऐसे, जिन्हे हुदहुद की तरह, गदगी ही अधिक प्रिय है। नीड-निर्माण के सम्वन्ध मे भी उनकी प्रकृति एक-जैसी नही होती। कुछ वडे वेडौल, वेढगे घोसले वनाते है। पर कुछ इनके वनाने में वडी कारीगरी प्रदर्शित करते है। उदाहरण के लिए जल-मुर्गी को लीजिए। इसे सुन्दर घोसला वनाने का जन्मजात और स्वाभाविक शौक है। वडे यत्न से लकडियो के टुकडे ला-ला कर यह जल के समीप किसी झाडी में घोसला वनाती है। घोसले को सुन्दर ढग से फूल-पत्तियो से सजाती भी है। वाढ के दिनो में जव पानी की सतह ऊची हो जाती है तो यह दूर-दूर से लकडियो के छोटे टुकडे ला-ला कर उसे पहले से ज्यादा मजवूत और ऊचा वना डालती है ताकि वह जल-प्रवाह में वह न जाये।

वन-मुर्गी साल में कई वार अडे देती है और इसलिए घोसले में उसके अल्पवयस्क शिशु प्राय तमाम साल नज़र आते है। ये नीड-निर्माण में मा-वाप की सहायता भी करते है। श्री हेमैन नामक एक पक्षी-विशेषज्ञ का कहना है कि एक वार उन्होने एक वन-मुर्गी को घोसला वनाते देखा। वह पास की एक झाडी में छुप कर वैठ गये और उसकी गृह-निर्माण-प्रक्रिया का निरीक्षण करने लगे। उन्होने देखा कि वह वाहर से लकडी के कुछ टुकडे और वृक्षो की छोटी टहनिया लायी तथा उन्हे अपने वच्चे को देकर चली गयी। विहग-शिशु उन्हे लेकर आवे तैयार हुए घोसले को वनाने में लग गया। काफी देर तक यह सिलसिला चलता रहा। वह लकडिया ला-ला कर इसे देती और यह उन्हे घोसले में लगाता। इस सम्वन्ध में जो सवसे रोचक घटना थी वह यह कि लकडी के जिन टुकडो को विहग-शिशु अच्छा या काम के लायक नही समझता था, उन्हे वह चोच में दवाकर वाहर फेंक आता था—केवल अच्छे टुकडो का ही उपयोग गृह-निर्माण में करता था। इसे क्षीर-नीर विवेक कहे या अन्तस् की प्रेरणा ? यह पक्षियो की कलात्मक प्रवृत्ति और सौन्दर्य-प्रियता का एक सुन्दर दृष्टात है।

कभी-कभी ऐसा भी देखा गया है कि किसी पक्षी ने नीड वनाया पर वह उसे पसन्द न आया, उसे तोड-फोड कर वह दूसरा वनाने लगा और इम प्रकार चार वार घोसला वना कर, तोड कर, अत में मन के लायक घोसला वनाने में वह समर्थ हो पाया।

जव पक्षियो के जोडा वाधने का समय आता है तो नर मादा को विविध प्रकार से रिझाने की चेष्टा करता है। गाने वाले पक्षी जव काम-विह्वल होते है तो ज़ोर-ज़ोर से गाना शुरू कर देते है। न जाने कहा से इन दिनो उनके गले में एक खास सोज़ आ जाता

है, स्वर में मधुरिमा, हृदय में जोशोखरोश की बाढ आ जाती है, और वे दिन-रात प्रणय-गीत गाने में तल्लीन रहने लगते हैं, जैसे भारत के कुछ कोकिल, पपीहा आदि । पक्षी समाज में मादा की अपेक्षा नर की सख्या अधिक है—हर नर को भार्या-प्राप्ति का सौभाग्य प्राप्त नही हो पाता। इसीलिये स्वभावत जोडा बाधने के प्रयत्न में प्रतिद्वन्द्विता बहुत है। नर को बडी कोशिशो के बाद मादा का सहवास प्राप्त होता है। इस कोशिश में उसे हर प्रकार के वशीकरण-साधनो का उपयोग करना पडता है, अच्छे पर धारण करने पडते हैं, गान में निपुणता लानी पडती है और नृत्य में आकर्षण, ताकि वह अपने प्रति द्वन्द्वियों को अच्छी तरह परास्त कर सके।

इस काम में अल्पवयस्को की अपेक्षा अधिक उम्र वाले पक्षी ज्यादा कारगर होते हैं क्योकि उन्हे बरसो का अनुभव रहता है। उनके परो मे आकर्षण भी अधिक होता है।

कुछ पेड की डाल पर बैठ कर ऊचे गले से गाते है, जैसे कोयल, पपीहा आदि, कुछ आकाश में उड-उड कर गाते है, जिनमें चडूल मुख्य है।

वसत के आने पर आप देखेंगे, चडूल का नर, मादा के साथ-साथ गाता हुआ, प्रणय-भिक्षा माग रहा है। घटो तक यह प्रणय-लीला चलती रहती है। अत मे यदि मादा रीझ गई तो वे जोडा बाध लेते है।

कभी-कभी प्रणय-गीत के साथ-साथ नर तरह-तरह के हाव-भाव भी दिखाता है—पख फला कर, दुम उठा कर, छाती फुला कर। ऐसे वक्त यदि कोई प्रतिद्वन्द्वी आ गया तो उस पर बाज की तरह टूटता भी है। जिन्हें गाना नही आता वे गले से आवाज करते है, चिल्लाते है, ज़ोर-ज़ोर से बोलते है, पर क्या कहते है, यह सिवा मादा के दूसरा नही समझ सकता। ऐसे पक्षियो में दाविल मुख्य है।

मोर, कबूतर आदि नाच-नाच कर मादा को रिझाते है। मोर नाचता है और नाचने में ऐसा मशगूल हो जाता है कि उसे अपने तन की सुध नही रह जाती। मादाए आकर उसके चारो ओर खडी हो जाती हैं। पर वह नाचता है, नाचता ही जाता है। उसका यह प्रणय-नृत्य देखने योग्य होता है।

कबूतर का ढग कुछ और है। मादा दाना चुगती रहती है, नर यकायक उसके पास गला फुला-फुला कर नाचने लगता है, कुछ आगे बढता है, फिर पीछे लौटता है, और इस प्रकार उसे रिझाने की चेष्टा करता है।

सुदूर आकाश में उडने वाले पक्षी, चील आदि, आकाश में ही नृत्य करते है। उनका यह नृत्य गोलाकार रूप में होता है। व्योम-मडल में वे देर तक अपने करिश्मे दिखाते है और तब नीचे आकर मादा के सग बैठते है। ऐसे ही एक नृत्य का वाल्ट ह्विट्मैन ने बडा सुन्दर वर्णन किया है जो इस प्रकार है—

The clinching interlocking claws, a living, fierce, gyrating wheel,
Four beating wings, two beaks, a swirling mass tight grappling,
In tumbling turning clustering loops, straight, downward falling,
Till over the river pois'd, the twain yet one, a moment's lull,
A motionless still balance in the air, then parting, talons loosing,

Upward again on slow — firm pinions slanting, their separate diverse flight,

She hers, he his, pursuing

—पंजे एक दूसरे में जकड़े हुए
एक सजीव, वलयित चक्र
चार फड़फड़ाते पंख
दो चोंचें
कस कर गुंथा हुआ एक गत्यात्मक पिंड
लड़खड़ाते हुए, घूमते हुए, आलिंगन करते हुए छल्ले
सीधे, नीचे, लुढ़कते हुए
ठीक नदीतल के ऊपर आकर रुकते
दो—फिर भी एक।
एक क्षण की शांति
पवन में एक गतिशेष संतुलन
और फिर पंजों की जकड़ का छूटना
स्थिर, मंद, सुदृढ़ पंखों पर आकाशवर्ती तिरछी उड़ान
मादा का नर और नर का मादा के पीछे भागना।

प्रथम मादा, नर के प्रणय-गीत तथा प्रणय-नृत्य की ओर से उदासीनता दिखाती है। वह चुपचाप दाने चुगती रहती है या निश्चेष्ट बैठी रहती है मानो नर की प्रणय-परीक्षा ले रही हो। अंत में जब वह उसके हृदय पर काफी प्रभाव डाल लेता है, उसके भीतर काम-संचार हो जाता है, तो सचेष्ट होकर जाहिर करती है कि उसने उसकी प्रार्थना स्वीकार कर ली, उसके संग जोड़ा बांधना उसे मंजूर है। फिर वे गृह-निर्माण में लग जाते हैं। अनुकूल समय में उनकी सन्तान होती है और वे अपने गार्हस्थ्य-जीवन के उत्तर-दायित्व को पूरा करते हैं।

इसके ठीक विपरीत बटेरों में नर नहीं बल्कि मादा अपनी भाव-भंगिमाओं से नरों को अपनी ओर आकर्षित करती है। काफी देर तक उनकी प्रणय-परीक्षा लेकर उनमें से किसी एक के साथ जोड़ा बांध कर वह घर बनाती है, अंडे देती है, और फिर उनके ऊपर अंडों के सेने का भार छोड़कर नौ-दो-ग्यारह हो जाती है। दो-तीन दिन में ही वह पुनः उपर्युक्त विधि से किसी और नर के साथ जोड़ा बांध कर दूसरा घर बनाती है, अंडे देती है और फिर तीसरे की तलाश में घर छोड़ कर निकल पड़ती है। जनन-ऋतु में वह एक-दो-तीन नहीं, बल्कि अनेक नरों के साथ इसी प्रकार जोड़ा बांधती है और फिर नये वन और चरागाह की तलाश में निकल पड़ती है। नरों में बया नाम के पक्षी भी एक ही ऋतु में एक से अधिक मादाओं के साथ जोड़ा बांधते हैं।

पक्षी-समाज के शिशु, मानव-शिशु की भांति, शैशवावस्था में सुन्दर नहीं होते; कोई कोई तो बिल्कुल कुरूप होते हैं। पर उम्र बढ़ने के साथ-साथ उनका सौन्दर्य भी निखरने लगता है। उदाहरणार्थ पीलक पक्षी की मादा को लीजिये। छोटी अवस्था में वह उतनी सुन्दर नहीं रहती, उसके परों में वह आकर्षण नहीं होता, जो कि प्रौढ़ावस्था में होता

है। ज्यों-ज्यो उसकी उम्र बढ़ती जाती है, उसका सौन्दर्य, उसका रूपाकर्षण भी बढ़ता जाता है और वह नर को अपनी ओर आकर्षित करने में अधिक सफलता प्राप्त करती है।

मनुष्यो में युवावस्था ही आकर्षण का सबसे उपयुक्त समय माना गया है। कविवर बिहारी लाल के शब्दो में—

इक भीजे चहलें परे बूड़े बहे हजार,
किते न औगुन जग करत नय वय चढ़ती बार।

पर पक्षियो में ऐसा नहीं है। उनके बीच 'नय वय चढ़ती बार' नही, बल्कि नर की प्रौढावस्था ही एक ऐसा समय है जब पक्षी एक दूसरे की ओर तीव्रता से आकर्षित होते है (पक्षी-जाति में आकर्षण का केन्द्र अधिकाशत मादा नही, नर होते हैं), क्योकि जो वस्तु उनके आकर्षण का सबसे बडा कारण है वे उनके पर है जिनका सौन्दर्य उनकी अवस्था के साथ-साथ निखरता है। जिसे हम ढलती हुई उम्र कहते है वह इनके सौन्दर्योत्कर्ष का समय होता है।

जिस पक्षी के परो का रग पूर्णत विकसित रहता है उसकी ओर मादाए अधिक आसानी तथा शीघ्रता से आकर्षित होती है तथा नर को जोडा बाधने में न कोई कठिनाई होती है और न विलम्ब ही। साथ ही यह भी सही है कि एक बार जब मादा किसी नर का वरण कर लेती है, उसके साथ दाम्पत्य-सूत्र में बध जाती है, तो फिर उसे छोडती नही। सुन्दर से सुन्दर पर वाले किसी दूसरे नर के आ जाने अथवा लुभाने के प्रयत्न पर भी वह उसका साथ नही त्यागती। इसके एक नही, हजारो दृष्टात पाए गए है।

जोडा बाधने के पहले जिस निपुणता के साथ भाव-भगिमाओ से नर, मादा को रिझाता है वह दर्शनीय है। देर तक वह पख फडफडाता हुआ अथवा कबूतर की भाति नृत्य करके सिर नीचा कर, उससे प्रणय-याचना करता रहता है। यदि एक से अधिक नर हुए तो आपस में वे झगड भी पडते है, मादा चुपचाप उदासीन भाव से बैठी रहती है। अन्त में जो नर औरो को दूर भगा कर विजेता होता है, वह उसके पास पहुँचता है या उड कर उसकी पीठ पर जा बैठता है, और "मौन स्वीकृति लक्षण" के सिद्धान्त पर उसके साथ जोडा बाध लेता है।

पक्षियो में बहुपतित्व अथवा बहुपत्नीत्व है या नही, और यदि है तो किस हद तक, इस प्रश्न को लेकर पक्षी-जीवन-वेत्ताओ के बीच काफी मतान्तर रहा है, वाद-विवाद चलता रहा है। पर जिन्होने पक्षी-प्रवृत्तियो का निकट से तथा गहन अध्ययन किया है उन से यह पता चलता है कि आम तौर पर पक्षियो में ये प्रचलित नही है। पर ऐसे पक्षी भी है जो इसके अपवाद ही नही बल्कि जबर्दस्त अपवाद माने जा सकते है जैसे कि गिर-गिटमार बाज, जिनके बीच हर एक नर की दो मादाए हुआ करती है। विलायती कोयल के बारे में भी आम धारणा है कि एक मादा का सम्बन्ध उसी जाति के कई नर-पक्षियो के साथ होता है।

गाना पक्षी-समाज का जन्म-सिद्ध अधिकार है। पर न तो सभी पक्षी गाते है और न उनके सगीत में समान रूप से माधुर्य ही होता है। कुछ तो काग जैसे है, जिनके सगीत से भगवान बचाये, कुछ कोयल और श्यामा जैसे, जिनके स्वर से माधुर्य टपकता है।

आपने शायद देखा होगा, मनुष्यो में ऐसे गायक भी हुआ करते है जिनका अपना

तर्जे-सगीत तो है ही, दूसरो के तर्ज एव स्वर में भी वे हू-वहू उन्ही जैसा गा लेते है। पक्षियो में भी ऐसे एक नही अनेक गायक-गायिकाए है जो दूसरे पक्षियो के स्वर में, लय में, उनके ही गाने इस दक्षता के साथ गाती है कि यदि आप उन्हें देख न ले तो कभी विश्वास न करे कि यह गाना कोई और गा रही है ।

शिमले में मैंने एक वार ऐसी ही एक पहाडी मैना को चीड-वृक्ष की डाल पर से विविध पक्षियो के गाने, उनके ही स्वर और लय में, गाते देखा था, यही नही, अपने गले से वह वादनयन्त्रो की आवाज भी निकाला करती थी, जिसे सम्भवत उसने आस-पास के किसी मकान से नि सृत होते हुए सुना था।

पिंजडे की मैना भी, आपने देखा होगा, तरह-तरह की आवाजें, गाने आदि, आसानी से सीख लिया करती है। तोते की नकलवाजी तो जगत्-प्रसिद्ध है। चडूल, दहियल, पीलक और नीलकठ में भी इस कला में काफी नैपुण्य प्राप्त करने की क्षमता है। श्री ह्यू हालीडे नामक एक अग्रेज लेखक लिखते है—

"वे जो कि पक्षियो की पहचान उनके गाने से करते है, कभी-कभी अपरिचित स्वर से अचम्भे में भी पड जाते है। अन्वेषण करने पर वहुधा यह देखा गया है कि जिस ध्वनि को सुन कर वह चकित रह गये थे वह किसी परिचित पक्षी की ही आवाज थी जो अपना नही, वल्कि किसी और पक्षी का गाना गा रही थी।"

अपने इस कथन की पुष्टि में उन्होने अपने कई अनुभवो की भी चर्चा की है।

जव-तव ऐसा भी देखा गया है कि यदि किसी पक्षी-शिशु को आप अन्य जाति के पक्षी के साथ जन्म-काल से ही रख छोडें तो वह उसकी ही आवाज में वोलने लगता है। राय आयभर नामक एक सज्जन ने पिछले वर्ष एक नीलकठ की जाति के पक्षी-शिशु को पाल रखा था पर उसके सभी साथी दूसरी जाति के पक्षी थे, नीलकठ नही; अतएव पाया गया कि उस नीलकठ के वडे होने पर उसकी आवाज नीलकठ जैसी नही, वल्कि उसके साथियो जैसी थी।

पर समय आने पर ये पक्षी अपने वश की ध्वनियो को, उस स्वर तथा सगीत को, जिन्हें वे पैतृक परपरा से प्राप्त करते है, फौरन धारण कर लेते है।

कुछ पक्षी ऐसे है जो किसी भी अवस्था में अपनी वश-प्रणाली को नही त्यागते, मसलन कोयल, जो परभृता होकर भी कुहू-कुहू छोड कर एक वार भी काव-काव वोलती हुई नही पायी गयी है।

कहते है नारि-स्वभाव और शब्द वडे मधुर होते है। पर विभिन्न प्रदेशो की नारियो के स्वर-माधुर्य में भिन्नता होती है। यही हाल पक्षियो का भी है। देश, जलवायु, वातावरण—इनसे इनके स्वर मे भी काफी परिवर्तन आ जाता है। विहार तथा पजाव की कोयले यद्यपि कुहू-कुहू ही वोलती है पर दोनो के स्वर मे कितना अन्तर है। यही नही, उनके तर्ज-कलाम में भी काफी फर्क पाया जाता है। विलायत के एक पक्षी प्रेमी का कहना है—

"मै कई ऐसे स्थानो पर गया हू जहा के रोविन (कलचुरी) पक्षी की आवाज इस जाति के पक्षियों की आवाज से विल्कुल ही भिन्न थी।"

आवाज के साथ-साथ पक्षियो की रूप-रेखा, कद इत्यादि मे भी स्थान-भेद से काफी अन्तर आ जाता है। विहार के कौओ से यदि आप दिल्ली के कौओ को मिलाए तो उनका

वजन दूना-तिगुना अधिक पायेंगे। यही हाल और पक्षियो का भी है। फारस तथा हिन्दुस्तान की बुलबुलो में कितना अन्तर है!

प्राचीन काल में जैसा कि क्षत्रियो के बीच हुआ करता था, पक्षियो के बीच प्रेम और सघर्ष (युद्ध) दोनो साथ-साथ चलते है। स्वयम्वर में किसी सुन्दरी कुमारिका का वरण करके जब कोई भाग्यवान पुरुष प्रस्थान करता था तो बहुधा प्रतिद्वन्द्वियो के साथ उसकी लडाई छिड जाती थी—कभी-कभी तो पाणिग्रहण-काल में ही। यही पक्षियो के समाज में भी होता है। और इसके लिये वे अपनी चोच, चगुल तथा डैनो का पूर्ण रूप से प्रयोग करते हैं।

कौए, भुजगे और सबसे बढ़कर सुग्गे, अपनी चोच के द्वारा काफी चोट पहुचाते है, शिकारी पक्षी, चील आदि, अपने चगुलो से। बतखो का अस्त्र उनके डैने है।

जोडा बाधने के दिनो में शिकारी पक्षियो का सिर सदा गर्म रहता है तथा प्रेयसी के पास किसी का फटकना उन्हे बिल्कुल बर्दाश्त नही होता। कोई आया नही कि वे लड पडे।

कुछ पक्षी तो ऐसे भी लडने में काफी मशहूर है, जैसे कि तीतर, बटेर, बुलबुल, नीलकठ, मुर्गी आदि। प्राचीन काल में दिल्ली और लखनऊ में इनके बडे-बडे दगल हुआ करते थे। पर अब समय बदल गया है, 'वह मुतरिब और वह साज, वह गाना बदल गया', न राम रहे, न वह अयोध्या ही, बटेर और बलबूल की वे लडाइया अब कहा?

घाघ की एक कहावत है—

कलसे पानी गरम है,
चिड़िया न्हावै धूर।
अडा लै चींटी चढ़ै,
तौ बरषा भरपूर।

अर्थात् जब चिडिया धूल में नहायें तो समझिये कि भरपूर वर्षा होगी। इससे पक्षियो का धूल से नहाना जाहिर होता है। जिस प्रकार सूखे पाउडर से कपडे, वगैर जल-प्रयोग के, साफ किये जाते है, वैसे ही बहुतेरे पक्षी भी धूल से अपने पख साफ करते है। आपने अक्सर देखा होगा, सडको पर, जहा की मिट्टी गाडी के पहियो की रगड से खूब महीन बनी हुई है, गौरैया पख से धूल उछाल-उछाल कर नहा रही है। जब उनके पर धूल से खूब शराबोर हो जाते है तो वे वहा से हटकर पखो को खूब फडफडाती है और उन्हे साफ कर लेती है। और इस तरह वे अपनी ड्राई क्लीनिंग (सूखी सफाई) किया करती है। और भी कई पक्षी धूल से इसी प्रकार नहाते है। कुछ तो महीन धूल में नहाते है, कुछ मोटी धूल में, और कुछ, जैसे तीतर, जमीन में गड्ढा खोद कर उसमें लोटते है। पर ये सभी धूल से ही अपना शरीर स्वच्छ करते है।

किन्तु धूल की अपेक्षा जल मे पक्षियो का नहाना अधिक प्रचलित है। नदी अथवा ताल-तलैयों के तट पर आपने मैना को या कौओ को झुड बाधकर नहाते अवश्य देखा होगा। पख से पानी उछाल-उछाल कर ये अपने सारे बदन को भिगो लेते है और फिर कही बैठकर उन्हे सुखाते है. चोच से अपने परो को साफ करते है, उन्हे सँवारते है पखो से जल पर हिलकोरे देते है ताकि बदन के पर भीग जाये और फिर उडकर कही जा बैठते है और परो

की सफाई करने लगते हैं। उल्लू ओस में अपने शरीर को भिगोकर नहाते हैं। तात्पर्य यह कि भिन्न-भिन्न पक्षी विभिन्न प्रकार से जल-स्नान कर के अपने शरीर की शुद्धि तथा परो की सफाई करते हैं। वे गर्मी में तो नहाते ही है, जाडो में भी स्नान करते हैं, और इस तरह मानव-समाज को, खास कर उन्हे जो पहाडो पर रहते हैं तथा जो साल में एक-दो वार ही स्नान करते हैं, स्वच्छता की शिक्षा देते हैं।

कई पक्षियो को वर्षा के जल में नहाने का भी वडा शौक हैं। वर्षा की पहली वौछार में आप वहुधा वतखो तथा सुग्गो को वडे आनन्द के साथ नहाते देखेंगे।

गौरैये छोटे पक्षी हैं पर वडे साहसी हैं। नहाने का और शायद स्वच्छता का भी इन्हें इतना शौक है कि सुवह सूर्योदय के पहले ही ये जल से अपनी स्नान-क्रिया समाप्त कर लेते हैं। अपनी इसी प्रकृति के कारण ये पक्षियो में ब्राह्मण माने गये हैं—"जल सूर ब्राह्मण, कलम सूर कायस्त", कहावत मशहूर है।

पक्षियो में सूर्य-स्नान का भी काफी रिवाज है। नीलकठ आदि पक्षी वहुधा शरीर के परो को फैला कर तथा डैने और पूछ को ऊपर उठा कर धूप-सेवन करते हैं और इस तरह धूप से विटामिन 'डी' ग्रहण करते हैं। नीड के विहग-शिशु भी दरवाजे के करीव आ कर धूप में अक्सर वैठा करते हैं। उनके भाव से ही प्रतीत होता है कि धूप में वैठना उन्हे कितना प्यारा है।

नहाने के वाद चिडियो को आप देखेंगे कि वे कही वैठी हुई वाल की सफाई कर रही हैं, शौकीन मिजाजी का परिचय देती हुई ये काफी देर तक अपने परो की सफाई में लगी रहती है। कभी-कभी चोंच से एक दूसरे के वाल भी सँवार दिया करती हैं। वतखो की पीठ पर, दुम के पास, एक उठा हुआ-सा स्थान होता है, इससे एक प्रकार का स्निग्ध तरल पदार्थ वहिर्गत होता है जिससे ये अपने परो के शृगार में मदद लेती हैं, इन के पर मुलायम रहते हैं तथा इनके ऊपर से पानी आसानी से नीचे गिर जाता है। अग्रेजी की एक कहावत भी है—'वतख की पीठ से जैसे पानी'। जाहिर है कि तेल और जल का कभी सम्मिश्रण नहीं होता।

औरतो के केश-विन्यास के लिये जैसे तेल सहायक है, वतखो के पर के लिये भी वह उतना ही आवश्यक है। यही नही, जव वे जल में तैरती रहती है, इस तेल के कारण ही उनके पर जलसिक्त होकर भारी नही होते तथा तैरना उनके लिए आसान रहता है।

स्वर्ग के पक्षी की यूरोप में वडी ख्याति है। ये सर्व-प्रथम न्यूज़ीलैण्ड की ओर आज से सैकडो वर्ष पहले दृष्टिगोचर हुये थे। इनके सम्वन्ध में एक स्वतत्र लेख इस पुस्तक में दिया गया है। देखने में ये पक्षी अपनी भडकीली पोशाक के कारण अत्यन्त सुन्दर लगते हैं। इनके नहाने तथा शरीर-स्वच्छता की प्रक्रिया भी वडी विचित्र है। ये जमीन पर लोटते हैं और साथ-साथ खूव शोर मचाते हैं, अपने तुर्रे को उठा-उठा कर जव चिल्लाते हैं तो ऐसा प्रतीत होता है कि ये किसी दुश्मन से लड रहे है, पर यह इनकी लडाई की क्रिया नही, नहाने की, परो की सफाई की प्रक्रिया है।

जल-पक्षी घटो जल में तरह-तरह से क्रीडा करते रहते है, जल-विहार में कभी-कभी सारा दिन विता डालते हैं। इनके चमडे के भीतर प्रकृति ने चर्वी की एक तह वना

पिंजडे का पक्षी कहता—यह पिंजडा हर तरह से सुरक्षित है, यही आओ न !

वन का पक्षी कहता—एक बार अपने आपको इन मेघो के वीच तो छोड कर देखो।

पिंजडे का पक्षी कहता—इस एकान्त-सुख के कोने में अपने को वाध रखो न ।

वन का पक्षी कहता—नही, नही, वहा किस तरह उड पाऊगा मै ?

पिंजडे का पक्षी कहता—मै मेघ में बैठने का स्थान कहा पाऊगा ?

इस तरह दोनो पक्षी एक दूसरे को प्यार करते, पर एक दूसरे के पास नही पहुच पाते थे ।

एक दूसरे को पिंजडे की फाक से चुपचाप देखता तथा चोंच से चोंच मिलाता था ।

न एक दूसरे के भाव को समझ पाता है और न समझा पाता है ।

एक दूसरे से मिलने को पखो से पिंजडे पर झपट्टा मारता है और कातर प्राण से कहता है—निकट आओ !

वन-पक्षी कहता है—नही, नही, मै निकट न आऊगा, क्या जाने कब इस पिंजडे का द्वार मुझे बन्द कर ले ।

पिंजडे का पक्षी कहता—हाय, मुझमें उडने की शक्ति नही ! *

हम इन्सानो की अवस्था आज उपर्युक्त "खाचार पाखी" (पिंजडे के पक्षी) के समान है, सोने का पिंजडा हमें भले ही प्राप्त हो, पर प्रकृति की गोद हमें उपलब्ध नही है !

---

*महाकवि रवीन्द्रनाथ की एक कविता का यह हिन्दी गद्यानुवाद है ।

(एक प्राचीन चित्र कागडा शै

तन्देश तुम लायो, तव वोलिया सुहावन

(एक प्राचीन चित्र ...)
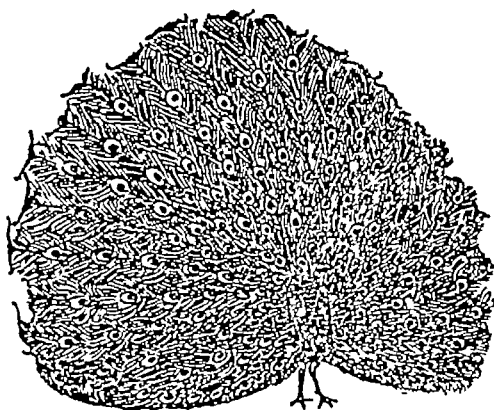
भारतीय साहित्य में पक्षी

अपनी शीतोष्णता के कारण भारतवर्ष एक ऐसा देश है, जहा हर प्रकार के पक्षी उपलब्ध है—जाडो के भी, गर्मियो के भी। कुछ तो यहा के बारहमासी पक्षी है, कुछ ऋतु-विशेष में बाहर से आते है, फिर ऋतु-परिवर्तन के साथ-साथ अन्यत्र चल देते है। शीतकाल में गोधूलि के समय आप देखेंगे कि कतार के कतार जल-पक्षी सुदूर व्योम-मार्ग से कलरव करते हुए हिमालय की ओर से चले आ रहे है। निशा-काल के शान्त समय में भी इनके कूजन के शब्द कानो में आते रहते है। ये शीतकालीन पक्षी है जो इस देश की झीलो में आ कर शीतकाल बिताते है, तटवर्ती शस्य-पौधो के फल से उदर-पूर्ति करते है, फिर वसन्त के आते ही पहाडो को चल देते है। इनकी कतार देख कर ऐसा लगता है मानो सैनिको की पक्तिया किसी युद्ध-स्थल की ओर जा रही हो।

इन बतखो में बहुतेरी किसी और देश को न जा कर भारत के ही ठडे हिस्सो में रह जाती है, कश्मीर में अथवा हिमालय के किसी अन्य प्रान्तर में। कुछ तो गर्मियो में यहा ही, ऐसी झीलो में, जिनका पानी सूखता नही, रह जाती है।

इसी तरह ग्रीष्म-काल का पदार्पण होते ही कुछ पक्षी दक्षिणसे उत्तर अथवा उत्तर-पूर्वीय-प्रदेशो में आ जाते है। कुछ अफ्रीका से इस देश के पश्चिमी हिस्से में आते है।

पर भारतवर्ष के अधिकाश पक्षी ऐसे है जो तमाम साल इसी मुल्क में व्यतीत करते है, और ऐसे पक्षी दस-बीस नही, सैकडो प्रकार के है। हा, जलप्लावन आदि कारणो से जब भोजन की कमी हो जाती है तो ये स्थान-परिवर्तन कर लेते है, पर दूर नहीं जाते, अडोस-पडोस के ही किसी इलाके में चले जाते है।

इन पक्षियो में से कइयो के साथ जन-जीवन का घनिष्ट सम्बन्ध रहा है, जैसे कि सुग्गा, मैना, कौआ, कपोत, गौरैया आदि। तोता-मैना पालने की परिपाटी बहुत दिनो से इस देश में चली आती है। कौए घर-घर के चिरपरिचित पक्षी है ही, कपोत तथा गौरैये भी मानव-आवास के साथ-साथ ही अपना घर बनाते है।

भारतीय, खासकर सस्कृत एव हिन्दी साहित्य में न जाने कितनी पक्तिया इनके ऊपर लिखी जा चुकी है, इनकी प्रशस्ति में कवियो ने अपनी कलमें तोड डाली है।

इनमें से कई तो ऋतुराज वसन्त के मानो अभिन्न अंग के समान हैं। सुनिए कवि विद्यापति की यह सूक्ति—

आएल रितुपति राज वसन्त,
धाओल अलिकुल माधवि-पथ।
दिनकर-किरण भेल पौगंड,
केशर-कुसुम धएल हेमदंड।
नृप-आसन नव पीठल पात,
कांचन कुसुम छत्र धरु माथ।
मौलिक रसाल मुकुल भेल ताय,
समुखहि कोकिल पंचम गाय।
सिखि कुल नाचत अलिकुल यन्त्र,
द्विज कुल आन पढ़ आसिस मन्त्र।

भारतीय लोक-गीतों में भी पक्षियो की खासी चर्चा है, पर जिस पक्षी ने उनमें सबसे अधिक स्थान पाया है वह है काग। प्राचीन काल में साधारण जनता के लिए न तो यातायात की कोई व्यवस्था थी न डाक की। प्रवासी प्रियजन का सम्वाद पाना एक कठिन काम था। सयोगवश यदि कोई व्यक्ति परदेश से आया तो उसकी खबर मिली। स्वभावत परिवार के लोग—विशेषत प्रवासी पुरुष की अर्द्धांगिनी—उसके कुशल-सम्वाद के लिए चिन्तित रहा करते थे तथा काग उडा-उडा कर अथवा काग की बोली सुनकर, जमीन पर चिन्ह अंकित कर या दृष्टि-पथ पर आने वाले प्रथम तृण के टुकडे को अगुलियो से माप कर उसके शुभ-समाचार या गृहागमन की पूर्व-सूचना पाने की चेष्टा किया करते थे।

प्रोषितपतिका जब विरह से अत्यन्त विकल हो उठती थी तो काग से प्रार्थना करती थी कि वह उसका सम्वाद प्रियतम के पास पहुँचा आये तथा उसकी कुशल-वार्ता लाकर उसकी चिन्ता दूर करे।

प्राचीन काल से इस देश में यह धारणा चली आती है कि कागो का बोलना शुभ और अशुभ दोनो प्रकार की भावी घटनाओ का सूचक है तथा जब कभी कोई अतिथि आने को होता है तो ये पहले से ही बोल-बोल कर इसकी सूचना दे देते हैं। इसी विश्वास के आधार पर लोक-गीतो में काग उडाने, काग के बोलने, काग के सन्देश ले जाने की बार-बार चर्चा की गई है। विवाह आदि शुभ-अवसरो पर गाने वाले गीतो में बार-बार काग से अनुरोध किया गया है कि वह शुभभाषी हो—'शुभ बोलु रे कागा, शुभ बोलु',—आदि।

कौओ के सम्बन्ध में यह धारणा भी, कि यदि वे आहार बाट-बाट कर खायें तो शुभ है, इस देश के पूर्वीय प्रान्तो में प्राचीन काल से चली आ रही है। भक्त कवि चडीदास की नायिका तभी तो कृष्ण-आगमन की आशा अपने हृदय में रखती है और कहती है—

आजु परो भाते काको कलोकली,
आहारो बांटिया खाय........।

दूसरी ओर एक ग्रामीण नायिका गृह-प्रागण-स्थित चदन के वृक्ष पर से बोलने वाले काग से कहती है—

की काग नहर से आवा की हरिजी पठावा,
काग कौन सन्देश तुम लायो तव वोलिया सुहावन ?

काग उत्तर देता है—

नहीं हम नैहर से आवा ना हरि जी पठावा,
आजु से नवयें महीना होरिल तोरे होइहं।

—न हम तुम्हारे मैके से आये हैं, न तुम्हारे प्रियतम ने हमें भेजा है। यही वताने आये है हम कि आज से ६वें महीने तुम्हारे पुत्र होगा।

नायिका तव उससे कहती है—

चुप रहो काग, तू चुप रहो, वैरिनि ना सुनें।

—काग रे, चुप रह, चुप रह, गाव की मेरी कोई वैरिन स्त्री इसे न सुन ले। कही नजर न लगा दे।

इसी तरह एक दूसरी ग्रामीणा अपनी कन्या के लिए वर ढूढने का अनुरोध सुग्गे से करती है—

सावन सुगना मैं गुर घिउ पाल्यो चैत चना कै दालि,
अव सुगना तू भयउ सजुगवा वेटी क वर हेरइ जाव।

—सुआ! सावन में मैंने तुझे गुड और घी, चैत में चने की दाल, खिला-खिला कर पाला। अव सयाना-समझदार हुआ तू। जा, मेरी कन्या के लिए वर ढूढ ला।

मिथिला प्रदेश की एक नव-वधू पति का इन्तजार करते-करते थक जाती है। अन्त में पति आता है, कहता है, कोयल की मधुर वोली सुनते-सुनते देर हो गई। वधू कोयल को पत्र लिखती है, कोयल उत्तर देती है—"तू भी ऐसी ही मीठी वोली वोल कर क्यो नही प्रियतम को ठहरा लेती है?" और इस प्रकार मधुरभाषिणी न होने के लिए उस पर व्यग्य करती है। फिर भी एक दूसरी नायिका उससे आरजू-मिन्नत के साथ कहती है—

सुनु-सुनु कोयल एहि ठां आऊ,
मधुमय षट्रस भोजन खाउ,
फरु गय काज हमर यहि राति,
विनति करुअ तोहर कत भाति,
पाखि मढ़ाएव मोतिक रेख,
अहक वनाएव सुन्दर भेख,
लय लिय लय लिय लिखलहुं पाति,
वितय चहय पिक आधो राति,

* * *

कहव वुझाय सुनव पहुं वात,
कथिलय कैलहुं कामिनि कात,
ओ घनि मरत विरह विष खाय,
तिन सै पैंसठि राति विताय,
सतत नयन सं नीरक छोर,

चलु-चलु मरइछ लिय गे कोर,
जं नहि जाएब आजुक राति,
कामिनि देतिह जीवन साति।

—कोयल री, यहा आ। मधुमय भोजन खा और आज की रात मेरा एक काम कर आ, मैं विनती कर-कर तुझसे कहती हू। मैं सोने से तेरे पख मढाऊगी (पता नही, कोयल के ऊपर इस प्रलोभन का क्या असर हुआ), मोतियो से अधर और इस प्रकार तेरा सुन्दर रूप बनाऊगी।

आधी रात बीतने आयी, ले मेरा यह पत्र जो कि मैंने अपने प्रवासी प्रियतम के नाम लिखा है। इसे उन्हें देना और समझा कर कहना कि किस लिए आपने एक कामिनी का वरण किया यदि उसकी सुधि नही लेनी थी? ३६५ लम्बी रातें वह आपकी प्रतीक्षा में काट रही है और अब शीघ्र ही विरह-विष पान कर अपना प्राण देने वाली है।

उसकी आखो से अविरल अश्रुपात हो रहा है, शीघ्र चलकर उसे सान्त्वना दीजिए, यदि आज की रात आप न गये तो फिर आपकी प्रियतमा का अस्तित्व ही न रहेगा।

इसी तरह एक राजस्थानी नायिका बडी आरजू के साथ काग से कहती है—

उडज्या रे काग, गिगन का वासी,
खबर तो ल्याव म्हारे राजन की।

—ओ गगन विहारी काग! जरा उड कर जा तो, मेरे प्रियतम की खबर ला।

और विद्यापति की नायिका इन सुन्दर शब्दो में उसे प्रलोभन देती है—

मोरा रे अगनमा चनन केरि गछिआ,
ताहि चढ़ि कुररय काग रे,
सोने चोच बांधि देव तोय बायस!
ज्यो पिया आओत आज रे।

फिर देखिए, महाराष्ट्र प्रदेश की एक अबोध बाला, ससुराल में निवास करती हुई, एक पछी से पुकार-पुकार कर कहती है—

रुण-झुण, पांखरा रे, जा माझ्या माहेरा
कमानी दरवाजा रे। त्यावरी बैस जा
घरच्या आईला रे। सागोवा सांग जा
दादाला सांग जा रे। ने मला माहेरा।

—सुन ले मेरा सदेश, ओ पक्षी! लिख कर जल्दी से मेरी मां के पास उसे पहुचा दे। कहना मा से कि वह शीघ्रातिशीघ्र मेरे भाई को यहा भेज कर मुझे बुला ले। मा के घर का कमान का दरवाजा अच्छी तरह पहचान कर वहा जाना।

पक्षियो के द्वारा प्रवासी पति के पास सन्देश भेजने या उनकी खबर पाने का यह यत्न सदियो से इस देश की नायिकाए करती आयी है, साथ ही कोहवर-वासक-गृह की दीवारो पर प्रथम मिलन की रात में विविध पक्षियो की तस्वीर बनाने की भी परिपाटी इस देश में रही है—खास कर मोर और तोतो की। इससे सम्बन्धित एक सुन्दर मैथिल लोक-गीत सुनिए—

कहमहि लिखल मोर रे मजुरवा,
कहमहि लिखल आठ दल रे,
कोबर लिखल मोर रे मजुरवा,
वेदिय लिखल आठ दल रे।
कहमहि वोलल कारी रे कोयरिया,
कहमहि वोलल मजूर रे।
आम डारि वोलल कारी रे कोयरिया,
दुअरहि बोलल मजूर रे।

—कहा मोर-गण चित्रित हुए और कहा अष्टदल कमल लिखा गया ? कोवर-कोहवर में मोर चित्रित हुए, वेदी के चारो ओर अष्टदल कमल लिखे गए ।

कहा काली कोयल कूकी ? कहा मयूर वोला ? आम की डाली पर कोयल कूकी, दरवाजे पर मोर वोला ।

प्रियतम के घर लौटने पर एक राजस्थानी नायिका का गीत भी सुनें—

साजन-साजन हू करु,
साजन जीव जड़ी,
साजन फूल गुलाव को,
निरखू घड़ी-घड़ी !
काग उड़ावत धण खड़ी,
आयो पीव भड़क्क,
आवी चूडी काग गली,
आधी गई तड़क्क।
साजन आया हे सखी,
ज्यां की जोती बाट,
थामा नाचे, घर हँसे,
खेलन लागी खाट।

और असम के एक प्रेमी नायक की इन वातो पर ध्यान दें—

हाह होई पोरिम गं तोमारे पुखुरित,
पारह होई पोरिम गोई चालत,
धाम होई होमाम गोई तोमारे शरिरत,
माक्खी होई चूना देम गालत।
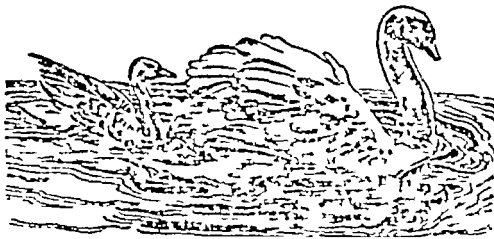
—मैं हस हो कर तुम्हारे (प्रियतमा के) तालाव में तैरूगा, कपोत हो कर तुम्हारे घर के मुडेरे पर वैठूगा, पसीना हो कर वदन पर आऊगा, मक्खी वन कर तुम्हारे कपोल चूमूगा।

खग ना हिरानो, खग प्रेमी हिरानो हूं।

महाकवि अकबर ने लिखा था—

आलम को लुभाती है पियानो की सदाएं,
बुलबुल के तरानो में अब लय नहीं आती।

यह सही है कि "हजार-दास्ता" बुलबुल की जगह आज कृत्रिम सगीत अधिक लोक-प्रिय हो रहे है, पर इनमें दिल पर असर करने वाली वह शक्ति कहा जो इसे तडपा दे, रुला दे या नचा दे। 'वह बात दे जुबा में कि दिल पर असर करे!' अफसोस, कि इनमें वह बात नहीं!

जैसा कि पूर्व-कथित है, इस मुल्क में हजारो किस्म की चिड़िया प्राप्य है। यही नही, एक ही जाति के पक्षी के रग-रूप में स्थान-भेद से काफी अन्तर पाया जाता है। इस छोटी-सी पुस्तक में उन सब का जिक्र करना मुश्किल था। दरअसल ऐसी कोई भी पुस्तक अंग्रेजी तक में आज तक न लिखी जा सकी जिसमें भारत में पाये जाने वाले समस्त पक्षियो का उल्लेख हो। अत मैंने इस पुस्तक मे भारत के प्रमुख पक्षियो पर ही कुछ न कुछ लिखने की—पाठको से उनका परिचय कराने की—चेष्टा की है। इस प्रयास मे मुझे कहा तक सफलता मिली है, यह तो वही बता सकेगे जो इस विषय के पडित है।

चित्र सख्या १ घर की ओर
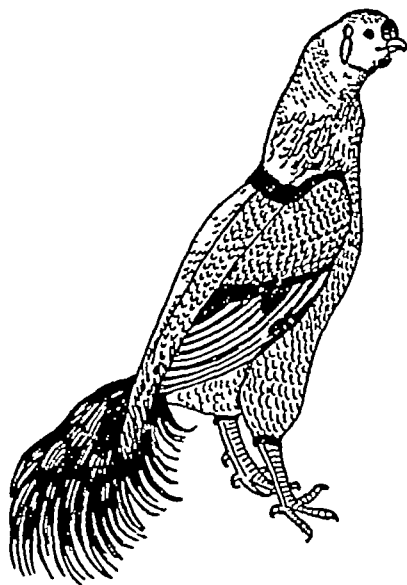
भारतीय पक्षी और चित्रकला

भारतवर्ष की चित्र तथा मूर्ति कलाओ में पक्षी ने आदिकाल से स्थान पाया है, पर शुरू में पक्षियो का चित्राकन एक सीमित परिधि में आवद्ध था। चित्रो में दो-चार खास पक्षियो के अलावा औरो को शायद ही स्थान प्राप्त हुआ हो, मोर, तोता, हस, मुख्यत इनका ही अकन होता था और वह भी वासकगृहो की भित्ति पर, सजावट के रूप में, अथवा राधा-कृष्ण-लीला से सम्वन्वित चित्रो में या किसी नायिका के नायक के पास सवाद भेजने के सिलसिले में। स्वतन्त्र रूप में पक्षी के चित्राकन की प्रणाली न के वरावर ही थी।

मूर्तिकला में केवल ऐसे पक्षी, जिनका सम्वन्व हिन्दू देवी-देवताओ से है, स्थान पा सके। दक्षिण भारत के मदिरो में ऐसे पक्षियो की मूर्तिया काफी सख्या में उपलव्व है। इनमें भगवान विष्णु का वाहन गरुड, लक्ष्मी का उलूक सरस्वती का हस, मुख्य हैं। गरज़ यह कि पौराणिक कथाओ में उल्लिखित तथा देवताओ से सम्वद्ध पक्षियो को प्राचीन हिन्दू मूर्तिकला में काफी परिमाण में स्थान मिला।

पक्षी-चित्राकन की प्रथा को मुगल वादशाहो के द्वारा काफी वल मिला। उनके सरक्षण में इसने तरक्की ही नही की, वल्कि यह उन्नति की चरम-सीमा पर पहुँच गई। मुगल वादशाह स्वभाव से ही कलाप्रेमी थे, साथ-साथ प्रकृति के विभिन्न अगो—पशु, पक्षी आदि—में दिलचस्पी रखने वाले भी। अत स्वाभाविक था कि उनके शासन-काल में चित्रकला का उत्कर्ष होता तथा पशु-पक्षियो के चित्राकन की ओर चित्रकारो का ध्यान खास तौर पर जाता। अकवर, जहागीर तथा शाहजहा, तीनो ने ही पक्षी-चित्राकन को प्रोत्साहित किया, जहागीर ने विशेपरूप से, जिसका

सबसे बडा प्रमाण उसका पक्षी-चित्रो का एलबम है जो मुगल शैली के चित्रो की एक बहुमूल्य निधि है ।

शुरू-शुरू में मुगल शैली के चित्रकार पक्षी-चित्रो का उपयोग पुस्तक की सजावट के लिए करते थे । ऐसे अनेक तत्कालीन ग्रन्थ मिलेगे जिनके हर पृष्ठ पर पक्षियो के चित्र बने हुए है, बाबरनामा तथा अकबरनामा की ऐसी प्रतिया मिली है जिन पर अकबर-कालीन प्रसिद्ध चित्रकार मनोहर के बनाए हुए चित्र है तथा 'गुलिस्ता' की एक प्रति लन्दन की रायल एशियाटिक सोसायटी में सुरक्षित है जिसके प्रत्येक पृष्ठ को मनोहर के बनाए हुए पक्षियो के चित्र सुशोभित करते है ।

चित्र में पक्षी-सम्बन्धी कथाओ के प्रदर्शन का भी तत्कालीन चित्रकारो के द्वारा प्रसार हुआ । मणि नामक एक प्रसिद्ध चित्रकार का 'ऐयारे दानिश' ऐसे ही चित्रो में है जिसमें उल्लू तथा कौए के झगडे की कथा चित्र में कही गई है । विविध पक्षियो का जमवट है, जिसमें यह फैसला हुआ है कि पक्षियो का सरदार उल्लू चुना जाय । इस फैसले के विरोध में कौआ एक ऊचे स्थान से व्याख्यान दे रहा है, जिसके परिणामस्वरूप अत में यह प्रस्ताव रद हो जाता है ।

धीरे-धीरे पक्षियो के स्वतन्त्र अकन का, स्वाधीन रूप से उनके चित्राध्ययन का, प्रवेश होता है तथा मुगल चितेरे, खासकर उस्ताद मसूर, अपनी कलम से सुन्दर पक्षियो का अकन करते है । मसूर के बनाए हुए सारस, बाज़, चील, गीध आदि के चित्र ऐसी ही तस्वीरो में है । क्रियाशील पक्षियो—खास कर बाज़—के चित्र भी मसूर ने बडे कौशल से अकित किए है ।

बादशाह अकबर के ज़माने के मनोहर, मणि, हुसैन, कान्हा आदि चित्रकार प्रसिद्ध है, पर जहा तक मुगल शैली के चितेरो का सम्बन्ध है, जहागीर का शासन-काल उनके अभ्युदय का चरम काल है—वह समय जबकि मसूर—जिसे जहागीर ने 'उस्ताद' की पदवी प्रदान की थी—तथा नादिर अल अस्र जैसे कुशल चित्रकार पैदा हुए जिनके चित्रो में कलम की बारीकी तो है ही, चित्रो में प्राण है, सजीवता है । खेद है कि ऐसे चित्रो का अधिकाश हिस्सा आज विदेशी चित्रशालाओ की शोभा बढा रहा है ।

निस्सन्देह ऐसे चित्रकारो में मसूर का स्थान सब से ऊचा है । उसके चित्रो पर अधिकतर उसका अपने हाथो से लिखा हुआ नाम पाया जाता है, मानो उसे इस बात का भय था कि कोई और उसके चित्रो की चोरी न कर ले—उन्हें अपने न बता दे । और इसमें शक नही कि समकालीन अथवा आगे की पीढियो में कोई ऐसा चितेरा न हुआ जो कुशलता से उसके तर्ज़ की नकल कर सकता। बिना अत्युक्ति के वह भी अपने नकलनवीसो के सम्बन्ध में कह सकता था कि—

मेरी तर्ज़े कलम की वह अगर तकलीद करते है,
खिजल होगे, असर की भी अगर उम्मीद करते है ।

किसी अन्य चितेरे की कलम वह असर न पैदा कर सकी जो उसकी तूली ने किया । शाहजहा की दिलचस्पी अधिकतर शिल्पकला की ओर गई, पर उसका ज्येष्ठ पुत्र दारा शिकोह चित्र-प्रेमी था तथा उसके एलबम में भी अनेक ऐसे सुन्दर चित्रो का समावेश है जिसे मसूर के बाद के चित्रकारो ने अकित किए थे ।

अकबर तथा शाहजहा की पोषिता यह कला लाहौर तथा दिल्ली के चित्रकारो के बीच, कम या बेशी, मुगल साम्राज्य के जीवन-संध्या-काल तक जीवित रही।

महाराज ससार चद से पोषित कागडा शैली के चित्रो में भी पक्षी ने प्रमुख स्थान पाया था।

आज से दस-बीस साल पहले तक इस देश के विविध हिस्सो में महिलाओ में गुदना गुदवाने का रिवाज था, शरीर के कतिपय अगो पर, खास कर हाथो पर, नाम तथा चित्र खुदवाने का। इनमें मोर और तोते खास तौर पर स्थान पाते थे और यह इस बात का साक्षी है कि यद्यपि मुगलो के शासन-काल में पक्षी-चित्रकला ने विशेषरूप से उत्कर्ष पाया, चित्रो में पक्षियो के रूपाकन की प्रथा तथा पक्षी-प्रेम इस देश में बहुत पहले से था। काश, हम यह जान पाते कि पुराण-कालीन चित्रकार चित्रलेखा ने पक्षियो के कितने चित्र अकित किए थे!

मुग़लो में जहागीर का शासन-काल मुग़ल शैली की चित्रकला का स्वर्णयुग माना जाता है। जहागीर ने फारस के राज-दरबार के दो मशहूर चितेरो—मीर सैय्यद अली तथा समद को अपने यहा बुला कर उनसे मुसलमान एव हिन्दू चित्रकारो को शिक्षा दिलवाई थी तथा मुगल, हिन्दू, दक्षिणी और यूरोपीय चित्रकर्ताओ के चित्रो का एक सुन्दर सग्रहागार निर्मित किया था। वह स्वय चित्रो का पारखी था तथा चित्रशाला में जा कर उनके चित्राकन का स्वय निरीक्षण किया करता था। उसके समय के चित्रो तथा मानव, पशु और पक्षियो के अकित रूपो से सुशोभित पुस्तको की पाण्डुलिपिया आज हिन्दुस्तान ही नही, अमरीका तथा यूरोप के अजायबघरो की शोभा बढा रही हैं। इनमें सबसे महत्व के चित्रो के वे एलबम—मुरक्का—हैं जो अधिकाशत बर्लिन तथा तेहरान के सरकारी ग्रन्थ-सग्रहागारो में सुरक्षित है। कुछ लूभ्र सग्रहालय, ग्यीमें सग्रहालय, सिनसिनाती के कला सग्रहालय, कनसस सग्रहालय तथा ओटो सोन-रेयेल के सग्रह में भी हैं। ये सभी १७वी सदी के प्रारम्भ के हैं।

जहागीरकालीन चित्रशैली पर तुर्किस्तान की तत्कालीन शैली की छाप साफ परिलक्षित है। ऐसा अनुमान किया जाता है कि जहागीर ने तुर्किस्तान से फर्रुख बेग नाम के किसी चित्रकार को १५८५ ई० में भारत बुला कर अपनी चित्रशाला का अध्यक्ष नियक्त किया था और उसके ही प्रभाव से गोवर्धन, बिशनदास, दौलत तथा आक़ा रेज़ा आदि चित्रकारो की कलम में यह असर आया था। फर्रुख बेग ने स्वय भी अनेक चित्र अकित किए थे जो कला के श्रेष्ठ नमूनो में शामिल है, पर उसके तथा औरो के चित्रो में यह फर्क है कि जहा बालचन्द, बिशनदास, दौलत आदि के चित्रो के पशु, पक्षी और वृक्ष भारतीय हैं, उसके चित्रो के पशु-पक्षी-वृक्षादि इस देश में नही बल्कि तुर्किस्तान, काबुल और कश्मीर तक में पाए जाते हैं। फर्रुख के बाज और चकोर हमारे बाज-चकोरो से कुछ भिन्न हैं।

मुगल शैली एक ऐसी शैली है, जिस पर राजपूत, तुर्की, फारसी तथा यूरोपीय शैलियो का प्रभाव विद्यमान है। जहागीर ने बहुतेरे यूरोपीय चित्रो का भी सग्रह किया था, वह सर टामस रो के साथ बैठकर घण्टो चित्रकला सम्बन्धी बातें किया करता था। पर मुग़लकाल के—खासकर जहागीर कालीन चित्र—जिस

शैली से भी प्रभावित हुए हों, इन सबों में पक्षी ने प्रमुख स्थान प्राप्त किया है। कुछ तो विभिन्न पक्षियों के स्वतन्त्र चित्र हैं, बाकी में भी चित्र के चारों किनारो पर तरह-तरह के पक्षी अकित है। ये मानव तथा पक्षी के बीच घनिष्ट सम्बन्ध के जबर्दस्त द्योतक है। अधिकाश चित्रो में मुग़ल वादशाह या बेगमें हाथ पर बाज या तोता लिए नज़र आती है।

ईस्ट इडिया कपनी के शासन-काल में शेख ज़ैनुलउद्दीन (कलकत्ता), राम दास तथा भवानीदास (पटना) नामक चित्रकारो ने पक्षियो के सुन्दर चित्र अकित किए थे।

कोयल

वन बागन पिक वट परत की विरहिन मत मैन,
कुहो, कुहो, कहि-कहि उठत करि करि राते नैन ।
—विहारी

वसत का दिन । पी फटने का समय । उषा काल । धीमी-धीमी पुरवाई । कलियो का चटकना । अमराइयो के बीच से कोयल वोल उठती है—'कुहू-कुहू' और एक साथ सहसा सैकड़ो हृदयो के हृदय-तन्तु काप उठते है, डोल उठते है । आगे का हाल इन पक्तियो में पढिए—

सिहर उठा उर देख नवी का,
सिहर उठी जल-बीच पंकजा ;
ताल-ताल पर तेरे आली,
प्रेम-व्यथा जग उठी संत की ।

सत-हृदय में भी प्रेम-व्यथा जगाने की शक्ति सिवा कोयल के और किस पक्षी म है ? कौन है वह हृदय जिसे मदभरी कोयल की कूक ने तडपाया नही, रुलाया नही ? प्रकृतित भारतीय साहित्य ने जो स्यान कोयल को दिया है वह किसी और को नही । न जाने कितनी शत-सहस्र पक्तिया इसकी प्रशसा मे, प्रशस्ति में लिखी जा चुकी है और आज भी, जवकि प्राचीन परम्पराओ की दीवार द्रुत गति से ढहती जा रही है, आधुनिक साहित्य में इसका स्यान अक्षुण्ण है ।

मनुष्य की वाणी उसका मित्र और शत्रु दोनो ही है । दुर्योधन के सम्बन्ध में कहे हुए दो शब्द महाभारत के भीषण रण का कारण बने । महात्मा गाधी के मीठे शब्दो ने कितनो को उनके चरणो पर विनयावनत किया । यही हाल पक्षियो का भी है । समय पडने पर हम प्रिया-प्रियतम के सवादवाही काग की भले ही खुशामद कर ले, साधारण तौर पर उसकी कर्कश वाणी से तग आकर हम ढेले मार-मार कर उसे उडाते फिरते है । पर कोयल की, जो देखने मे उतनी ही कुरूप है जितना कि काग, वाणी सुनने को हम उत्कठित रहते है, और ऐसे स्थानो में, जहा कोयल का आवास नही है, मसलन शिमला, मसूरी आदि पहाडो पर, उसकी वोली सुनने को तरसते है । उसकी मधुर वोली ने ही तो मानव-हृदय में उसके लिए यह गहरा स्थान वना रखा है । किसी ने ठीक ही कहा है—

कौआ कासों लेत है, कोयल काको देत,
मीठो वचन सुनाय कै, सब को बस करि लेत।

कोयल और वसत का गहरा सम्बन्ध है तथा वसन्त काल में कोयल का कूकना कही तो आनन्द की वर्षा करता है, कही प्रोषित पतिकाओ के हृदय में विष उडेलता है। कवि "पण्डित प्रवीन" के शब्दो में—

बल्ली[1] को बितान, मल्ली[2] दल को बिछौना,
मञ्जु महल निकुञ्ज है प्रमोदवन[3] राज को,
भारी दरबार भिरी भौंरन की भीर
बैठे मदन दिवान इतिमाम[4] काम काज को।
'पण्डित प्रबीन' तजि मानिनी गुमान गढ़
'हाजिर हुजूर' सुनि कोकिल अवाज को,
चोपदार चातक बिरद बढ़ि बोलै
'दर दौलत दराज महराज ऋतुराज को।'

ऋतुराज के दरबार की ज्योतियो में है यह कोयल, अतिशय सुखदायी। पर देखिए, पद्माकर का विचार कुछ और ही है। वे कहते है—

ए ब्रजचन्द! चलो किन वा ब्रज
लूकें वसन्त की ऊकन लागीं,
त्यों 'पद्माकर' पेखौ पलासन
पावक सी मनो फूंकन लागीं।
वै ब्रजवारी बिचारी वधू वन
बावरी लौं हिये हूकन लागीं,
कारी कुरूप कसाइनें ये सु
कुहू कुहू क्वैलियां कूकन लागीं।

विचार चाहे पद्माकर के अपने हो अथवा ब्रजवनिता के, पर यहा स्पष्ट है कि उसका ककना विष ही ढालता है, अमृत नही। क्यो? इसे वियोग वाण से विंधे हुए जन ही समझ सकेगे। फिर भी कोयल, कोयल ही है, पक्षीराज है, और—

तावच्चकोरचरणायुधचक्रवाक पारावतादि विहगा. कलमालपन्तु,
यावद्वसन्तरजनीघटिकावसानमासाद्य कोकिल युवा न कुहूकरोति।

—चकोर, मुर्गा, चकवा तथा कबूतर आदि पक्षी तभी तक अपनी-अपनी बोलिया सुनाते है जब तक कि वसत की प्रभात वेला में कोयल अपना कुहू-कुहू शब्द नही सुनाने लगती।

कोयल उन पक्षियो में है जिन्हे गाने का अत्यन्त शौक है। वह जब गाती है तो दिल खोल कर गाती है, और गाती ही रहती है। फारस की बुलबुल की तरह वह दिन-रात गाती है। वसत के आरम्भ में जब आम के वृक्ष बौरो से लद जाते है तो वह मजरी, कोपलें, फल आदि का रसास्वादन करती हुई पचम स्वर

---

१. लता। २. वेला। ३. नाम विशेष। ४ इतजाम, प्रवन्ध।

में ऐसी तान छेडती है कि एक समा बाध देती है। डाल-डाल पर नाचती है और रह-रह कर गाने में तल्लीन हो जाती है।

वसत के बाद भी, ग्रीष्म तथा पावस में, उसका कूकना जारी रहता है। किसी कवि का यह कथन "अब तो दादुर बोलिहै, भये कोकिला मौन" गलत है, क्योकि वर्षाकाल में भी वह पूरे जोशोखरोश के साथ गाती रहती है और तब तक गाती है जब तक कि शीतकाल का आरम्भ नही हो जाता तथा अन्तरिक्ष में पहाडी झीलो से आए हुए जल-पक्षी अपने कूजन से आकाश को भरना नही शुरू कर देते। गरज़ यह कि साल में चार-महीने से अधिक वह चुप नही रहती। कहते है कि जाडो में यह दक्षिण की ओर, जहा ठडक नाम-मात्र को पडती है, चली जाती है। मुमकिन है इनमें से कुछ चली जाती हो, पर अवश्य ही सभी नही जाती, क्योकि शिशिर और हेमन्त मे भी बहुधा कोयल को बोलते सुना गया है। हा, सर्दियो से इसे नफरत जरूर है और यही वजह है कि पहाडो की ओर यह कभी भूल कर भी नही जाती। पर्वतीय कोयल (चित्र सख्या ७) समतल क्षेत्रो में पाई जाने वाली कोयलो से भिन्न, देखने में इनसे सुन्दर अवश्य है, पर उसके गले में न तो वह सोज़ है न वह साज़ जो इन काली कोयलो में है।

केवल उत्तर-पश्चिम सीमान्त को छोड कर, भारतवर्ष के सभी राज्यो में यह पाई जाती है और हर जगह इसकी कद्र है। मलय चीन आदि देशो में भी वह मिलती है। अधिकतर वट, अश्वत्थ आदि वृक्षो के छोटे-छोटे फल इसके आहार है, पर भोजन निरामिष ही हो, ऐसा कोई बन्धन नही है। यदा-कदा कीडे-मकोडे भी उसके भोजन-पात्र में स्थान पा जाते है। कोयल उन चिडियो में है जिसे बडी मुश्किल से हम देख पाते है, क्योकि यह कभी जमीन पर नही उतरती तथा वृक्षो पर भी अधिकतर पत्तो की ओट से ही अपनी तान छेडा करती है। यदि आपने कभी भूल कर वृक्ष के नीचे जाकर इसे देखने की चेष्टा की तो यह फौरन वहा से उड कर अन्यत्र चल देगी। एक वृक्ष से उड कर दूसरे पर जाते हुए ही इसे हम देख पाते है। पर काली होने के कारण हम इसे कौआ समझ कर अक्सर भ्रम में पड जाते है। अग्रेजी के एक प्रसिद्ध कवि वर्ड्सवर्थ ने कुकू पक्षी के, जो कोयल वश की ही एक विख्यात गायिका है, सम्बन्ध में कहा था—

O, Cuckoo ! Shall I call thee Bird,
Or, but a wandering Voice ?

—कुकू ! तुम्हें मै पक्षी कहू या कि भ्रमणशील एक ध्वनि मात्र ?

कोयल के सम्बन्ध में भी, जिसे हम हाड-मास के बने हुए पक्षी के रूप में कम ही देखते है, उसकी ध्वनि-मात्र ही सुन पाते है—कभी इस वृक्ष से, कभी उस वृक्ष से—हम कुछ ऐसा ही कह सकते है।

कोयल के नर और मादा के रग-रूप में काफी अन्तर है। नर नीली-हरी चमक लिए हुए पूरा काला और मादा भूरी होती है। मादा के पेट पर गहरा भूरापन होता है, डैनो आदि पर सफेद चित्तिया होती है। दुम गहरी भूरी होती है और उस पर श्वेत धारिया होती है जो पपीहे से बहुत कुछ मिलती-जुलती है। नर और मादा दोनो की आखें लाल और पाव गहरे स्लेटी रग के तथा चोच हरी होती है। लम्बाई प्राय १७ इच होती है। गाने का शौक नर को ही है। आवाज में ज़ोर है। गला फाड कर जब यह पक्षी 'कुहू-

कुहू' की रट लगाता है तो दिग् दिगन्त गूज उठता है । मादा कभी-कभी एक वृक्ष से दूस वृक्ष पर जाती हुई, तेजी से 'किकू-किकू-किकू' शब्द उच्चारण करती है ।

इसके अडे नीलापन लिए हुए हरे रग के होते है, जिन पर कत्थई चित्तिया होत है। यह कई अडे एक साथ देती है और एक ही ऋतु में कई बार भी । विलायत की कोयल तो कहते है कि एक ऋतु में २०-२५ अडे तक दे डालती है पर भारत की कोयल के सम्बन्ध में २०-२५ अडे देने का दृष्टात अब तक प्राप्त नही हो सका है । फिर भी अडो की सख्य अधिकाश पक्षियो से अधिक अवश्य होती है । आकार में ये छोटे होते है । अडा दे का समय अप्रैल से अगस्त तक है ।

सस्कृत के एक नीति-श्लोक में कहा है कि मनुष्य को यदि कूटनीति सीखनी ह तो वार-वनिता से सीखे अथवा किसी राज दरबार में—"वारागणा राजसभा प्रवेश ।' आम तौर पर कूटनीति का मतलब धूर्तता से समझा जाता है और इस अर्थ में कोयल भी जो पक्षियो में गान-विद्या की दृष्टि से गणिका के समकक्ष है, आचार्य-पद के सर्वथ उपयुक्त है । जिस धूर्तता से वह अपने अडे स्वय न सेकर कौए के घोसले में रख आती ह और उनसे अपने अडे सेवाती तथा बच्चो का पालन-पोषण कराती है उस धूर्तता वे कारण वह बडे-बडे धूर्त कूटनीतिज्ञो के भी कान काट सकती है । कौए की, जो स्वय दूसरो को चकमा देने में सिद्धहस्त है, आखो में धूल झोकना साधारण काम नही है, पर कोयल इस काम को बडी निपुणता के साथ करती है । तरीका यो है—

सर्वप्रथम नर कोकिल कौए के घोसले के पास पहुँचता है और तरह-तरह की भाव-भगिमाओ से उसे चिढाता है । मादा मुंह में अडा रख कर अडोस-पडोस के ही किसी वृक्ष पर छिप कर बैठ जाती है । कौआ या यो कहिए कि कौए—कोयल के अभद्रतापूर्ण व्यवहार से चिढकर उस पर टूटते है और वह भाग चलती है । कौए उसका पीछा करते है । कोयल उडने में तेज होती ही है, उडती हुई कुछ दूर निकल जाती है, साथ-साथ कौए भी, इधर मैदान खाली पा कर मादा कोयल घोसले में घुसती है, अडा रख देती है और कौए के अडे कही दूर गिरा आती है । फिर एक ऐसी आवाज देती है जिससे नर समझ जाता है कि काम सफल हो गया—बस एक ही छलाग में कौओ के दृष्टि-पथ से वह ओझल हो जाता है । कौए यह सोच कर कि दुश्मन सरहद से बाहर हो ही गया, लौटते है और पुन घर-गृहस्थी में लग जाते है । कौआ जैसे धूर्त पक्षी को भी मूर्ख बनाकर स्वार्थ-साधन करने वाली कोयल को यथार्थत महाकवि कालिदास ने विहगेषु पण्डित की उपाधि प्रदान की है । विक्रमोर्वशीयम् में लिखा है—

अये, इयमातपान्तसवृक्षितमदा जम्बूविटपमध्यास्ते परभृता ।
विहगेषु पण्डितैषा जाति ।

यजुर्वेद में इसी का नाम 'अन्यवाय' (दूसरे के घोसले में अपना अडा रखने वाला पक्षी) है ।

यथाकाल कोयल-कुमार का जन्म होता है, काग-दम्पति बडे शौक से उसे अपनी सतान समझकर पालते-पोसते है और जब वह उडने लायक हो जाता है तो एक दिन उन्हे चकमा दे कर नौ-दो-ग्यारह हो जाता है । यही नही, घोसले में यदि कौए की कोई वास्त-विक सतान रही हो तो मौका देखकर उसे जन्म के कुछ ही दिन बाद ठोकर देकर नीचे गिरा

ठे हुए

चित्र सख्या · ४

प्रणय-भिक्षा
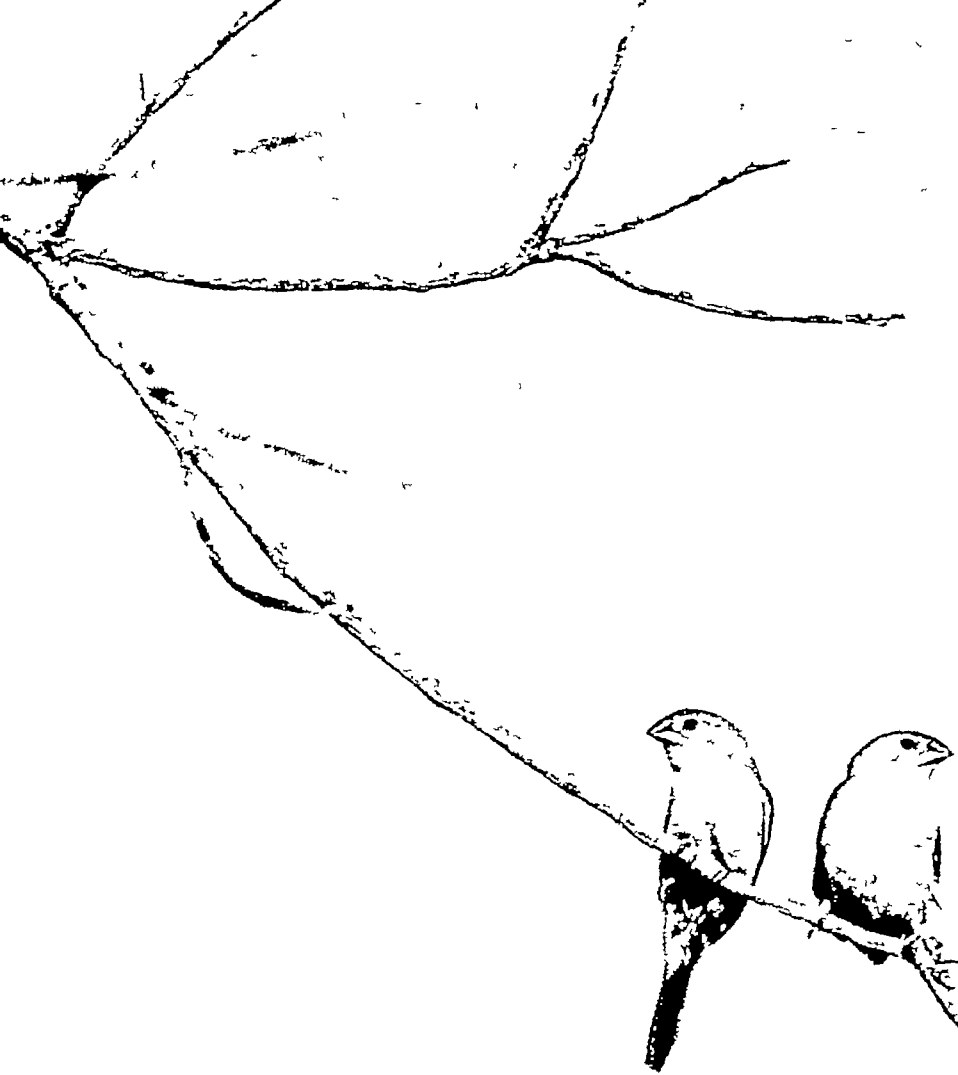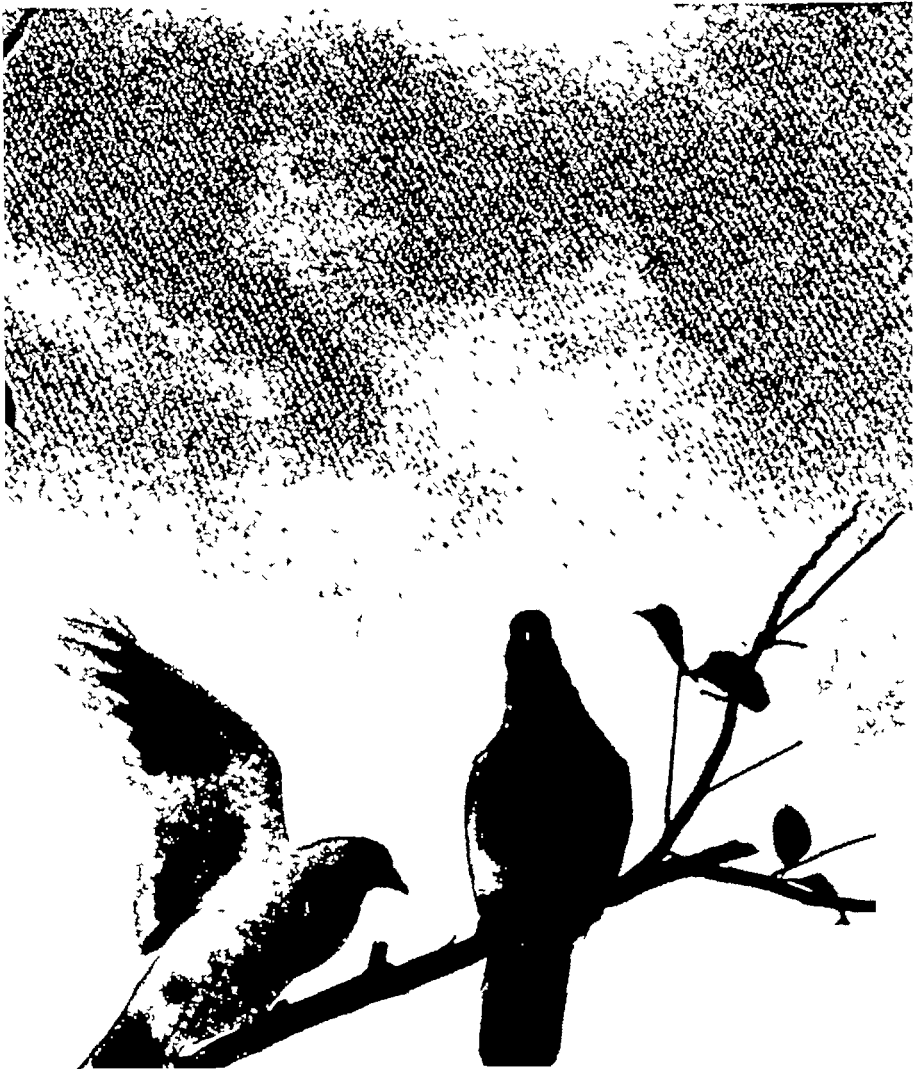
भी डालता है। प्रश्न उठता है कि कोयल के इस नवजात शिशु को आखिर यह धूर्तता तथा कौओ के प्रति विद्वेष की यह भावना सिखाता कौन है ? निस्सन्देह वश-गुण और सस्कार से ही उसे यह प्रेरणा मिलती है। दूसरो के द्वारा पाले जान के कारण ही कोयल सस्कृत भाषा में परभृता कहलाई है। अभिज्ञान शाकुन्तन में जब शकुतला महाराज दुष्यन्त की स्मृति जगाने की चेष्टा करती है तो वह कहते हैं—

स्त्रीणामशिक्षितपटुत्वममानुषीणां
सदृश्यते किमुत या· परिबोधवत्यः,
प्रागन्तरिक्षगमनात्स्वमपत्यजात
मन्यद्विजै· परभृता किल पोषयन्ति।

—हे गौतमी! तपोवन में लालित-पालित हुए है, यह कहकर क्या इनकी अनभिज्ञता स्वीकार करनी पडेगी ? मनुष्य से भिन्न जीवो की स्त्रियो में भी जब आप से आप पटुता आ जाती है तो फिर बुद्धि से युक्त नारी में यह प्रकट हो, इसमें आश्चर्य ही क्या ? मादा कोयल, अन्तरिक्ष-गमन के पहले अपनी सन्तान की अन्य पक्षी के द्वारा पालन-पोषण की व्यवस्था कर लेती है।

देखने में कौए की अपेक्षा अधिक सुन्दर और तगडे होने के कारण कभी-कभी कोयल-कुमार अपने झूठे मा-बाप के विशेष लाड-प्यार के भागी बन जाते है। प्रकृति की ऐसी माया है कि कौए इस छल-छन्द को कतई नही समझ पाते है तथा इन्हे अपनी ही सतान मान बैठते है। यही नही, इन पर अधिक प्यार भी दिखाने लगते है।

इस सम्बन्ध में कभी-कभी एक बडी रोचक घटना हो जाती है। कौए के एक ही घोसले में अज्ञानवश कई कोयले अपने-अपने अडे रख आती है और इस प्रकार काक-दम्पति को कोयल के चार-चार पाच-पाच बच्चो तक को पालना पड जाता है। पर वे इस काम को बडी खुशी के साथ करते है। यह ससार धोखे की टट्टी है, इसमें सन्देह नही।

लन्दन के "फील्ड" नामक एक पत्र में परभृत कुकू को बेनियाजी का एक मजेदार वर्णन पिछले दिनो पढने को मिला, जो इस प्रकार है—

हार्ली नामक एक व्यक्ति की पुष्प-वाटिका में २४ जुलाई, १९५६ को परभृत के दो शिशु नजर आए जिनके पूरी तरह पख हो आए थे। उसके साथ ही रॉबिन की वह मादा भी थी, जिसने उन्हे पाला-पोसा था। वह श्री हार्ली के घर के आसपास से खाद्य वस्तुए ला-ला कर दोनो बच्चो को खिलाती और वे मुह खोल-खोल कर बडे चाव से खाते थे। सारे दिन यह सिलसिला चलता रहा। बीच-बीच में परभृत शिशु क्रोधापन्न हो कर दहगल पर चचु-प्रहार भी कर देता था, पर वह इसका कोई ध्यान न कर अपने कर्तव्य में जुटी रही।

दूसरे दिन दो बच्चो में से एक गायब था, तीसरे दिन दूसरा। पख पाकर दोनो नौ-दो-ग्यारह हो गए थे। दहगल कुछ काल एकाकी, विरहाकुल अवस्था में, उदास हो कर बैठी रही, फिर वह भी अन्यत्र चली गई। जिन्हे पाल-पोस कर उसने बडा किया उन्होने चलते समय उससे विदा भी न मागी! 'परभृत'—चाहे मानव कुल के हो या पक्षीकुल के—कभी किसी के नही होते।

खैर, तो इधर काक-दम्पति उनके अडे सेने तथा बच्चो के पालन-पोषण में व्यस्त रहते है, उधर नर और मादा कोयल मजरी-मदिरा का पान एव नाचने-गाने में अपना समय बिताती है और कहती है—

दिन भर गाना, दिन भर पीना—
हमें यही है रुचिकर जीना ;
चार दिनों का ही तो जीवन,
जी भर पीलें, जी भर गा लें,
प्याले पर प्याले हम ढालें,
वास स्थान हमारा मादक—
आम्र-मजरी का मदिरालय,
परवश नहीं, किसी का क्या भय ?

कही इगलैण्ड का प्रसिद्ध कवि किपलिंग उसे देख कर अपने वतन के सम्बन्ध म पूछता है—

Oh Koel, little Koel, singing on the siris bough,
* * * *
Can you tell me aught of England or of spring in England now?
—Kipling

—सिरीष-वृक्ष की डालो पर से गाती हुई कोयल ! ओ नन्हीं कोयल ! नन्हीं कोयल ! क्या तुम मुझे इगलैंड के अथवा इगलैंड में वसत के विषय में कुछ बता सकती हो ?

और कही प्रमत्त पिक के कूक-वाण से विंधा हुआ कवि भोर की कोयल से पूछता है—

रात क्या आयी न तुझ को नींद,
कोकिले, किसके विरह में तडपती लवलीन ?
तड़पती जल-गर्भ में ज्यों विरह-व्याकुल मीन ।
तू रही क्रन्दित पपीहा-सी
न तुझ को चैन,
फट न क्यों पड़ती धरा यह
श्रवण कर दुख-बैन ?
रात भर तू ने बजाई बैठ उर की बीन,
कोकिले, किसके विरह में तडपती लवलीन ?
पौ फटी, आकाश में था
अरुणिमा-विस्तार,
हँस उठी नीलोत्पला तज
सेज-स्वप्नागार,
जीव माया में फँसा ज्यों
सजग हो, निर्बन्ध,
नलिनि-बन्धन से निकल कर
अलि हुआ स्वच्छन्द ।
प्रणय के किस पाश में, पर, तू रही गति-हीन,
कोकिले, किस विरह में तड़पती लवलीन ?

ले चले सन्देश प्रियतम
को प्रिया का, काग,
औ धरा-मुख पर लगाने
प्रातवात पराग,
कर रहे छाती भिगो कर
ओस का मृदु पान,—
नीलकंठ, कपोत, पडुक,
और भ्रमर सुजान,
मंजरी-मधु से विरह-व्रण हो न पाया क्षीण,
कोकिले, किसके विरह में तड़पती लवलीन ?

आखिर कोयल की कूक से वह घबडाता क्यो है ? उत्तर देखिए—

आधी रात पुकारे चातक,
और भोर में कोयल,
कैसे कहो, रहे थिर मेरा
यह छोटा अन्तर-तल ?

पपीहा

न गोई कज के मी गरदद
चकाक इलहाने मूसीकार,
म गोई कज चे मी मानद
तदर्व अनवाए असफातें ? —सनाई

—चातक को ऐसे मधुर स्वर में सुन्दर राग का अलापना कौन सिखाता है, और चकोर को इतने सुन्दर वस्त्र पहनने को कौन देता है ?

भारतवर्ष के विभिन्न लोक-गीतो मे जो स्थान पपीहा ने पाया है वह और किसी पक्षी को शायद ही नसीब हुआ हो—

पपिहरा पापी रे,
* * *
पिउ पिउ रटत पपिहरा,
* * *
जा रे पपीहा पिऊ के देश।
* * *
दूर देस ना दई मेरे बावल,
उत्थे पाणी दा तसोह, बोले जंगल दा पपीहा—

आदि अगणित ऐसे गीत हैं जिनमें पपीहे की चर्चा है, उसे कोसा भी गया है और उससे तरह-तरह की प्रार्थनाएं भी की गई हैं। कारण स्पष्ट है। पपीहे की दो आदतें इसके लिए उत्तरदायी हैं। प्रथम, उसका बारम्बार 'पिउ, पिउ' रटना, द्वितीय, समय-असमय का कुछ भी ख्याल न कर प्रियतम की याद दिलाना।

बाकी सभी चिड़िया गाती हैं, पर रट नहीं लगाती। लेकिन पपीहे का रटना एक कहावत-सा बन गया है—

चातक[1] रटहिं तृषा अति ओही।

* * *

कहु रटत पपिहरा बन की ओर।

उपर्युक्त तथा ऐसी ही असख्य पक्तियो में पपीहे के रटने का ही उल्लेख है, गाने का नहीं।

एक तो बार-बार प्रियतम का स्मरण कराना और फिर समय-असमय पर ध्यान न देना, आधी रात में जबकि सारा ससार सोया रहता है, केवल चाद की किरण आजादी से जहा-तहा नाचती फिरती है, अथवा पौ फटने के समय जबकि नायिका सेज पर गाढी नीद में सोयी रहती है, प्रातवात थपकिया दे-दे कर उसे सुलाता रहता है, पपीहा समय-असमय का ख्याल न कर गला ऊंचा करके उसके कानो में प्रियतम का नाम उडेलने लगता है—परदेश गये नायक की स्मृति जागृत कर देता है, सुप्त विरह वेदना

१. पपीहे की एक जाति

को उभार देता है। स्वाभाविक है कि ऐसे पपीहे को पापी विशेषण से विभूषित किया जाए, उसे कोसा जाए । किसी वियोगिनी की यह दर्प भरी उक्ति क्षम्य ही है—

ऊधो ! यह ऊधम जताय दीजो मोहन सो,
ब्रज में सुवासो भयो अगिन अवासो है ।
पातकी पपीहा जलपान को न प्यासो,
काहू बौयित वियोगिनि के प्रानन को प्यासो है।

पर कुछ ऐसी नायिकाए भी होती है जो पपीहे के उक्त आचरण से नाराज होने की बजाय खुश होती है तथा उससे अनुरोध करती है कि वह प्रियतम के पास, जिसकी याद वे हृदय में प्रतिक्षण बनाए रखना चाहती हैं और इस उद्देश्य की पूर्ति में पपीहे को सहायक पाती है, उनका प्रणय-सन्देश पहुचाए । कृष्ण-विरह में व्याकुल मीरा ऐसी हो नायिकाओ में थी जिसने बार-बार पपीहे से आरजू करते हुए कहा था—

जा रे पपीहा पिउ के देश,
कहियो पिउ से मेरा सन्देश ।

यही नही, ब्रज की एक विरहिणी नायिका ने तो उसे प्रमाण-पत्र तक दे डाला—

सखी री चातक मोहि जियावत।
जैसेहि रैनि रटति हौं 'पिय-पिय' तैसेहि पुनि-पुनि गावत ।
अतिहि सुकठ दाहु प्रीतम को तारू जीभ न लावत,
आपु न पीवत सुधारस सजनी विरहिनि बोल पिआवत ।
जो ए पंछि सहाय न होते प्राण बहुत दुख पावत,
जीवन सफल सूर ताही को काज पराए आवत ।

ठीक ही कहा है, जीना उसी का सफल है जो औरो के काम आए—

जीता है वह जो मर चुका इन्सान के लिए ।

पर मजा तो देखिए—जिस पपीहे को विरहिणी नायिकाए दूत बना कर भेजना चाहती है वह स्वय ही किसी के विरह में जल रहा है ! कहते है, स्वाति-बूद के बिना पपीहे की प्यास नही बुझती, प्रकृतित स्वाति-घन की प्रत्याशा में वह आकाश की ओर आखे लगाए रहता है तथा बादल को देखते ही उससे जलदान की याचना करने लगता है, यह जानने का यत्न नही करता कि आखिर यह बादल स्वाति-घन है या कोई और। उसकी इसी मूढता पर किसी सहृदय कवि ने उसे मैत्रीपूर्ण राय दी है कि—

रे रे चातक, सावधानमनसा मित्र क्षण श्रूयताम्
अम्भोदा बहवो वसन्ति गगने सर्वेपि नैतादृशा ।
केचिद् वृष्टिभिरार्द्रयन्ति वसुधां, गर्जन्ति केचिद्वृथा,
य-यं पश्यसि तस्य-तस्य पुरतो मा ब्रूहि दीन वच ।

—हे मित्र चातक, मेरी यह बात तू सावधान होकर सुन कि इस व्योम-मडल में कई प्रकार के बादल है, उनमें से कुछ तो पानी की बूदो से पृथ्वी को तर कर देते है, कुछ वृथा ही गरजते है, बरसते नही। अतएव तू जिस-तिस को देख कर उसके आगे दीन वचन न कह।

पर पपीहे ने कवि की इस राय को कब सुना। वह आज भी बादलों को उमडते देख कर "पी-पी" अथवा "पी-कहा, पी-कहां" की रट लगाता ही रहता है। जोश मलसियानी के शब्दो में—

> खल्तेनवा के सदमें कब तक सहे पपीहा,
> मैकश चहक रहे हैं क्यों चुप रहे पपीहा,
> अब क्यों न वौरे म की रौ में बहे पपीहा,
> अब क्यों न शोख जी से पी-पी कहे पपीहा,
> बरसा रही हैं सागर बरसात की घटाए।

देखने में यदि हम पपीहे को शिकरे (शिकार पकडने वाला एक पक्षी) का प्रतिरूप कहें तो असगत न होगा। आखें पीली, शरीर का ऊपरी हिस्सा तथा डैना भूरापन लिए हुए बादामी या यो कहिए कि स्लेटी भूरे होते हैं। दुम के पास से कुछ दूर तक सफेद, बहुत छोटी धारिया होती हैं। दुम लम्बी होती है। इसके बीचोबीच कुछ काली और सफेद आड़ी पट्टिया और छोर पर एक उजली धारी होती है। नीचे का हिस्सा– चोच से छाती तक— सफेदी लिए हुए हल्का स्लेटी होता है और पेट के पास भूरी धारिया होती हैं। चोच आखो की तरह ही पीली, पर हरापन लिए हुए होती है और इसके आगे का भाग काला रहता है। पैर भी पीले ही होते हैं। लम्बाई प्राय १५ से १६ इच तक होती है। नर और मादा के रूप-रग में कोई अन्तर नही होता।

कहते है कि इसके गले में एक छेद होता है और जब यह पानी पीने लगता है तो बहुत-सा पानी इसके गले से निकल जाता है। गाते समय अपने गले को फुला-फुला कर तान छेडता है। "पी-पी कहा" की रट से सारा वातावरण गूज जाता है।

पपीहे और शिकरे के रूप-रग में तो समानता होती ही है, इनके उडने के ढग में भी असाधारण समानता है। यही वजह है कि हम पपीहे को तब तक नही पहचान पाते जब तक कि वह बोल न उठे। यह भी एक विधि की विडम्बना है कि एक ही प्रकार के दो पक्षियो में एक तो इतना सहृदय, मिष्टभाषी और दूसरा इतना निष्ठुर, घोर हिंसक!

पपीहे का आवास मुख्यत बगाल से लेकर राजस्थान तक है। पजाब और सिन्ध में ये नही के बराबर पाए जाते है। दो हज़ार फुट से ऊपर के पहाडी इलाको में तो बिल्कुल ही नही पाये जाते। दरअसल यह गर्मी का पक्षी है। कहते है, जाडो में ये दक्षिण की ओर, जहा सर्दी कम पडती है, चले जाते है। कुछ जाते होगे, पर सभी नही जाते क्योकि दिसम्बर-जनवरी में भी हम उत्तर बिहार के इलाके में इसे बोलते सुनते है। पर निस्सन्देह इसके सगीत का पूर्ण विकास वसत और ग्रीष्म तथा पावस ऋतुओ में ही होता है। निशा काल में भी जब शरच्चन्द्र पीयूष की वर्षा करता है, यह बोलने से नही चूकता। यह पेडो पर ही रहता है और कीडे-मकोडे तथा छोटे-छोटे फलो से अपनी उदर-पूर्ति करता है।

पपीहे के सम्बन्ध में भी "जाकी रही भावना जैसी, प्रभु मूरति देखी तिन तैसी", कहा जा सकता है। कोई तो इसकी वाणी में "पी-कहा" का आभास पाते है, कोई "पिया-पिया" का, कोई "पिऊ-पिऊ" का तो कोई "पी-पी हो" का। महाराष्ट्र वालो का कहना है कि यह "पाऊस आला" (पावस आता है) कह-कह कर वर्षारम्भ की सूचना देता है।

आधुनिक महिलाए प्राय घर सभालने से घबराती हैं। गाना-बजाना, नृत्य, पार्टिया, इन्हें छोड कर गृहस्थी के रसहीन कामो में वे नही पडना चाहती। यही दशा हमारी गाने वाली चिडियो की भी है। कोयल का हाल तो आपने सुना ही है कि किस छल-छन्द के साथ वह अपने अडे कौए के घोसले में रख आती है तथा काक-दम्पति से अपनी सन्तान का लालन-पालन कराती है। अपना बोझ उनके मत्थे डाल कर अपना सारा वक्त नृत्य एव सगीत-साधना में बिताती है। पपीहे का भी बहुत कुछ यही हाल है। मादा अपने अडे स्वय न सेकर चरखी (सतभइये) के घोसले में रख आती है—अपने गले का भार उतार आती है और फिर दिन-रात "पी-कहा" का धुन लगाती है, मस्ती के साथ गाती रहती है। पर उसे इस कार्य-साधन में कपट से काम लेने की आवश्यकता नही पडती। चरखी स्वभाव से बडो सीधी-सादी चिडिया है और हर समय घोसले में रहती भी नही। अत पपीहे की मादा बडी आसानी से अपने अडे उसके घोसले में रख आती है। चरखी बडे शौक से उन्हें सेती है तथा बच्चो का लालन-पालन धात्री के समान करती है।

कोयल और पपीहा—इन दोनो के ही अडे नीले रग के होते है। दोनो का अडे देने का समय अप्रैल से जून तक समान है।

पपीहे की एक जाति ऐसी है जो साधारण पपीहे से भिन्न है। इसे "चातक" कहते है। हालाकि सस्कृत तथा हिन्दी भाषा के साहित्यो में "चातक" शब्द का प्रयोग समस्त पपीहा जाति के लिए किया गया है, पर पक्षी-शास्त्र के पण्डितो ने "चातक" से काली जाति के पपीहे का अर्थ माना है। कद में यह उक्त पपीहे के बराबर ही होता है पर इसके सर पर बुलबुल की तरह एक तुर्रा होता है। इसका रग बिल्कुल काला होता है, जिसमें काफ़ी चमक होती है। इसकी आदत भूरे पपीहे से कुछ भिन्न होती है। भूरा पपीहा वसन्त काल से ही बोलने लगता है, चातक वर्षारम्भ से। पपीहे की तरह वह पत्तो की ओट से नही गाता बल्कि अन्तरिक्ष में उडता हुआ काफी दूर चला जाता है, मानो बादलों के आलिंगनार्थ, और फिर वहा से एक प्रकार की बोली बोलता है जिसके सम्बन्ध में बगला-भाषियो का कहना है कि वह बादल से "फटिक जल" (स्फटिक जल) कह कर जल की भिक्षा मागता है। पता नही, "चातक रटहि तृषा अति ओही" से गोस्वामी तुलसीदास का आशय भूरे पपीहे से है कि इस चातक से। सम्भव है दोनो से ही हो, क्योकि वर्षारम्भ पर दोनो ही घन से जल की याचना करने लगते है।

अग्रेजी में पपीहे को "ज्वर-ग्रस्त-मस्तिष्क पक्षी" कहते है, क्योकि इसकी बोली अंग्रेजो को पसद नही। रात में जब यह गाना आरम्भ करता है और धीरे-धीरे ध्वनि को ऊचा कर अन्तरा पर ला देता है, एक के बाद दूसरा फिर तीसरा इस तरह अनेक भिन्न-भिन्न वृक्षो से बोलना शुरू कर देते है, तो उनका कहना है कि उन्हें बडा कष्ट होता है, उनकी नीद हराम हो जाती है। पर हम भारतवासी तो पपीहे का गाना सुनने को तरसते रहते है।

कुछ पक्षी-विशेषज्ञों के अनुसार, पपीहे की रटन उसकी प्रणय-पुकार है जो प्रजनन-काल की समाप्ति के बाद भी जारी रहती है। इसका कारण कुछ विशेष ग्रथियो की क्रिया है। जब ये ग्रथिया कुछ समय के लिए अपनी क्रिया बन्द कर देती है तो यह

पक्षी मूक हो जाता है।

पपीहे की कथा समाप्त हुई। आषाढ़ का आरम्भ है। आकाश में मेघ घिर आए हैं—वे मेघ जिन्हे आज से न जाने कितने दिन पूर्व रामगिरि-पर्वत पर कान्ता के विरह में दग्ध यक्ष ने देखा था—

आषाढ़स्य प्रथम दिवसे मेघमाश्लिष्टसानु
वप्रक्रीडापरिणतगजप्रेक्षणीय ददर्श।

सामने वृक्ष पर पपीहा "पी-कहा" की रट लगा रहा है, कभी धीमे, कभी उच्च स्वर में, मानो आगन्तुक मेघ से अपने हृदय की बातें खोल-खोल कर कह रहा है। क्या यह वही "चातक" है, जिसके सम्बन्ध में भर्तृहरि की यह उक्ति है—

एक एव खगो मानी वने वसति चातक
पिपासितो वा म्रियते याचते वा पुरदरम् ॥

और गोसाईं तुलसीदास का यह कथन—

ऊची जाति पपीहरा, पियत न नीचो नीर,
कै जांचै घनस्याम सों, कै दुख सहै सरीर।

तो क्या सचमुच ही पपीहा ताल-तलैयो का जल नही पीता? "चातकव्रत," जिस की चर्चा विक्रमोर्वशीयम् नाटक में निम्नलिखित शब्दो में महाकवि ने की है, क्या काल्पनिक है?

अदो दाव तुए दिव्वरसाहिलासिणा चादअव्वद गहिवम्।

पपीहे का यह प्रण सच हो या काल्पनिक, पर इतना अवश्य है कि स्वाति-नक्षत्र अर्थात् शरद् काल के बीतते-बीतते उसके गले में वह सोज़ नही रहता जो वसन्त, ग्रीष्म, वर्षा एव शरद् ऋतुओ में रहता है—बल्कि उसका गाना बन्द-सा हो जाता है। सभव है शीतकाल के आविर्भाव के कारण ऐसा होता हो या स्वाति के उस घन के द्वारा जल प्राप्त कर, जिसकी चर्चा युग-युग से इस देश के कवि करते आ रहे हैं।

कहते हैं, पपीहे की रट, विरही जनो के, विशेषकर विरह-विकल वनिताओ के लिए बडी कष्टदायी होती है, विरह-वाण से उनकी छाती छेदती है। प्रियतम और प्रियतमा की याद दिला-दिला कर उनके हृदय को आलोडित कर डालती है। पर यह तो हुई सासारिक जनो की बात। अब देखिए परमात्मा से जिन्होंने लौ लगा रक्खी है उनके हृदय में भी "पी-कहा" की यह चिरपरिचित ध्वनि कौन-से भाव पैदा करती है।

एक सूफी शायर "बेदिल" फ़र्माते हैं—

तेरा हुस्न इस जहा में जो न होता परतौ अफगन,
न ये फूल दिल लुभाते, न ये सब्जाज़ार होता।
न तो रट लगाती कोयल, न पपीहा शोर करता,
न वह मारी-मारी फिरती, न यह वेकरार होता!

सभव है, पपीहे की यह वेकरारी स्वाति-घन के लिए नही, बल्कि उन घनश्याम के लिए है जिनके सम्बन्ध में स्वय वृषभानुनन्दिनी ने कहा था—

न मूर्खधीरस्मि न वा दुराग्रहा,
शरीरभोगेषु न चातिलालसा,
किन्तु व्रजाधीशसुतस्य ते गुणा,
बलादपस्मारदशां नयन्ति माम्।

—हे सखि, न मैं मूर्खा हू, न मुझ में दुराग्रह है, न मुझे शरीर-सुख की ही लालसा है। किन्तु श्यामसुन्दर में ही कुछ ऐसे गुण है जो वरवस मुझे अपस्मार दशा में ला देते है।

तात्पर्य यह कि पपीहे की इस शाश्वत वेचैनी का कारण मानव की समझ में आज तक नही आ सका है।

१

श्यामा

आज इस परिवर्तनशील देश में ऐसे वहुतेरे पुराने रस्मो-रिवाज है जो समयानुकूल नही है और इसलिए धीरे-धीरे अन्तर्हित हो गए है या होते जा रहे है। महफिलो का रिवाज भी इन्ही में से एक है। खुशियों के मौके पर, विवाह, यज्ञोपवीत, दशहरा आदि शुभ अवसर पर, पहले महफिले हुआ करती थी। रात में शामियाने के नीचे या किसी वडे हाल में फर्श विछती, कारचोवी के काम के गद्दी-मसनद लगाए जाते जिनके ऊपर जरी के काम का चंदोवा तनता, सोने-चादी के इत्रदान, पानदान वगैरह सजाए जाते। चदोवा के नीचे, शादियो में नौशा तथा अन्य मौको पर सवसे विशिष्ट व्यक्ति, वैठता था, उसकी दोनो ओर सम्माननीय अतिथि और उनके पीछे दरवारी वैठते थे। वाकी सव ओर विभिन्न आगन्तुक, अड़ोस-पडोस के लोग वैठते। शामियाने के वीचो-वीच गानेवाली तवायफें या नर्तकिया तथा अन्य गायक वैठते थे। ऊपर झाड-फानूस टंगे होते थे, नीचे शमा जलती थी।

इनके प्रकाश से सारी महफिल रौशन होती थी। इन्हीं रोशनियो के सम्मुख, गायक-गायिकाओ के निकट वहुधा कुछ पिंजडे रखे जाते थे जो दिन में काले कपडो से ढके होते थे और रात में सफेद कपडो से। यह इसलिए होता था जिससे अन्दर वैठे हुए पक्षी दिन में रात का भ्रम मानकर चुप रहें और रात में चारो ओर के उजेले को दिन मान कर खुल कर तान छेडें। ये पिंजडे एक खास पक्षी के होते थे। भीतर एक छोटी-सी चिडिया वैठी हुई गायक की तान के साथ-साथ जोशो-खरोश के साथ, गला ऊचा कर गाती थी, सोटिया भरती थी, और अपनी मधुर वाणी से सारी महफिल को मन्त्रमुग्ध-सा कर डालती थी। यही नही, गायक-गायिकाओ के साथ वहुधा उसकी एक होड-सी मच जाती थी। यही है "शीरीं ...जुवान" श्यामा, जिसका परिचय इस अध्याय में दिया जा रहा है।
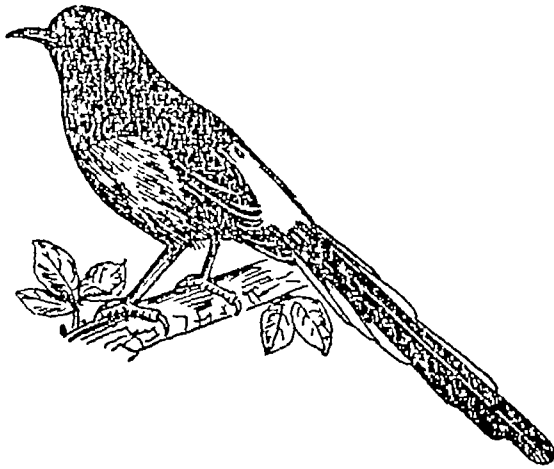
गाने वाले पक्षियो में श्यामा की सर्वश्रेष्ठता सिद्ध और सर्वमान्य है। कोयल और पपीहा यदि पक्षी समाज के 'एमेचर' या शौकीन गायिका और गायक है तो यह निपुण, गायिका पक्षी है, जिसका गला मजा हुआ है, जिसकी आवाज में ताकत है और जिसका सगीत-ज्ञान ऊचे दर्जे का है, जिसकी ध्वनि, स्वर और लय मानो तराश-खराश के बाद निष्क-लक, त्रुटिहीन, बनायी गयी हो। गरज़ यह कि उसकी गान-क्षमता की तुलना ससार के बडे बडे गवैयो से की जा सकती है। सारगी की गहरी गमक और तबलो की ठमक मानो इसके हृदय में एक लहर पैदा कर देती है, और गाने वालो के गले के अलाप पर तो इसका चुप रहना असम्भव-सा हो उठता है। यह गाती है और ऐसा गाती है कि एक समा बाध देती है, गाती ही जाती है, और स्वर को क्रम-क्रम से अन्तरा पर ला देती है। एक बार की बात है, काशी की एक प्रसिद्ध गायिका गा रही थी—

रतिसुखसारे गतमभिसारे मदनमनोहर वेषम्,
न कुरु नितम्बिनि ! गमन विलम्बनमनुसर त हृदयेशम्।

पिंजड़े मे बैठी हुई श्यामा इसे सुन रही थी। लोग पद-लालित्य तथा गायिका के स्वर माधुर्य पर लुब्ध थे। वह गाती गई—

धीर समीरे यमुना तीरे वसति वने वनमाली,
गोपीपीनपयोधर मर्दन चचल कर युगशाली।

श्यामा का अब चुप रहना असभव-सा हो उठा, उसने भी तान छेडी। गायिका ने गाया—

नामसमेतं कृतसकेतं वादयते मृदुवेणुम्,
बहु मनुतेऽतनु ते तनुसगतपवनचलितमपि रेणुम्।

इधर पिंजरे के इस पक्षी ने भी तान लगायी और उधर गायिका ने स्वर ऊचा किया—

पतति पतत्रे विचलित पत्रे शकितभवदुपयानम्,
रचयति शयनं सचकितनयनं पश्यति तव पथानम्।

श्यामा के लिए ध्वनि-दगल में हार कर वैठ जाना नामुमकिन था। स्वर को

अन्तरा पर लाकर उसने इस तरह गाना, सीटी देना शुरू किया कि गायिका की आवाज, सारगी का स्वर, तवले की ठमक, सभी मात खा गए। गाने वाली सगीत शास्त्रविशारदा थी—फिर भी इस छोटे-से पक्षी के साथ वह होड में अधिक काल तक न ठहर सकी, अन्त में यह गाती हुई कि—

मुखरमधीरं त्यज मंजीरं, रिपुमिव केलिसुलोलम्,
चल सखि कुजं सतिमिरपुंजम् शीलय नीलनिचोलम्।

उसने गाना वन्द कर दिया। लोगो ने हर्षध्वनि की—सगीत के इस दगल में श्यामा की विजय रही।

अव देखिए, एक अग्रेज पक्षी-प्रेमी श्री लोयर, श्यामा के इस मधुर सगीत के सम्वन्ध में क्या कहते है—

"एक दिन सुवह इस निपुण गायिका का सुमधुर गान सुनकर मैं मुग्ध हो उठा। मैंने उसका गान पहले कभी नही सुना था, और यद्यपि मैंने निश्चित रूप से महसूस किया कि यह श्यामा ही गा रही है, मेरी उत्सुकता तव तक शान्त नही हुई जव तक कि कुछ दिन वाद मैंने इस निपुण गायिका को गाते हुए प्रत्यक्ष रूप में न देखा।"

श्री लोयर श्यामा के घोसले की तलाश में दो वर्षों तक घूमते रहे। अन्त में उनका परिश्रम सफल हुआ, श्यामा के घोसले का उन्हे दर्शन ही नही मिला वल्कि उसकी एक सुन्दर-सी तस्वीर उतारने में भी वह सफल रहे। विलायतवालो की कद्रदानी का यह भी एक नमूना है।

अव कुछ इस पक्षी के रूप-रग के सम्वन्ध में भी सुनिए। यह काले रग की एक छोटी-सी चिडिया है। नर की पूछ के कुछ पर सफेद होते है। मादा न तो नर जैसी घनी काली ही होती है, न इसकी पूछ ही लम्वी होती है। गाता नर है। यह पहाड़ के उन हिस्सो में पाई जाती है, जहा ठडक नही होती। विधि की विडम्वना तो देखिए, स्वभाव की वह इतनी झगडालू होती है कि पिंजरे में मिया-वीवी तक साथ नही रह सकते। खाती कीडे है, पर स्वर में इनके इतनी मिठास होती है कि श्रोता को पल मात्र में ही मत्रमुग्ध कर लेती है।

जव यह पिंजरे में रहती है, इसे घी में भुना हुआ सत्तू खिलाया जाता है जिसमें प्याज, लहसुन, अडे तथा मास के अश पीस कर घी के साथ मिला दिए जाते है। कहते है, इससे इसकी आवाज वुलद होती है, इनके गले में साज और सोज आता है। सत्तू के अलावा छोटे-छोटे कीट-पतग, विशेषत टिड्डे भी इन्हे खिलाये जाते है। श्यामा पालने वालो को या उनके नौकर को आप अक्सर देखेंगे कि वे देर तक सुवह-शाम घास के मैदानो पर घूम रहे है और किसी चीज की तलाश कर रहे है, वस आप फौरन समझ ले कि ये श्यामा के लिए कीडे ढूढ रहे है।

कहते है, वन के स्वतन्त्र वातावरण में पक्षियो का गला ज्यादा खुलता है, गीत में माधुर्य का विकास होता है। पर श्यामा का हाल इस के ठीक विपरीत है। पिंजरे में, खास कर जव पिंजरा किसी काले आवरण से ढका होता है, वह ज्यादा जोशो-खरोश के साथ गाती है, उसके सगीत का अधिकाधिक विकास होता है, स्वर में माधुर्य

और गले में ताकत आती है। इसके लिए परतन्त्रता ही मानो वरदान है। इसे पिंजरे में रहते हुए अपने भोजन की चिन्ता नही करनी होती, और शायद इसीलिए यह अपना सारा समय गाने में व्यतीत कर पाती है।

अन्य पक्षियो के गाने भी यह बडी निपुणता के साथ सीख लेती है और उन्हें इस खूबी के साथ गाती है कि सुनने वाला शायद ही समझ पाये कि गाने वाली कोई भिन्न चिडिया है। यह अप्रैल से जून तक अडे देती है। किसी वृक्ष की सूराख में घास-फूस रख कर वही प्रजनन-क्रिया सम्पन्न करती है। मकान बनाने के झमेले में वह नही पडती। आखिर गाने से इसे फुरसत कहा कि यह गृह-निर्माण की झझट में पडे ?

●

दोयल या दंहगल

वहियल खंजन पक्षि-विशेष,
दाहिन दर्शन पुणयहि लेख।

—डाक

श्यामा की तरह ही दोयल भी एक छोटा-सा सगीत-प्रवीण पक्षी है, जिसके गले में माधुर्य है, और साथ-साथ तन-सौन्दर्य भी। पर यह साल भर न गाकर एक निश्चित अवधि में ही सगीत-साधना में सलग्न होता है—अर्थात् अप्रैल से जुलाई तक। कोकिल की तरह—'अब तो दादुर वोलिहे, भये कोकिला मौन'—यह भी जब वर्षा-काल आता है और मेंढक अपना राग अलापना शुरू कर देते है तो अपना गाना बद कर देता है। वसन्तकाल में जब फूल खिल उठते हैं, अमराइयो में बौर छा जाते है, टहनियो पर नये-नये पल्लव आ जाते हैं, यह तन्मय होकर गाता है। घने जगल या झाडी इसे पसन्द नही, फूलो से लदे हुए बाग ही इसे ज्यादा पसन्द है, जहा कोयल की भाति दोयल भी पत्तो की ओट से सगीत वर्षा करके श्रोताओ के हृदय में प्रेमोन्माद का सचार करता है। तभी तो उन्नीसवीं सदी के अन्त में बगाल के एक कवि ने अपनी प्रेमिका से कहा था—

के तुमि
तुमि कि आमार सेइ
हृदयमोहिनी ?

*　*　*

एस जाइ सेइ देशे, फूल फुटे, चांद हासे,
दोयल, कोयल गाय
प्राणेर रागिनी !

निस्सन्देह दोयल के गाने में 'प्राणेर रागिनी' फूट पडती है। कद में ८ इच की यह एक छोटी-सी चिडिया है। नर और मादा के रग में तनिक भेद है। नर के सर, गर्दन, सीना और पीठ पर चमकीला कालापन होता है, नीचे के हिस्से में सफेदी होती है, दुम उठी हुई होती है, मध्य के दो पर काले, वाकी सफेद होते है, डैने काले होते है जिनके वीच में
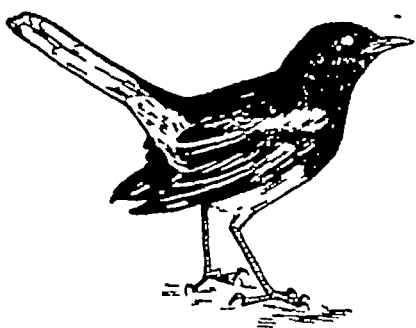
सफेदी होती है। मादा की रूपरेखा प्राय ऐसी ही होती है, अन्तर इतना होता है कि जहा नर के वदन में कालापन होता है वहा मादा के भूरापन। इनकी चोच काले रग की होती है।

नर और मादा का चिर-सम्बन्ध है। मादा अधिकतर अप्रैल और मई में अडे देती है। पेड या मकान के सूराख में या नदी के कगारो में घोसला वनाती है। इसके बच्चे अत्यन्त शोर मचाने वाले (सख्या में चार) होते हैं। प्रारभ में इनका स्वर कर्कश रहता है, पर पीछे चल कर अपने पिता की भाति यह भी मधुरभाषी हो जाते है।

कीड़े-मकोडे इसके आहार है। वैसे तो दोयल एक एकान्त-प्रिय पक्षी है। जहा कहीं भी देखिये, दो एक से अधिक एक स्थान पर नज़र न आयेंगे। पर अदमान द्वीप-समूह में इनकी यह एकान्तप्रियता न जाने कहा चली जाती है और ये सूर्योदय होते ही दल के दल गाने लगते है और खूब दिल खोलकर गाते है एव सुनने वालो को मन्त्रमुग्ध कर देते है।

●

दामा

कद में दोयल से छोटी, पर रूपरेखा में उससे मिलती-जुलती दामा भी एक गाने वाली चिडिया है जो साल भर अपने घोसले में निवास करती है और कबूतर की तरह साल में कई वार अडे भी देती है। वाग-वगीचे तथा मानव-आवास का अडोस-पडोस इसे जगल की अपेक्षा अधिक रुचिकर है। इसकी सबसे बडी पहचान इसकी दुम है, जिसे यह वारवार ऊपर उठाती रहती है। नर का रग चमकीला काला और मादा का गाढा भूरा होता है, नर के कन्धो पर सफेद चित्ते रहते है। दोनों की दुम का निचला हिस्सा कत्थई होता है। देहाती भाषा में इसे ललगडी और कलचुरी भी कहते है।
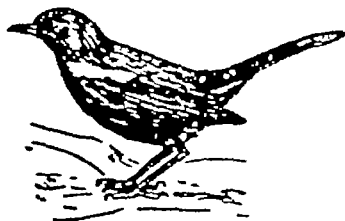
अप्रैल से जून तक इसके अडे देने का मुख्य समय है। यो तो यह साल भर अडे देती ही रहती है। इसके घोसले में दुनिया भर की चीजें पाई जाती हैं—पक्षियो के पर, ऊन, रेशम के टुकडे, साप की केचुल, रगीन कागज, टिन अथवा अवरक के टुकडे। इसे अजायवघर समझिये या किसी अघोर-पथी साधु की कुटिया।

इसके स्वर में माधुर्य है, पर श्यामा अथवा दोयल की तरह इसमें गाने की क्षमता नही होती।

इसका भी मुख्य आहार कीट-पतग ही है। यह काफी ढीठ चिड़िया है। इसे आप बहुधा अपने बरामदे अथवा गृह-प्रागण में कीडे-मकोडे पकडते पायेंगे। आपको देख कर भी यह तब तक अपने काम में लगी रहेगी जब तक आप इसे स्वय भगाने की चेष्टा न करे।

●

चंडूल

हमारे देश के साहित्य में जो स्थान कोयल और पपीहे का है, अग्रेजी साहित्य में वही 'कुकू' और 'लार्क' का है। महाकवि शेक्सपियर से लेकर वर्ड्सवर्थ तक सभी कवियो ने इन पर कुछ न कुछ अवश्य लिखा है, सुन्दर काव्य की रचना करके इन्हे अमरत्व प्रदान किया है। व्योमविहारी 'लार्क' पक्षी के सम्बन्ध में देखिए, ब्लेक की कितनी सुन्दर उक्ति है —

A skylark wounded on the wing
Doth make a cherub cease to sing

—आहत 'व्योमविहारी' लार्क,
जब उड़ान भरता है
तो परी-कुमारों का गायन,
सहसा थम जाता है।

और मिल्टन की यह उक्ति देखिए—

To hear the lark begin his flight,
And singing, startle the dull night
From his watch-tower in the skies
Till the dappled dawn doth rise

सुनना लार्क पक्षी को पख फड़फडाते हुए
गाते हुए, गहन-निशा को चौंकाते हुए
अपनी ऊँची बुर्जी से, गगन अटारी में,
जब तक न चित्रमयी ऊषा जग जाती है।

सुदूर व्योम से यह अपनी स्वर-सुधा की वर्षा करता है। महाकवि शेक्सपियर बड़े सुन्दर ढग से इसकी ओर इशारा किया है—

Hark, hark! the lark at heaven's gate sings,
And Phoebus 'gins to rise

—सुनो, सुनो, उस स्वर्ग-द्वार पर
लार्क गा रहा गान
पूर्व दिशा में उगा दिवाकर,
होने लगा विहान!

दार्शनिक कवि वर्ड्सवर्थ ने इसे आकाश का तीर्थ यात्री कहा है तथा उन्' बुद्धिमान पुरुषो का उपमान माना है जो ऊचा उडते है पर इधर-उधर विचरते नही—

Type of the wise who soar but never roam
True to the kindred points of Heaven and Home'

तथा यह भी पूछा है कि क्या "दु ख शोक से परिप्लावित इस पृथ्वी से घृणा करके ही वह आकाश-पथ पर चल पडा है ?"

इन सारी पक्तियो से यह साफ-साफ परिलक्षित है कि वह सीधा आकाश में उड़कर गाने वाला पक्षी है, स्वर में उसके माधुर्य है तथा निशाकाल में ही अधिकतर वह अपनी स्वर-सुधा का वर्षण करता है।

हमारे देश में यह चडूल के नाम से प्रसिद्ध है तथा इसके कई भाई-बन्धु है। इनमें दो मुख्य है—एक वह, जिसके चोटी होती है, दूसरा वह, जो कि चोटी से रहित है। वह यही है जिसका जिक्र अग्रेज कवियो ने अपनी कविताओ में किया है।

प्रकृति से यह आकाश में उड कर गाने वाला पक्षी है। यह उडता हुआ अतरिक्ष में खूब ऊपर चला जाता है और वहा से अपनी मधुर तान छेडता है। थोडी देर बाद नीचे आता है, गाता है, पर पुन ऊपर चला जाता है और गाना जारी रखता है। अपने मधुर सगीत के कारण अक्सर इसे पिंजर-बद्ध होना पडता है, पर यह दिल खोल कर तभी गाता है जब स्वतन्त्र रहता है, बन्दी नही। फिर भी इसे 'खाचार पाखी' बनना ही पडता है। वैसे यह काफी निडर है, आदमी के निकट आने पर डर कर भाग खडा होने वाला पक्षी नही। आकार में गौरैया से थोडा बडा, पर बनावट में उससे अधिक क्षीण-काय है। रग खाकी है, शरीर पर कुछ काले-पीले चिन्ह बने होते है,
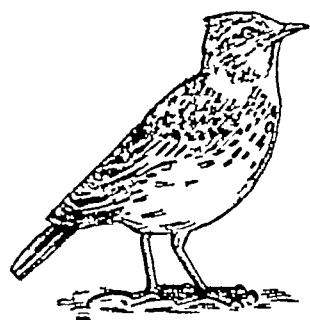
इसका घोसला प्याले के आकार का होता है, जिसे यह जमीन पर बनाता है।

इसी की एक जाति है "अगिन", जिसके सर पर चोटी नही होती। बाकी सब कुछ चडूल जैसा ही होता है, लेकिन पाख के नीचे एक पट्टी होती है जो उडते समय लाल ही लक्षित होती है। यह खुले मैदान की अपेक्षा झाडियो को अधिक पसन्द करती है। आवाज में चडूल जैसी तेजी तो नही पर मिठास अवश्य है।

चडूल की बिरादरी का तीसरा पक्षी ध्योरा, दबक या जुठोली है। इसे भी खुला मैदान अधिक रुचिकर है। सात-सात, आठ-आठ के झुड में यह रहता है। कद में गौरैया से भी अधिक छोटा, पर चोंच उसके ही समान मोटी होती है। नर का सर भूरा और पीठ हल्के बादामी रग की होती है। नीचे गाढा कत्थई रग होता है। गर्दन का आधा हिस्सा भी प्राय इसी रग का होता है। ठोढी से आख तक काली धारी होती है। मादा का रग बादामी होता है। गाना मीठा होता है पर उसमें बहुविधित्व की कमी होती है। इसे कही-कही 'भरदूल' पक्षी के नाम से भी पुकारते है।

चडूल को 'भरत' नाम से भी पुकारते है। विलायती चडूल की अपेक्षा हमारे देश के चडूल कहीं अधिक मीठा गाते है। पर उन्हे पिंजरे में पालना आसान नहीं है।

भुजंगा और भृङ्गराज

गत दो-तीन दिनो में काफी बारिश हुई। जहा-तहा पानी पडने लग गया, पेड-पौध धुल कर स्वच्छ हो गये, चारो ओर मेघो का काला आवरण व्योम-मडल पर छा गया। खेत और पगडडियो पर जल और कीचड तो ज्यो के त्यो बने हुए थे, पर आकाश में मेघों का पर्दा फट चुका था और उसके भीतर से निकली हुई सूर्य की ज्योति चतुर्दिक फूल-पत्तों पर, मकानो पर, दूर्वादल की बिछी हुई फर्शों पर, हर जगह बिखर पडी थी। और मेरे शयन-कक्ष के ठीक सामने, पारिजात के वृक्ष तथा टेलीफोन के खमे पर प्राय दस-बारह काली-काली चिडिया जोरो में शोर मचा रही थीं, एक दूसरे पर छापे मार रही थी, कूदती थी, दौडती थी, मानो टहनियो पर आख मिचौनी-सा कोई खेल खेल रही हो! यही नहीं, वे जोर-जोर से कुछ गा भी रही थीं। मुझे इन्हे पहचानने में देर न लगी—ये भुजंगे या भुजगे थे जिन्हें हम बहुधा टेलीग्राफ के तारो पर बैठे देखते है, खास कर जब हम ट्रेन में सफर करते रहते है।

इन्होने आज की अपनी प्रात कालीन क्रीडाओ से मुझे इन पर कुछ लिखने को विवश कर दिया। जैसा कि आपने देखा होगा—देखने में ये बिल्कुल काले होते है, मानो तार-कोल से रँगे हुए हो, और इनकी पूछ असाधारण रूप से लम्बी तथा दो सिरो की होती है। पूँछ के परो की सख्या दस होती है। नर और मादा में कोई अन्तर नही होता। कद में ये बुलबुल के बराबर होते है।

छोटी चिडियो में सबसे बहादुर पक्षी है यह भुजगा। छोटे शरीर में मानो सिंह का हृदय, जो कभी भयभीत नही होता, डाल दिया गया हो। (चित्र सख्या ६)

इसकी वीरता देखनी हो तो इसे घोसला बनाने के समय या, अडा सेते समय देखें। उन दिनो इसका मिजाज हमेशा गर्म रहता है। कौआ, चील आदि पक्षियों की बात तो दरकिनार, यदि बन्दर इत्यादि भी इसके घोसले के आसपास आ जायें तो यह उनकी बुरी तरह खबर लेता है। जान हथेली पर लिये फिरता है। उन पर इस तरह टूट पडता है मानो किसी कनेरी पर बाज टूटता हो। चोच से उस पर कठिन प्रहार करता है, कूद-कूद कर ऐसा वार करता है कि अन्त में उसे जान लेकर भागना ही पडता है। यही नही आदमी तक को उसके मस्तक पर उड-उड कर चोच से प्रहार करके परेशान कर डालता है। यही कारण है कि कई और पक्षी, खास कर पडुक और पीलक, भुजगों के घोसलो के पास ही अपना घोसला बनाते है और ये बडी प्रसन्नता से उनकी जान-माल की भी रक्षा करते है। इसीलिए तो कही-कही ये 'कोतवाल-पक्षी' के नाम से भी पुकारे जाते है। निस्सन्देह बडे वीर है ये और किसी भी परिस्थिति में हिम्मत नही हारते।

निर्दोष पक्षियो पर ये हमला नही करते, उनसे भाई-चारे का ही व्यवहार रखते है, पर कभी-कभी ऐसा जरूर होता है कि ये भूखे होने पर उनका आहार छीन लिया करते है। धूर्तता का भी इनमें अभाव नही है। जब-तब शिकरे की-सी आवाज करके ये और पक्षियो को सशकित कर डालते है, वे अपना आहार छोड कर भाग खडे होते है और ये आनन्द के साथ उसे खा जाते है। शायद उनकी मूर्खता पर जी भर हँसते भी है।

चित्र सख्या ११ अपना अडा अन्यत्र ले जाते हुए एक पक्षी

त्र सख्या १२ बच्चों को भोजन देते हुए
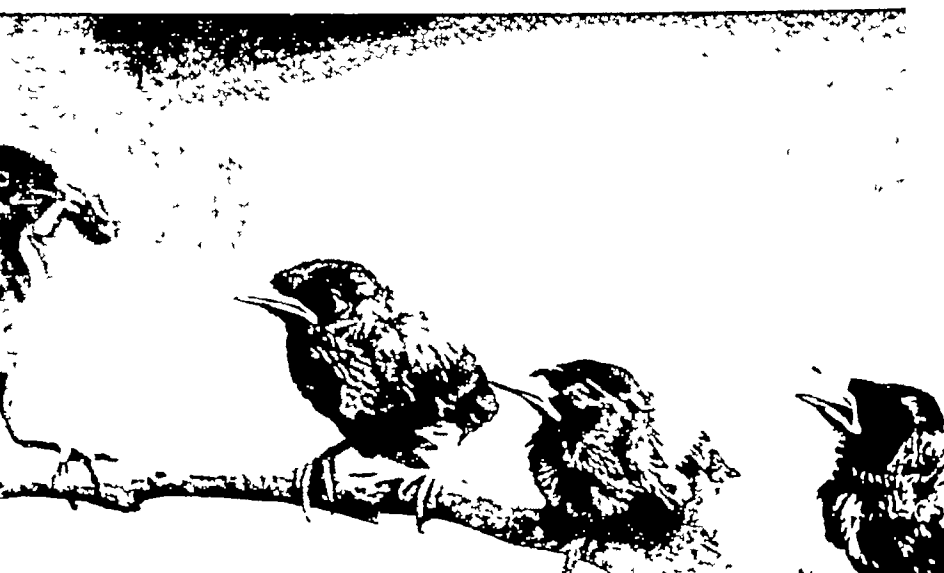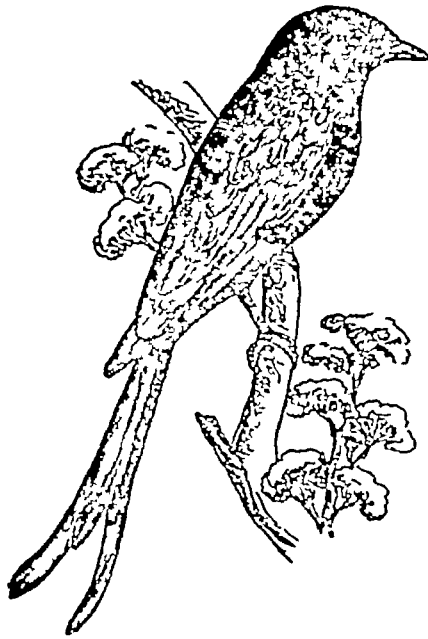
भुजगों का मुख्य भोजन छोटे-छोटे कीडे तथा पतगे है। जब वे हवा में उडते होते हैं तभी उन्हे ये पकड-पकड कर चट कर जाते ह । टेलीग्राफ के तारो पर शायद ये उनकी ही प्रतीक्षा में चुपचाप बैठे रहते है, खासकर गोधूलि के समय, जबकि पतगे अधिकतर बाहर निकला करते है, और फिर उन्हे देखकर बिजली की तरह उन पर टूट पडते हैं। उस समय भुजगे की तेजी देखने ही योग्य होती है। पख और पूछ उठ पडती हैं और वे आकाश से जमीन पर बम बरसाने वाले "डाइव बाम्बर" की भाति कीडे पर सीधे टूटते हैं और उसे चोच में दबा कर पुन: अपने स्थान पर जा बैठते है। वायुयान की तरह इसकी दुम इसके इस कार्य में बडी सहायक होती है ।

गाय, भैंस आदि पशुओ के पृष्ठ भाग पर बैठना भी भुजगे को बहुत पसन्द है। बहुधा आप देखेंगे कि चरागाहो में अथवा खेतो में यह उन पर बैठा हुआ धूप में चोच खोले हाफ रहा है।

घोसला बनाने में ये अत्यन्त निपुण हैं। घास-फूस का अतिशय सुन्दर, गोल प्याले-जैसा इनका घोसला होता है, जिसे ये मकड़ी के जाल के तन्तुओ से पेड की ऊची शाख में जकड कर बाध देते हैं। पर इनके घोसलो से अपने आपको दूर रखना ही वाछनीय है, क्योकि घोसले के पास किसी के जाते ही ये आगबबूला हो जाते है।

मादा के अडा देने का समय अप्रैल से अगस्त तक है। अंडो की सख्या चार-चार पाच-पाच तक होती है। रग भी दो प्रकार के होते है—बिल्कुल सफेद अथवा लाल छींटो के साथ । इस देश के हर हिस्से में ये पाये जाते हैं तथा सभी प्रान्तो में इनके भिन्न-भिन्न नाम भी है, जैसे बगाल में फिंगा, दक्षिण में बुचगा, उत्तर भारत में भुजगा, भुजैल आदि। ये पाच हजार फुट की ऊचाई तक के पहाडो पर प्राप्य है।

प्रकृति की लीला तो देखिये—स्वभाव के ये इतने लड़ाकू, पर बोलने में इतने मधुर-भाषी !

इनकी बोली बडी मीठी होती है। पौ फटते ही जब मुर्गा कर्कश स्वर में बांग देने लगता है तथा कौए काव-काव करना शुरू करते है, तो ये अपनी सुरीली बोली से हमें जगाते है, मानो प्रभाती गा रहे हो। सन्त तुलसी का "जागिये कृपा निधान पछी बन बोले" वाला पद या कि ललित राग में सूरदास का यह पद—

जागिये गोपाल लाल, आनद-निधि नंद-बाल
जसुमति कहै बार-बार, भोर भयो प्यारे ।

नैन कमल दल विशाल, प्रीति-वापिका-मराल,
मदन ललित वदन उपर कोटि वारि डारे।

प्रभात वेला में गाने के कारण ही शायद गावों में लोग इन्हे "ठाकुर जी" के नाम से भी पुकारा करते है।

भुजगो की बिरादरी का ही एक पक्षी है, जो कद में इनसे काफी बडा होता है। वह है भृगराज (भृगराज तेल का इससे कोई सम्बन्ध नही है, भृगराज पौधे से है)। यह भुजगे से कद में प्राय दूना होता है तथा इसके सर पर परो की एक कलगी होती है। पूछ काफी लम्बी होती है। रग समूचे बदन का नीलापन लिये हुए काला होता है। कही-कही सफेद चोच तथा डैने के पर में सफेदी लिए हुए भृगराज भी देखे गये है जो काले के साथ सफेदी के मिश्रण से बडे सुन्दर लगते है। पर ऐसे शायद इने-गिने ही होते है। आम तौर पर इस किस्म के भृगराज नजर नही आते।

भृगराज गान-विद्या-विशारद पक्षी है। पक्षियो में इसके जैसा उस्ताद शायद ही कोई हो। यही कारण है कि यह इतना लोकप्रिय भी है। दूसरी चिडियो की बोलियों को नकल भी यह बड़ी आसानी से और बड़ी निपुणता से कर लेता है।

पिंजरे में यह आसानी से पाला भी जाता है, बशर्ते कि पिंजरा काफी बडा हो और इसे काफी सख्या में कीड़े-पतिंगे खाने को मिलते रहे। पिंजरे में यह मस्ती के साथ अपनी सुरीली तान छेड़ता है तथा श्रोताओ को मत्र-मुग्ध कर देता है।

प्रसिद्ध शिकारी जिम कॉर्बेट ने अपनी एक पुस्तक में लिखा है—

"कई वर्ष हुए बी० एन० डबल्यु० रेलवे के एक स्टेशन मनकापुर का ऐंग्लो-इडियन स्टेशन मास्टर भृगराज तथा श्यामा पक्षी पाल-पाल कर वेचा करता था। ट्रेन वहाँ देर तक ठहरा करती है। अत यह एक नियम-सा बन गया था कि यात्री ट्रेन छोड कर उसके डेरे पर जाते तथा भृगराज और श्यामा के पिंजरे ले-ले कर लौटते थे। वह पक्षी सहित पिंजरे की कीमत ३०) प्रति पिंजरा की दर से लिया करता था।"

भृगराज पक्षियो की ही नही, बल्कि जानवरो की बोली की भी नकल बडी खूबी से करता है। जिम कॉर्बेट ने अपनी उक्त पुस्तक में इसकी चर्चा करते हुए एक रोचक घटना का उल्लेख किया है, जो इस प्रकार है—

"मेरी उपस्थिति में एक चीते ने एक अल्पवयस्क हरिण की हत्या कर डाली। चीते को कुछ दूर भगा कर मै मृत हरिण के पास लौटा तथा झाडी के एक वृक्ष से उसे वाधा। चूकि आस-पास कोई सुभीते का वृक्ष न था, मै अपना कैमरा लेकर जमीन पर ही वैठ गया। शीघ्र ही एक भृगराज कुछ छोटी चिडियो के झुड के साथ वहा आ पहुचा। मृत हरिण से तो नही, चूकि उसके लिए यह कोई असाधारण घटना न थी, पर मुझे देखकर वह कुछ चकित-सा हुआ, पर जब उसे यह विश्वास हो गया कि मै कोई भयकर वस्तु नही हू तो उडकर पुन उन छोटी चिडियो के वीच चला गया जो डाल पर बैठी हुई चहक रही थी। चिडिया मेरे वायी ओर थी और मै दायी ओर से चीते के आने की आशा कर रहा था, जब कि सहसा भृगराज हरिणो की-सी आतकपूर्ण वोली वोल उठा जिसे सुनते ही वाकी चिडिया, जिनकी सख्या पचास के करीव थी, एक साथ चिल्लाती हुई ऊपर की डालो पर भाग गयी और फिर जोर-जोर से भय सूचक शव्दो में वोलने लगी। भृगराज को देख कर मुझे अव चीते के चलने-फिरने का—अस्तित्व का—पता लगन

लगा, चीता पक्षियो की बोली से अप्रसन्न हो कर अपनी राह बदल कर अब ठीक मेरे पीछे की ओर मुड आया था। झाडी छिछली सी थी, अतएव वह आसानी से मुझे देख पाया तथा गुर्राता हुआ जगल की ओर बढ चला। साथ-साथ मृगराज भी। बडे आनन्द के साथ अब वह विभिन्न उम्र के हरिणो की बोली—चीत्कार—बारी-बारी मे बोल रहा था।

थोडी देर के बाद मृगराज ने पिण्ड छुडा कर चीता पुन वहा लौटा और जब कि वह बचे हुए मृग हरिण का बन्धन तोडने में लगा हुआ था, मैंने आसानी के साथ अपने कैमरे मे उसकी तस्वीरे उतार ली।"

बुलबुल

आलम को लुभाती है पियानो की सदाएँ,
बुलबुल के तरानो में अब लय नहीं आती।

जिस पक्षी के सबंध में महाकवि अकबर की यह उक्ति है, मेरे इस छोटे-से बैठकखाने के बरामदे में गत कई सप्ताह से उसके एक जोडे ने घोसला बना रखा है। सुबह से शाम तक अधिक समय वे इस बसेरे के इर्द-गिर्द मडराते रहते हैं। थोडी देर के लिए बीच-बीच में बाग के सुदूर कोने पर जाते हैं, पर शीघ्र ही लौट आते तथा घोसले में जा कर अपने नवजात शिशुओ की कुशल-क्षेम पूछते हैं। मैं बैठा-बैठा इस दृश्य को देखा करता हू और सोचता हू—क्या ये ही वे पक्षी हैं, जिनकी तारीफ में सैकडो वर्षों से फ़ारस के शायरो ने अपनी कलम तोड डाली है और उनकी नकल हिन्दुस्तान के शायरो ने भी की है। जब मेरे दिल में ये विचार उठते है, तो मेरी अवस्था कुछ वैसी ही होती है जैसी कि जगद्विख्यात अद्वितीय सुन्दरी हेलेन को देखकर डाक्टर फास्ट की हुई थी और वे चिल्ला उठे थे—

Is this the face that launched a thousand ships
And burnt the topless towers of Ilium ?

—क्या यही वह मुखडा है, जिसकी प्राप्ति के लिए हजारो जहाज युद्ध के लिए निकल पडे थे तथा ईलियम शहर की बडी-बडी अट्टालिकाओ को जल कर भस्मीभूत होना पडा था ?

ये उद्गार उस समय के है, जबकि मेफिस्टोफिलिस नामक एक जादूगर ने मृत हेलेन की आत्मा को शरीरधारी रूप में उसके सामने उपस्थित किया था। मेरा हृदय भी बुलबुल को देख कर पूछ उठता है—क्या यही वह पक्षी है, जिसे शेख सादी एव हाफ़िज जैसे महान् साहित्यकारो का (उन्हे 'बुलबुले-शीराज' कहते हैं) उपमान बनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था ? उर्दू के एक प्रसिद्ध कवि चकबस्त ने लिखा था—

बुलबुल को गुल मुबारक, गुल को चमन मुबारक,
हम बेकसो को अपना प्यारा वतन मुबारक।

तथा फारसी के एक अन्य शायर ने—

ब गुलबुन बुलबुलो कुमरी ब-सरवे बोस्तां नाजद।

'बुलबुल को गुल मुबारक', शायर की इस उक्ति का निस्सन्देह मेरे बाग की बुलबुलो ने पूरा उपयोग किया है तथा 'गुलबुन' (गुलाबो) पर अपनी पूरी प्रीति दिखाई है, क्यो-

कि इसमें रहने वाली बुलबुलें, जिनकी सख्या सौ से कम न होगी, दिन भर डालों पर थिरकती और चहकती हुई निर्भयतापूर्वक फूलो का रसास्वादन करती रहती हैं। बगाल के प्रसिद्ध कवि नजरुल इस्लाम ने इस भय से कि बुलबुल का डाल का हिलाना कहीं सोए हुए फूल को जगा न दे, कहा था—"बुलबुलि, तुइ फूल शाखा ते दिस् ने आजि दोल"—अर्थात् बुलबुल, तू फूल की डाल को आज डुला मत दे। कवि को यह भले ही पसन्द न हो, पर मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि फूल अपनी प्रियतमा की इन छेड़खानियों के लिए तरसते रहते हैं।

तो आखिर ये बुलबुलें हैं कौन ? बुलबुल कद में गोरैये से कुछ बडी एक ऐसी चिडिया है, जिसकी बनावट सुन्दर तथा अदायें मनमोहक होती हैं। इसके सिर पर मुर्गे-जैसा एक तुर्रा होता है, जो दो प्रकार का है—घना और नुकीला। भारतवर्ष की फुलवारियों, वन-उपवनो में ये बहुतायत से पाई जाती हैं। काली होने पर भी चित्ताकर्षक हैं। इनकी दुम के नीचे का भाग सुर्ख होता है, जो इनकी खूबसूरती को और भी ज्यादा बढ़ाता है। इनका भोजन अधिकतर फूल-फल है, पर कभी-कभी ये छोटे-छोटे पतगो को भी अपना आहार बना डालती हैं। श्री मेसन नाम के एक सज्जन ने पूसा (बिहार) में एक दफा ३६ बुलबुलों की उदरस्थ वस्तुओं की परीक्षा की थी, जिनमें १२९ प्रकार के कीडे-मकोडे पाये गये थे, ९६ तो उनमे ऐसे थे जो मनुष्यो के लिए काफी नुकसानदेह माने जाते हैं और विषैले हैं।

धान आदि के खेत मे लगे हुए नाज को खाने में भी ये अन्य पक्षियो से किसी कदर कम उस्ताद नही होती, खेत-का-खेत चट कर जाती हैं। तभी तो 'बरगी,' मराठो की लूटपाट से सतप्त बगाल के किसी किसान ने रो-रोकर कहा था—

छेले घुमालो, पाडा जुड़ालो,
बरगी एलो देशे,
काल बुलबुलि ते धान खेलो,
खाजना देबो किशे ?

—कल बुलबुलें खेत का धान चट कर गयी, अब सरकारी कर किस प्रकार दूगा !

बुलबुलें पाली जाती हैं और पालतू बुलबुले काफी शोख भी होती हैं। इन्हे बधन में अथवा पिंजरे में रखने की आवश्यकता नही रहती, ये पालने वालों के हाथो और कन्धो पर आनन्द से बैठती और चहकती रहती हैं। प्राचीन काल में शौकीन-मिजाज लोग बाज अथवा परेवा-कपोत की भाति इन्हें भी हाथो पर बिठा कर घूमा करते थे। बुलबुल लडाने की भी परिपाटी थी। राजा-महाराजा, नवाब रईस, अमीर-उमरा, खास तौर पर बुलबुले लडाया करते थे और इनकी लडाई में आम जनता वैसी ही दिलचस्पी लिया करती थी,
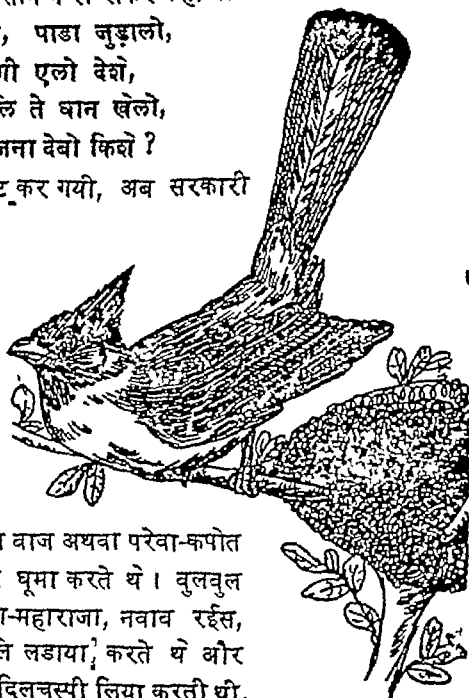
जैसी कि आजकल फुटबाल और क्रिकेट के मैचो में लिया करती है। लड़ाई के मैदान में भीड उमड पडती थी तथा विजेता बुलबुलो पर लोग कुर्बान जाते थे। अन्य सभी बुलबुलो को पराजित कर जो सर्वश्रेष्ठ, विजेता होती थी वह उस वर्ष की 'चैम्पियन' मानी जाती थी तथा उसके पालक उसके अड्डे—बैठने वाली काठ की लम्बी भीट—पर सोना-चादी मढाते थे। उसे अगले वर्ष के लिए बडी कद्र के साथ रखते थे तथा अन्य बुलबुलो को उडा देते थे। अवध के नवाबो को बुलबुले लडाने का खास शौक था। पर अब वह जमाना न रहा "वे चौकिया बदल गई, थाना बदल गया।" राजा-महाराजा, नवाब, ताल्लुकेदार, ज़मीदार चले गये, रियासते न रही और न रही बुलबुल पालने की वह पुरानी प्रथा।

बुलबुल की कई उपजातिया है (१) सबसे सार्वलौकिक बुलबुल वह है जो लम्बाई मे प्राय ६ इच की होती है तथा जिसकी चोटी (तुर्रा) एव पूछ बिल्कुल काली होती है। हा, दुम के निचले हिस्से पर, कुछ सफेदी तथा गुलाबीपन अवश्य होता है। गले के पास का हिस्सा भी काफी काला होता है। भारतवर्ष के अधिकाश हिस्सो में इसी जाति की बुलबुले काफी सख्या में पाई जाती है।

(२) दूसरी किस्म की बुलबुल, देखने में पहली किस्म की बुलबुल से अधिक चित्ताकर्षक होती है। इसकी लम्बाई पहली किस्म की बुलबुल से कुछ छोटी होती है। इसकी पीठ भूरे रग की और नीचे का हिस्सा पूर्ण रूप से सफेद होता है। दुम पर सफेद धब्बे होते है। पर इसी जाति की एक दूसरी बुलबुल भी पाई जाती है, खासकर हिन्दुस्तान के पश्चिमी प्रान्तो में, जिसकी छाती पर एक काली रेखा-सी खिची होती है और पूछ पर सफेद धब्बे नही होते। दोनो के लम्बे, घने, काले तुर्रे होते है, गाल पर सुर्ख धब्बे तथा पूछ के नीचे सुर्खी होती है। इस जाति की बुलबुले हिन्दुस्तान के कुछ हिस्सो तथा बर्मा में पाई जाती है तथा सुन्दरता के लिए विख्यात है।

(३) तीसरी किस्म की वह बुलबुल है, जो कद में न० २ की ही भाति होती है। सिर पर चोटी भी उन्ही-जैसी होती है, पर रग बिल्कुल भिन्न होता है। घना तथा बिखरा पख-समूह, जिसका रग, शुरू से आखीर तक, सिवा काले सिर के, पीला तथा आखें भी अन्य बुलबुलो के ठीक विपरीत, पीली होती है। ये इस देश के कुछ ही हिस्सो में पाई जाती है।

(४) श्वेत गालो वाली बुलबुल, सुन्दरता में सबसे बडी-चढी है। इसके हाव-भाव से यह साफ जाहिर होता है कि इसे अपनी सुन्दरता पर बडा नाज भी है। कद मे प्राय आठ इच की, गले पर कालापन, पूछ के निम्न भाग पर सतरे के रग का पीला धब्बा, कही-कही सफेदी भी, और चेहरे के दोनो ओर श्वेत-वर्ण के सुन्दर धब्बे होते है। आखे काली और बडी तथा सिर के तुर्रे का हर एक पर भरा-पूरा एव घुघराला-सा होता है। यह एक प्रकार से पर्वतीय बुलबुल है, क्योकि इसका निवास-क्षेत्र मरी की पहाडी से लेकर भूटान तक है तथा ६००० फुट की ऊचाई तक यह पाई जाती है। कश्मीर में लोग इसे बडे प्यार से पालते है तथा चम्बा मे इसे पैनजु के नाम से पुकारते है।

(५) पाचवी किस्म की बुलबुल वह है, जिसके कान श्वेत होते है तथा पूछ के नीचे का हिस्सा पीला, बिल्कुल केसरिया रग सा होता है। ये मध्य भारत से लेकर पाकिस्तान तथा फारस तक में पाई जाती है। फारस की प्रसिद्ध बुलबुल की इससे अधिक समानता

—ओ मधुकंठी चिड़िया ! जो मूर्खतापूर्ण ध्वनियों से दूर रहती है।

—ओ सर्वाधिक संगीतमयी ! ओ सर्वाधिक करुण ! ओ कल कूजनवती ! बहुधा वनो में तेरा सान्ध्यगीत सुनने के लिए मै तेरा आह्वान किया करता हू।

तथा एडविन आरनल्ड ने लिखा—

The Bulbul, which did chase the jewelled butterflies

—वह बुलबुल जो हीरो सी सुन्दर तितलियो के पीछे दौडती थी !

और कश्मीरी ग्राम-गीत के किसी अज्ञात रचयिता ने कहा—

गाओ, गाओ, हे बुलबुल, आयी बहार, आयी बहार अब।

लेकिन कुछ ऐसे "जाहिदे-खुश्क" इस मुल्क में पैदा हुए, जिन्होने उसके आन्तरिक माधुर्य और उसके गुणो की ओर दृष्टि न डाल कर केवल उसके पार्थिव शरीर को ही देखा और बडी बेरहमी से साथ कहा—

मालूम है मुझे सब बुलबुल तेरी हकीकत,
एक मुश्त उस्तख्वा है, दो पर लगे हुए हैं।

शायद ऐसे ही जनो के—जो बुलबुल की रूह को न देखकर केवल उपयोगितावाद के सिद्धान्त पर उसके शरीर को ही देखते है और उसके भीतर वहने वाली सरसता की शाश्वत निर्झरणी की ओर दृष्टिपात नही करते—सम्बन्ध में महाकवि क्षेमेन्द्र ने लिखा था—

यस्तु प्रकृत्याश्मसमान एव कष्टेन वा व्याकरणेन नष्ट.
तर्केण दग्धोनल धूमिना वाप्य विरुद्धकर्ण. सुकवि प्रबधै.
न तस्य वक्तृत्व-समुद्भव. स्याच्छिक्षा विशेषैरपि सुप्रयुक्तः
न गर्दभो गायति शिक्षितोऽपि सदर्शित पश्यति नार्कमधः।

ठीक ही कहा है कि जो स्वभाव से ही प्रस्तर के समान है, वे बुलबुल की कीमत-कद्र क्या जाने ? पर जिस ससार में ईसा और मसूर जैसे लोग सूली पर चढा दिए गए, वहा यदि बुलबुल के साथ ऐसा निष्ठुर व्यवहार हुआ तो इसमें आश्चर्य ही क्या ? कहा भी है—

निष्ठुरता ही तो इस जग का सबसे बड़ा नियम है,
कोमलता, करुणा, सहृदयता इन्हें ढूढना भ्रम है !

पक्षी-समाज के साथ मानव का व्यवहार एक-सा नही रहा है। कहते है कि इटली का प्रसिद्ध दार्शनिक चित्रकार जगद्विख्यात लियनार्डो द विंची पक्षियो से इतना प्रेम रखता था कि वह उन्हें वन्दी अवस्था में देख ही न सकता था। उसकी यह आदत थी कि वह पिंजरवद्ध पक्षियो को खरीद-खरीद कर उन्हें वन्धनमुक्त करता रहता था। दूसरी ओर अग्रेजी का कवि राल्फ हागसन लिखता है—

I saw with open eyes
Singing birds sweet
Sold in the shops
For the people to eat,
Sold in the shops of
Stupidity street.

उस्ताद मसूर द्वारा चित्रित एक पक्षी   चित्र संख्या १४

मैंने इन आंखों से देखीं
गानवती चिड़ियां सुन्दर
बिकते बीच बजार, मनुज का
भोजन बनने हित रुचिकर
देखा दूकानों पर बिकते
मूर्ख-मार्ग पर, बीच सदर।

मनुष्य की हृदयहीनता की इस से बढ कर दूसरी कौन-सी मिसाल हो सकती है ? तभी तो नजरुल इस्लाम ने शोक भरे शब्दो में कहा था—

केमन राखि आखि-वारि चापिया,
प्राते कोकिला कांदे, निशीथे पापिया !

पर बुलबुल उन पक्षियो में है जिन्हें देख कर हृदय में करुणा के नही, उमगो के भाव जगते हैं।

किसी कवि ने उसे "वन-उपवन की आली" कहा है। इसमें सन्देह नही कि 'वन-उपवन की आली' बनने की योग्यता यदि किसी पक्षी में है तो वह बुलबुल में ही, प्रकृति-नटी की मधुशाला की निपुण नर्तकी बनने की भी योग्यता वही रखती है। तभी तो, ज़िन्दा लोगो की बात तो दरकिनार, कब्र में सोयी हुई आत्माए तक यदि अपनी मज़ार पर इन चहकती हुई बुलबुलो को नही पाती, तो इनके लिए तरसती रहती हैं। जेबुन्निसा के इन विषादपूर्ण शब्दो पर ध्यान दें—

बर मजारे मां गरीबा नै चिरागे, नै गुले,
नै परे परवान. सोजद, नै सदाए-बुलबुले !

—मुझ दरिद्र की कब्र दीपक और फूल, दोनो से रहित है। अत यहा न तो परवानो के पर जलते हैं और न "सदाए-बुलबुल" (बुलबुलो की पुकार) ही सुनायी पड़ती है।

फटिकजल

वर्षाकाल के सन्ध्याकाश में घन घिरते आ रहे हैं। सूर्य के अस्त होने में समय शेष रहने पर भी धीरे-धीरे अन्धकार का प्रसार होता जा रहा है। अधिकांश पक्षी घोंसलों में दुबके हैं पर एक छोटा-सा पक्षी है जो वृक्ष से उड़ कर सीधे आकाश की ओर तेजी से जाता है, फिर उसी गति से पांखें बन्द कर नीचे आता है और फिर ऊर्ध्वगामी होता है। चोंचें उसकी खुली हुई हैं और वह लगातार कुछ बोल रहा है मानों किसी वस्तु की याचना कर रहा हो।

शीघ्र ही उसकी इस व्याकुलता का रहस्योद्‌घाटन होता है। मेघ बरसते हैं और अपनी खुली चोंचो से वह शीतल जल-बिन्दु का पान करता है और अपने हृदय की व्यथा को, प्यास को, बुझा लेता है। यह है वह छोटा-सा पक्षी, जिसे हिन्दी मे "[illegible]" और बंगला में "फटिकजल" कहते हैं। बंगाली कहते हैं कि "फटिकजल" कह-कह कर वह

मेघ से जल की याचना करता है। हिन्दी भाषा-भाषी कहते है, यह शोवि-इ-इ-इ-ग कहता है। पर खग की भाषाए जानने वाले ही बता सकेगे कि यह वास्तव में क्या कहता ह।

साहित्य में चातक की प्यास प्रसिद्ध है—'चातक रटहिं तृषा अति ओही'—और इसीलिए मेघ-वारि-बूदो का, वृक्ष की पत्तियो पर पड़े हुए वर्षाजल का वह मुक्त-कठ से पान करता है। इस पक्षी के सम्बन्ध में यह धारणा बगाल में बनी हुई है कि सस्कृत साहित्य का स्वाति-जल-प्यासा चातक यही है, पर बहुतो का मत इसके विपरीत है। उनके विचार से चातक और पपीहा दो नहीं, एक ही पक्षी है। वर्षा-बिन्दु के प्रेमी एक से अधिक पक्षी भी तो हो सकते है!

शोविग या फटिकजल एक छोटा-सा पक्षी है—अत्यन्त लजीला, अधिकतर बड़े-बड़े वट, पीपल, नीम आदि वृक्षो की पत्तियो की ओट में बैठा हुआ यह छोटे-छोटे कीड़ो का शिकार करता या सुमधुर स्वर में गान करता रहता है। अधिकतर प्रजनन ऋतु के आरम्भ होते ही नर अनेक हाव-भावो से मादा का चित्त हरने की कोशिश करता है, उसके पास जा कर बद्ध-पख रीति से बैठता है, मानो प्रणय-याचना कर रहा हो, और फिर उठ कर मधुर स्वरो में गाता है। गरज यह कि उसे रिझाने की हर प्रकार की कोशिश करता है। मादा चुपचाप बैठी हुई उसकी प्रणय परीक्षा लेती है और अत में उसकी प्रणय चेष्टाओ से सन्तुष्ट हो कर उसे प्रेम-भीख देती है।

नर जिन दिनो मादा को सम्मोहित करने में सलग्न रहता है, उन दिनो सुमधुर स्वर में गाता तो है ही, नये वस्त्र भी धारण कर लेता है अर्थात् उसके परो के रग में एक विचित्र परिवर्तन आ जाता है। प्रजनन ऋतु के समाप्त होते ही वे फिर पहले जैसे हो जाते है।

कभी-कभी यह भी देखा गया है कि नर के बदले मादा ही काम-चेष्टा में सलग्न होती है। तरह तरह के हाव-भावो से नर को अपनी ओर आकर्षित कर के वह अपनी इच्छा की पूर्ति करती है। इस पक्षी की यह एक विशेषता है, क्योकि पक्षियो में प्रकृतित नर ही मादा को रिझाने की चेष्टा करते है, मादा नरको रिझाने की नही।

ऐसा प्रतीत होता है कि फटिकजल की मादा, अत्यन्त पति-अनुरागिनी है क्योकि वह हमेशा नर के साथ-साथ ही रहती है, यहा तक कि नर यदि क्षणमात्र को भी उडा तो वह भी उसके साथ-साथ ही उड पडती है। मानो वह—

जिउ बिनु देह, नदी बिनु बारी,
तैसेइ नाथ पुरुष बिनु नारी।

के सिद्धान्त पर चलने वाली है।

फटिक पक्षी का रग-विश्लेषण एक कठिन समस्या है। एक तो यह ऋतु परिवर्तन के साथ-साथ अपने परो का रग बदलता है, दूसरे इससे मिलते-जुलते और भी कई पक्षी है, जिनसे इसका घनिष्ठ वर्ण-सादृश्य है। फिर भी यदि इसे हम उडते वक्त देखें

तो इसे पहचानना कठिन नहीं है। सीधे आकाश की ओर उडने का इसका तरीका कुछ ऐसा विशिष्ट होता है कि इसे उडते देख कर हम जान सकते हैं कि यह अन्य कोई पक्षी न हो कर फटिकजल ही है।

कद में यह गौरैये से भी छोटा होता है। रग में मादा के शरीर के ऊपर का हिस्सा जैतून के रग का पीलापन लिए हरा तथा निचला पीला होता है। पाखो पर दो सफेद धारिया होती हैं। प्रजनन ऋतु में नर का ऊपरी हिस्सा बिल्कुल चमकदार काला तथा निचला गाढा पीला होता है। पाखो पर दो सफेद मोटी-मोटी धारिया होती हैं। प्रजनन-काल के समाप्त होते ही इसका वर्ण भी बिल्कुल मादा के सदृश ऊपर जैतूनी हरा, नीचे हल्दी-सा पीला हो जाता है। शिशु पक्षी का रग मादा जैसा रहता है।

मोटे तौर पर फटिकजल का यही रग है। पर ऋतु एव स्थान-भेद से इसके रग में काफी परिवर्तन हुआ करता है। मसलन, भारतवर्ष के दक्षिणी प्रान्तो में पाये जाने वाले पक्षी का रग अधिक गाढा होता है, बाकी जगहो में हल्का। इसी तरह परिवर्तित रग में भी कभी-कभी काफी भिन्नता पायी जाती है।

घोंसला बनाने में यह पूरा दक्ष होता है। जमीन से कम ही ऊचाई पर मुलायम घास-फूस की सहायता से यह कटोरे के आकार का घोसला बनाता है जो देखने में सुन्दर तथा साफ-सुथरा होता है। इसका भीतरी भाग मकड जाल की मदद से अच्छी तरह प्लास्टर किया हुआ रहता है।

मई से सितम्बर तक इनके अडा देने का समय है। अडो की सख्या दो से चार तक होती है। जिस प्रकार कौआ कोयल से तथा सतभइया पपीहे से छला जाता है, उसी प्रकार यह शाह-बुलबुल से। कभी-कभी शाह बुलबुल अपने अडे इसके घोंसले में रख आती है और यह बडे शौक से उन्हें सेता है। अडो से निकल कर बच्चे यथा समय नौ-दो-ग्यारह हो जाते हैं।

कौआ

मरत प्यास पिंजरा पर्यो, सुआ समय के फेर,
आदर दै-दै बोलियत बायस बलि की बेर।

—बिहारी

रेडियो सप्ताह-समारोह के सिलसिले में १९ फरवरी, १९५६ को आकाशवाणी, दिल्ली के प्रागण में सुगम सगीत का आयोजन था। मुझे भी वहैसियत एक दर्शक के इसमें शामिल होना पडा था। होली, भजन, आदि कई हल्के गाने गाये गये। फिर एक गायिका ने मधुर स्वर में एक लोक-गीत गाया—

जा, उडि जा रे कागा, उडि जा,
ला, प्रीतम की ला रे खबरिया।
तोरी सोने से चोंच मढ़ाऊगी,
तोरे पायन में डारूगी छल्ला।

तोहि रुचि रुचि खीर खिलाऊंगी,
तोरे पायन में डारूंगी छल्ला।
जा उड़ि जा रे कागा, उड़ि जा,
ला, प्रीतम की ला रे खबरिया।*

मै मन्त्रमुग्ध-सा होकर इसे सुनता रहा और सोचता रहा, यह मनुष्य भी कितना निर्मम एव कृतघ्न प्राणी है कि विरहानल में दग्ध प्रोषितपतिका को प्रियतम के आने की पूर्व-सूचना देकर सजीवन प्रदान करने वाले काक पक्षी के लिए वह दो चार बधाई के शब्द भी न निकाल सका जब कि धूर्ताधिराज, "मधु तिष्ठति जिह्वाग्रे, हृदयेतु हलाहलम्" को सार्थक करने वाली कोकिल की प्रशस्ति में वह न जाने कितने शत-सहस्र शब्द-कुसुमो की माला गूथ गया !
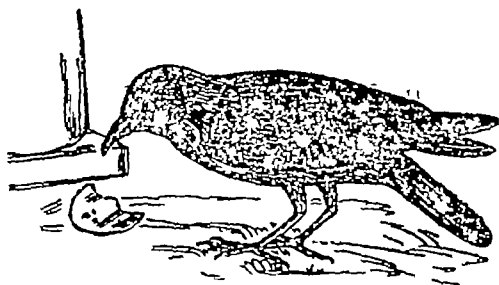
आज ही नही, युग-युगो से मानव-न्याय का यह भी एक अद्भुत नमूना है। भक्त-शिरोमणि सत तुलसीदास तक ने तो यहाँ तक कह दिया—

वायस पालिय अति अनुरागा,
होंहि निरामिष कबहुं कि कागा ?

कवि ठाकुर ने कहा—

गुन के गाहक सहस नर, बिनु गुन लहै न कोय।
जैसे कागा कोकिला, शब्द सुनै सब कोय।
शब्द सुनै सब कोय, कोकिला सबै सुहावन,
दोऊ को इक रग, काग सब भये अपावन।

और कविवर विहारीलाल ने फर्माया—

अरे हस ! यहि नगर में जैयो आप बिचारि,
कागन सों जिन प्रीति करि, कोयल दई बिडारि।

प्रियजन का सन्देश वाहक, भविष्यवक्ता काक तो गुणों से रहित, त्याज्य, समझा जाय, परन्तु कपट से दूसरो के घोसले में अपने अडे रख कर सिर का भार हटाने वाली कोयल गुणसम्पन्ना, स्तुत्य—कैसी विडम्बना है यह !

ऐसा यह संसार ! सत्य का गया जमाना,
रही कपटता और विहँस निज भाव छिपाना।
गुण छलियों का आज मनुज ऊचे स्वर गाता,
क्योंकि हृदय का छल-प्रपंच वह देख न पाता।

---

*विरह दग्धा एक दूसरी नायिका ने तो यहा तक कह डाला था—

कागा ! नैन निकारि लै, पिया पास लै जाय,
पहले दरस दिखाय कै, पीछे लीजो खाय !

प्रियतम के परदेश रहने पर प्रमदाए जिसकी चोच सोने मे मढाने की प्रतिज्ञा करती आई है उस पक्षी का परिचय देने की आवश्यकता नही। वह एक ऐसा पक्षी है जो ससार के हर देश में, शीतोष्ण प्रान्तरो मे समानरूप से व्याप्त है तथा जिसे दुनिया के सभी लोग पूरी तरह जानते है, पहचानते है। वह है वायस, जिसके दो प्रमुख भेद है—काग और कौआ।

काग और कौए में रग का भेद तो है ही, स्वभाव का भी अन्तर है। काग न तो कौए जैसे झुड बाध कर रहते है और न उन की तरह नगर-जीवन से प्रेम ही रखते है। इन्हे शहर की अपेक्षा वन अधिक प्रिय है और बस्तियो में ये तभी आते है जब कि इन्हे कोई सवाद सुनाना होता है अथवा किसी भावी घटना की पूर्व सूचना देनी होती है।

इनकी कई मुख्य-मुख्य किस्में है। एक वह है जो कि पजाब, सिन्ध, उत्तर प्रदेश, बबई तथा मध्य प्रदेश में बहुतायत से पाई जाती है, दूसरी गले पर भूरे रगवाली है जो बलूचिस्तान की ओर प्राप्त है। तिब्बत, भूटान, सिक्किम तथा भारत के कश्मीर आदि पहाडी प्रदेशो में पाये जाने वाले कागो मे और भी भिन्नता है। आकार एव रग, दोनो में ही ये मैदानी कागो से भिन्न है। गरज यह कि मनुष्यो की भाति इनके रग-रूप में भी स्थानान्तर से काफी फर्क आ जाता है। पखो तथा चोचो की लम्बाई से ही एक की दूसरे से भिन्नता परिलक्षित होती है, पर मुख्यत इनकी वह जाति, जो दक्षिण भारत तथा लका मे पाई जाती है, हिमालय में रहनेवाली जाति से, जिसकी छाती के रोयें पूर्णत श्वेत है, अत्यधिक भिन्न है। सिक्किम में ये १३-१४ हजार फुट की ऊचाई पर भी पाये जाते है। अदमान, लका और जावा के काग की चोच औरो की अपेक्षा कही अधिक लम्बी होती है। प्रकृतित यह दूर की यात्रा पसन्द नही करते। पर आवश्यकता आने पर पचासो कोस तक भी चले जाते है, हिचकते नही। धुन के पक्के है और इनकी चेष्टा "काक-चेष्टा" नाम से जगत् प्रसिद्ध है।

कौए कागो से कही ज्यादा भूरे होते है, आकार में छोटे पर छेडखानियो मे बडे-बढे। दूसरो के अडे चुरा कर खा जाना, मेढक तथा छिपकलियो को चोचो से मार-मार कर तग करना, सोने-चादी के बर्तन अथवा आभूषणो को चोच से उठा कर ले भागना आदि इनके आये दिन के करिश्मे है। बाग और खेतो के कीडे-मकोडो को ये चट कर जाते है। खेत में बोये हुए नाज के दानो को भी ये नही छोडते। वृक्ष के फलो के तो ये शत्रु है ही। पर एक अर्थ में ये कृषको के लिए उपयोगी भी है। खेत में लगे हुए नाज के पौधो तथा दानो को नुकसान पहुचाने वाले कीटो को भी ये हजम कर जाते है और इस प्रकार किसानो को समय-समय पर बडी मदद भी पहुचाते है।

कौओ की चोर-प्रकृति जगद्-विख्यात है। दूसरो के घोसले मे जाकर अडे चुराना इनका रोज का काम है। यही वजह है कि यदि भुजगे इन्हे अपने घोसले के आस-पास देख लेते है तो क्रुद्ध होकर इन पर टूट पडते है और ये 'रिट्रीट' (पीछे हटने) के सिद्धात पर अमल करते हुए, वहा से भाग खडे होते है।

पर यदि इनके घोसले के पास हम बगैर इजाजत के चले जाये, तो ये आग-बबूला हो उठते है, हम पर चचुओ से आघात तक कर डालते है। ऐसी ही मुसीबत में फसे हुए एक अग्रेज लेखक की आपबीती सुनिए—

"मै एक बार एक कौए के घोसले के पास गया तथा उसके भीतर से उसके एक बच्चे को चुरा लाया। उसके मा-बाप मेरे आगे और ऊपर-ऊपर पर, जब तक मै घोसले के समीप

रहा, मुझे गालिया देते रहे । वृक्ष से नीचे उतर कर मैंने समझा कि अब सब ठीक है। पर हाय, जब मै घर की ओर मुडा, खाली सर खाली पैर तो पीछे से बडे अपमानजनक तरीके से मुझ पर आघात हुए। पहले मेरे सर पर एक सख्त चोट, फिर जब मै भयभीत हो कर घर के बरामदे की ओर भाग चला, बायी एडी पर उससे भी जोरदार चचु-प्रहार!

कई महीने बाद जब मै विलायत लौटा, उपर्युक्त चचु-आघात के द्वारा किये गये घाव से तब भी कष्ट पा रहा था।"

काग और कौए दोनो में य प्रवृत्तिया वर्तमान है, पर काग में जातीयता का उतना जोर नही जितना कि कौओ में। कौओ में पारस्परिक एकता कही अधिक है। इसका तमाशा देखना हो तो किसी एक कौए को मार डालिए, फिर देखिये, हजारो कौए वहा एकत्र होकर शोर मचाना शुरू कर देंगे। विपत्ति में पडे हुए अपने साथी के सहायतार्थ ये कुछ उठा नही रखते। साथ ही, यदि इनके बीच का कोई कौआ ऐसा काम कर बैठता है जिससे इनकी जाति के नाम पर बब्बा लगता है तो फौरन इनकी पचायत बैठ जाती है। सैकडो, हजारो कौए इसमें हिस्सा बटाते है तथा सर्वसम्मति से उसे समुचित दड दिया जाता है। ये प्राणदड तक दे डालते है। यदि अपराध गुरुतम हुआ, तो अपनी चोच की ठोकरो से ये उसे मार डालते है।

जातीयता की इस सकीर्ण भावना के कारण हो शायद इनकी और पक्षियो से तनिक भी नही पटती। ये जिस किसी भी पक्षी के निवास-स्थल की ओर जाते है उसके द्वारा इन्हें तिरस्कार मिलता है और समय-समय पर चोट भी खानी पडती है।

काग वनविहारी भी है, ग्रामप्रेमी भी। पर कौए को नगर, गाव, मकानो की छत, आगन, ये कही ज्यादा पसन्द है। सुबह हुई नही कि इन्होंने शोर मचाना शुरू किया। फिर तो सोना असम्भव-सा हो जाता है, सिवाय चारपाई छोडने के और कोई चारा नही रहता। तभी तो वासक-शैया पर सोई हुई किसी नवविवाहिता नायिका ने फरियाद की थी—

सोवत निंदिया जगाई हो रामा,
भोरहि भोरे।

कारण भक्तकवि चडीदास के शब्दों में सुनिए—

प्रभात कालेर काक, कोकिल डाकिल,
देखिया रजनी शेष,
उठिया नागर, तुरित गेल जे,
बांधिते-बाधिते केश।
सइ (सखि) तोरे से वलिये कथा।
से बंधु कालिया, नागल वलिया,
मरमे रहल व्यथा,
रहिया आलिसे, ठेसना घालिशे,
ढुलुढुलु वुटि आंखि।
घसने वसने, वदल हैयाछे,
एखन उठिया देखि।
घरे मोर बादी, सासुडी ननदी,

मिछे करे परिवाद,
इहाते एमन, करिव केमन,
कि हइल परमाद।
चडीदास कहे, मनेर आहलादे,
सुन हे रसिकजन !
सदा ज्वाला जाय, तबे से ताहार,
मिलये पिरीति धन।

ब्राह्ममुहूर्त में ही जाग कर ये कौए (और काग) न जाने कौन-सा मन्त्रोच्चार करने लगते हैं।* घर की छतो पर तथा गृह-प्रागण में ये भाति-भाति के क्रीडा-कौतुक भी दिखाते हैं। ऐसे ही एक खिलवाड का एक रोचक किस्सा मेरे एक मित्र ने मुझे सुनाया था। वह इस प्रकार है—

एक मौलाना अपने आगन में बैठे हुए किसी पुस्तक का अवलोकन कर रहे थे। इतने मे उनकी दृष्टि छत से लगी हुई एक काठ की सीढी पर पडी। उन्होंने देखा कि एक कौआ एक के बाद दूसरे डडे पर चढता हुआ ऊपर बढ रहा है। अन्त में वह इसी प्रकार चढता हुआ छत पर जा पहुचा। बस, मौलाना ने फौरन सीढ़ी हटा ली और बोले, हजरत ! देखें तो कि अब आप कैसे नीचे उतरते हैं ?

इस तरह के एक नही, दर्जनो खेल ये खेला करते हैं। अग्रेजी के एक कवि का सकेत इसी की ओर है—

That for ways that are dark,
And for tricks that are vain,
The house-crow is highly peculiar,
Which the same I am free to maintain

—घरेलू कौए का विचित्र ढग होता है उसके विचित्र कौतुक होते हैं, और उसकी अर्थहीन क्रीडाएं होती हैं। कम-से-कम मेरा तो यही विचार है।

मानव-जीवन के साथ इनका कुछ इतना घनिष्ठ सम्बन्ध हो गया है कि कभी-कभी इनकी अनुपस्थिति हमें खटकने लगती है। घर की छतो, दीवारो एव प्रागण में यदि वे नजर न आयें तो ऐसा प्रतीत होने लगता है कि जैसे कुछ खो गया हो। मानव और कौए[1] का यह निकट सम्बन्ध इस देश में आज का नही, युगों का है। तभी तो प्राचीन साहित्य में इसकी चर्चा एक दो स्थानो पर नही, स्थान-स्थान पर की गई है। सस्कृत से ले कर

---

*कालिदास का विचार इसके सम्बन्ध में कुछ और है। कहते हैं, तिमिरात्मा के द्वारा तिमिरवर्ण होने के कारण कहीं ये भी मार न दिये जायें, इस भय से ये काग पुकार-पुकार कर पौ फटते ही कहने लगते हैं, हम काग हैं, हम काग हैं, तिमिर नहीं—

तिमिराविस्तमो हन्ति शंका शकिन मानसा,
वय काका वयं काका इति जल्पन्ति वायसा।

[1] भारतीय साहित्य में काग और कौआ पर्यायवाची शब्द की तरह व्यवहृत होते रहे हैं, पर इनमें भिन्नता मानना कठिन ही नहीं, असभव-सा है। दरअसल इन दानों के रहन-सहन, प्रवृत्ति आदि में अधिक अन्तर नहीं। एक ही जाति की ये दो उपजातिया हैं। प्रस्तुत लेख में भी इसी परिपाटी का आश्रय लिया गया है।

सभी अर्वाचीम भाषाओ में इनका ज़िक्र है, यहां तक कि बुल्लेशाह जैसे पहुंचे हुए सूफी फकीर तक इसे न भुला पाये, बोले—

घूंघट खोल सज्जणा ! हुण शरमां के-हियां रक्खियां वे ?

*　　*　　*　　*

मैं बन्दी दा जेतू साईं, कदीं तां आवीं फेरा पाईं,
मिहर करीं ते मुख दिखलाई, मैं काग उड़ावीं थक्कियां वे।*
हुण शरमां . . . . .

और राजस्थान की एक प्रोषितपतिका नायिका ने आरजू के साथ कहा—

उड़ज्या रे, काग, गिगन का वासी
खबर तो ल्याव म्हारे राजन की।

काग उडा-उडा कर प्रियतम के आने का पूर्वाभास पाने की चेष्टा इस देश में शताब्दियो से रही है, अब भी है। यही नही, काग के द्वारा भावी विविध शुभाशुभ घटनाओ के जानने की प्रणाली भी इस देश में अति प्राचीन काल से प्रचलित रही है। यथा, कौए यदि आहार बाट-बाट कर खायें तो यह बडा शुभ माना जाता है और इसी लिए भक्तकवि चडीदास की विरहिणी नायिका ने आनन्दोल्लास के साथ कहा था—

आज परो भाते काके कलोकली
आहारो बांटिया खाय।

ग्राम्य-कवि 'डाक' के कथनानुसार काक के कई भेद है और इनमें ब्राह्मणवर्ण के काक ही शकुन-निर्देश के लिए सर्वश्रेष्ठ है। 'डाक' कहते है—

तनु अतिकारी बड़का लोल, पैक काक अति ऊंचे बोल,
ताहि काक के बाभन जान, कहथि 'डाक' जे आन नहि मान।
पिगल आखि नील रंग ठोर, सब देह कारी क्षत्री सोर,
पाडु नील रंग चोंचो देह, कहथि 'डाक' जे वैश्य कहिलेह।
भसमक रंग औ दुबर शरीर, कर-कर बाजय रह नहि थीर,
ताहि 'डाक' कह शुद्र पुकारि, एहि सं आन थिक अन्त्यज धारि।

—शरीर अत्यन्त काला, चोच लम्बी, कद बडा और आवाज तेज—ये लक्षण जिस काक में दीख पडें, वह ब्राह्मण है। पिंगल नेत्र, नीले होठ और समस्त शरीर काला—इन लक्षणो वाला काक क्षत्रिय है। जिस काक के शरीर और चोच पाडु और नील वर्ण के हो, वह वैश्य है। राख का रग, क्षीण शरीर, कर्कश स्वर, प्रकृति का चचल—इन लक्षणो वाला काक शूद्र है, और उपर्युक्त चार प्रकारो के अतिरिक्त अन्य सभी काक अन्त्यज है।

पांचों में मुख बाभन जान, असगुन सगुन तकरे मान,
जो मास बोकरय आगा आवि, कहथि 'डाक' निश्चय धन पावि।
आगा लावय माटिक ढेप, भूमि लाभ हो ताहो खेप।

---

*प्यारे, तुम घूंघट खोलो, अब शरमाने में क्या रक्खा है ? तू मालिक है, मै तेरी चाकर हू। कृपा कर कभी तो आकर मुंह दिखलाना ! मै तो काग उड़ाते-उड़ाते थक गई !

चित्र संख्या : १५
पालतू तोते

चित्र संख्या . १६
तोता

चित्र सख्या १८
कठफोडवा

चित्र सख्या
मछमरनी

रतन आनि जे राखय अग्र, कहथि 'डाक' ज राज हो सग्र।
काक द्वार में आवय जाय, कहथि 'डाक' जे पाहुन लाय।

—पाच प्रकार के काको में शकुन-निर्देश करने के लिए ब्राह्मण वर्ण काक की गति-विधि विचारणीय है। सामने आकर यदि काक मास उगल दे, तो निश्चय ही धन की प्राप्ति हो। यदि काक सामने आकर मिट्टी का ढेला रख दे, तो भूमि, और रत्न रख दे तो राज्य की प्राप्ति हो। जिसके द्वार में काक आया-जाया करे, तो समझ लो कि बाहर से कोई अतिथि आ रहा है।

तात्पर्य यह कि काक या कौआ मानव-समाज का एक अभिन्न अग रहा है। कोयल, पपीहा, हारिल आदि पक्षियो के गाने की हम चाहे जितनी भी प्रशसा करे, उनकी प्रशस्ति में पृष्ठ के पृष्ठ लिख डाले,पर वे हम से दूर ही भागते रहे है, साथ काग-कौओ ने ही दिया है, इन्होने नहीं। किसी कवि ने इसे 'जन-जीवन का साथी' कहा है—

जन-जीवन के साथी, कौए !
नहीं कल्पना के, स्वप्नों के,
लोकों में रहनेवाले,
गांव-गांव के, घर-घर के तुम,
पहचाने, चिर-वासी कौए।
जन-जीवन के साथी, कौए !
शुक, पिक, चातक, हारिल के सम,
दूर नहीं हमसे रहते तुम,
करते कठिन, कठोर परिश्रम,
मधुपायी, न विलासी कौए,
जन-जीवन के साथी, कौए !

"मधुपायी न विलासी, कौए!"—कौए का यह गुण आज दिन हम जिस समाजवादी समाज का निर्माण करने जा रहे है, उसके लिए सर्वथा उपयुक्त है। विलासी लोगो के दिन चले गये, राजा-महाराजा, अमीर-उमराव, इनके अब दिन नहीं रहे। दिन उनके है जो श्रम से अपनी रोटी कमाते है। अब हमें अपने शरीर से पसीना बहाना ही पड़ेगा। स्वय कोकिल-कंठ, चातक-स्वर, कवि-प्रवर सुमित्रानन्दन पत तक इसे न भुला पाये और प्रेमभरे शब्दो में कविवर ने पूछा—

कहां मढा लाये सोने से अपनी चोंचें,
प्यारे कौए ! प्यारे कौए !

साथ ही यह भी मानना पड़ेगा कि यह ससार 'उदासी' (त्यागी) लोगो के लिये भी नहीं है। ससार धर्म पालन करने वालो के लिए है। अफसोस कि हमारे उर्दू के शायरो ने कौए का महत्व न समझा तथा वे शराब, साकी और बुलबुल की गुण-गाथा में ही अपनी कलम तोड़ते रहे, हमारे जीवन-मरण का साथी कौआ उनके दो शब्द भी न पा सका। काश! अकबर इलाहाबादी ने यह लिखने के बजाय—

हुजूमे-बुलबुल हुआ चमन में,
किया जो गुल ने जमाल पैदा,

कमी नहीं कद्रदां की 'अकबर',
करे तो कोई कमाल पैदा !

यह लिखा होता कि—

हुजूमे-कौआ हुआ चमन में,
किया जो भुट्टे ने बाल पैदा,
कमी नहीं कद्रदां की 'अकबर',
करे तो कोई कमाल पैदा ।

तो उनका यह सुन्दर कलाम, हमारे आधुनिक समाज की रूप-रेखा में अधि
उपयुक्त बैठता ।

मानव समाज से इस पक्षी को कितना प्रेम है, इसका अन्दाजा इस बात से ही
लगाया जा सकता है कि जिस ग्राम या नगर में मनुष्यो की सख्या ज्यादा है, घनी है, वह
उसी अनुपात से उनकी सख्या भी अधिक है। दृष्टात के लिए कलकत्ता शहर को ही
लीजिए। डेवर नामक एक अग्रेज पक्षी-प्रेमी लेखक का कहना है कि इस नगर में दस लाख
से अधिक कौए निवास करते हैं। कई वर्ष हुए कलकत्ते में बडे जोरो का तूफान आया
झझावात के शान्त होने पर देखा गया कि कलकत्ते के मैदान में कई लाख कौए मरे प
हैं। यह श्री डेवर के उपर्युक्त कथन की पुष्टि करता है ।

भारतवर्ष में शायद दो ही ऐसे नगर हैं जहा किसी अज्ञात कारण से कौए नही पा
जाते, उन्होंने इन स्थानो का बहिष्कार कर रखा है । एक तो उत्तर प्रदेश में चित्रकू
है और दूसरा दक्षिण में कोडाइकनाल।

चित्रकूट के सम्बन्ध में किंवदन्ती है कि एक बार किसी काग या कौए ने वनवा
के दिनो में, सीता के अग पर चोच मारी और वह उनके अभिशाप का भागी बना, जिस
परिणामस्वरूप उसे ही नही, उसकी सारी जाति को मन्दाकिनी के तट पर स्थित इ
पुनीत स्थान से सदा के लिए निर्वासित होना पडा। पर कोडाईकनाल में उनके पाव क्यो
जम पाये, इसके सम्बन्ध में न तो इतिहास ही कुछ बताता है, न किंवदन्तिया ही ।

और पक्षियो की अपेक्षा कौओ मे शायद पश्चिमी सभ्यता का प्रभाव अधिक है
क्योकि इस समाज में पुरुषो से ज्यादा स्त्रियो की इज्जत है, हर बात में उनकी प्रधानत
है। यही नही, मेम साहब (मादा) जब घर के घोसले के भीतर बैठी रहती है तो साह
(नर) बाहर बैठ कर पहरा देते है। ग्रीष्मकाल के आते ही ये घर बनाने में लग जाते
तथा इनके भवन-निर्माण—नीड बनाने में, घास-फूस ही नही, मनुष्य के घर से चुराई हु
धातु की अनेक चीजें, टिन के टुकडे, सोडावाटर की बोतलो के तार आदि भी प्रयोग
लाये जाते है। बम्बई मे एक बार किसी काक-दम्पति ने अपने गृह-निर्माण में चश्मे
सोने के कई फ्रेमो का भी इस्तेमाल किया था जिनकी कीमत प्राय चार सौ रुपये थी
इसी तरह मद्रास में बाजार से चुराये हुए टिन के टुकडो से एक दूसरे काग-दम्पति ने अपन
भवन बनाया था। पाठको को मेरा यह सुझाव है कि यदि कभी उनकी कोई धातु की बन
चीज गुम हो जाय तो इसके पहले कि वे इसको खबर पुलिस को दें, आसपास इनके घोसल
में उसकी तलाश अवश्य कर ल।

घोसला बनाकर घर बसाने के बाद ये दूसरा कदम आगे बढ़ाते है, अर्थात् माद
अडे देती है। इनकी सख्या तीन से सात तक होती है तथा देखने में ये रग-बिरगे होते है।

यही समय है जब कि कोयल को उनकी आँख में धूल झोंक कर अपने कार्य-साधन का मौका मिलता है। अंडे वह भी देती है पर वसन्त का समय, दिन-रात गाने का शौक, आम्रमंजरी मदिरा का अहोरात्रि पान, उसे फुरसत कहा कि वह घर में बैठे और अंडे सेये या बच्चो का पालन-पोषण करे ? अत वह अपने सर की बला दूसरे के सर डाल आती है तथा नाचती-गाती स्वच्छन्दता-पूर्वक विचरती रहती है। अपने अंडो को चुपके से, कौए के घोसले में रख आती है। इस काम को वह बडी चतुराई से करती है। पहले नर घोसले के पास जाता है और कौए का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट करता है। कौआ उसकी ओर झपटता है। वह भाग खडा होता है। कौआ उसका पीछा करता करता जब दूर निकल जाता है तो मादा कोयल, जो पास में ही कही चोंच में अंडा लिये बैठी होती है, कौए के घोसले में आहिस्ता से अंडा डाल आती है और कभी-कभी कौए के अंडे को दूर फेंक आती है। इस तरह उद्देश्य को साध कर एक खास आवाज देती है, जिससे नर समझ जाता है कि काम पूरा हो गया है और वह तेजी से उडता हुआ कौए की आखो से ओझल हो जाता है।[1] कैसी धूर्तता है यह ! फिर भी हमारे कवियो ने "पिकी प्रवीण" की प्रशसा में न जाने कितने शब्द कह डाले हैं। वे उसकी मीठी वाणी से छले गये हैं। इस ससार में कौन है जो इस मायाविनी की मधुर बोली पर मुग्ध न हुआ, इसकी कूक पर कुर्बान न हुआ ?

खैर, तो कौए को कोयल की इस करतूत का पता आज तक न चला। वह निश्शक भाव से अंडे सेता रहा, बच्चे हुए तो कोकिलवशीय शिशु को भी अपना ही शिशु समझता रहा, लालन-पालन मे कतई भेद भाव न रक्खा। यही नही, ऐटकिन नामक एक अंग्रेज ने लिखा है कि उसने कौए के घोसले में शोर मचाते हुए दो बच्चो को देखा जिनमें एक तो उसका अपना था, दूसरा कोयल का, पर उसका व्यवहार दोनो के प्रति केवल एक-सा ही नही था बल्कि कोकिल उन दोनो, नर और मादा, का विशेष रूप से प्रेमपात्र बना हुआ था।

कौए की कद्र हम भारतवासी नही जानते, सिवाय उनके जो अपने प्रवासी प्रिय-जनो की कुशल-वार्ता पाने के इच्छुक है और स्वार्थवश इसकी खुशामदें करते हैं। पर अन्य देशवासी इसके महत्व को पूरी तरह पहचानते है। फसल को नष्ट करने वाले कीडो को खा-खा कर ये फसल की रक्षा करते हैं, इस उपयोगिता को वे भली भाति समझते है। यही कारण है कि जहा हम इन्हे रोडे मार-मार कर भगाते फिरते है वहा जंजीबार में कुछ वर्ष हुए बाहर से कौए मगवाये गये। मलय प्रायद्वीप में भी लका से हजारो कौए जहाज भर कर मगवाये गये थे।

पर कौए दूसरो से सहायता की याचना भी नही करते। अपने पाव पर खडे होते है। अपनी रक्षा आप करते है। पक्षी सरक्षण कानून के द्वारा बहुतेरे पक्षियो को सरकारी सरक्षण प्राप्त है, पर इस कानून के फायदे से भी ये वचित रक्खे गये है। यही नही, कई बार हमारे हाथो इन्हे घोर मुसीबतो का भी सामना करना पडा है जिसका एक दृष्टात नीचे पढे।

बात पुरानी है, सन् १८१५ की। नेपाल तथा अंग्रेजो के बीच लडाई छिडी

---

1. कौए की अपेक्षा कोयल की रफ्तार कहीं ज्यादा होती है।

हुई थी । अंग्रेजो की एक पलटन कर्नल ओलाहरन की सेनाध्यक्षता में नेपाल जा रही थी। रास्ते में दरभगे (बिहार राज्य का एक शहर) में उसका पडाव पडा। दरभगा के तत्कालीन ज़मीदार—दरभगा नरेश—ने कर्नल ओलाहरन की खूब आवभगत की, उनके लिए उपहार प्रस्तुत किये। पर कर्नल उन व्यक्तियो में थे जो न तो स्वय कोई उपहार ग्रहण करते थे, न पलटन के और लोगों को ही ग्रहण करने देते थे । सधन्यवाद उपहारों को लौटाते हुए उन्होंने कहा, "महाराज ! मैंने सुना है कि आपके यहा का कौआ बहुत बढिया होता है, यदि आप उसमें से कुछ दे सके तो मै सानन्द स्वीकार करूगा, उपकृत होऊगा।" महाराज बडे चकित हुए और बोले "हा, कौआ तो यहा बहुत मिलता है पर यह तो सारे हिन्दुस्तान में पाया जाता है।"

"नही महाराज !" कर्नल ने कहा, "मै तो कम्पनी के सारे इलाको में गया हू । कही भी यह देखने को न मिला। आप विश्वास करें, मैंने इसकी पूरी छानबीन की है ।"

महाराज ने अपने दरबारियो की ओर देख कर कहा—"बडा ताज्जुब है।" वे बोले—"सरकार, ताज्जुब तो अवश्य है पर हुजूर का इकबाल कि यहा सब-कुछ पलता है। खैर, यदि कर्नल साहब को इसका शौक है तो हमें कौआ इकट्ठा कर इन्हें अवश्य देना चाहिए।"

कर्नल ने कहा, "यदि आप मुझे थोडा भी उपलब्ध करा देंगे तो मै और मेरे साथी आपके अत्यन्त कृतज्ञ होगे । नेपाल की कडी सर्दी में हमें लम्बी लडाई लडनी है। यह निस्सदेह उसमें हमारे लिए सहायक होगा। हम सभी को कौआ अत्यन्त रुचिकर है।"

महाराज ने कहा—"अवश्य, आप जितना भी चाहेगे, मै आपकी सेवा में हाज़िर करूगा ! "

कर्नल बोले—"यदि इसे लूट न माना जाय तो मैं दो तीन थैलिया भर कर ले जाना चाहूगा ।"

महाराज ने कहा—"मुतलक नही, मै अभी वापिस जाकर इन्हें सग्रहीत करने की आज्ञा देता हू ।"

महाराज की आज्ञा से दिन भर बन्दूक से कौओ का शिकार होता रहा। शाम को जब कर्नल और उनके साथी खाने पर बैठे हुए थे, चपरासी ने आकर कहा—"महाराज की भेंट ले कर उनके प्रतिनिधि पधारे है।"

कर्नल ने कहा, "उन्हे शीघ्र भीतर लाओ ।"

तीन भरे हुए बोरो के साथ महाराज के प्रतिनिधि भीतर आये और महाराज के भेजे हुए उपहार को कर्नल साहब के पेशे-नजर किया । कर्नल की खुशी का ठिकाना न रहा । उनकी आज्ञा पाकर खानसामे ने बोरे के भीतर हाथ डाला तथा एक कौए को बाहर निकाला । कर्नल ने तब महसूस किया कि उन्होंने कितनी बडी भूल की थी । उनके कहने का मतलब "कहवा" (काफी) से था, पर भाषा की अनभिज्ञता के कारण "कहवा" न कहकर "कौआ" कह डाला था जिसके कारण दरभगे के बेचारे सैंकडो कौओ को अपने प्राणो का बलिदान देना पडा । पर इन सारी मुसीबतो के बावजूद कौओ का वश घटने की बजाय उत्तरोत्तर वृद्धि ही पाता रहा है। ये किसी की खुशामद नही करते, लोग ही समय आने पर इनकी खुशामद करते है, तरह-तरह की प्रतिज्ञाए करते है, कहते है —

बैठी सगुन मनावति माता,
कब ऐहैं मेरे लाल कुशल घर,
कहहु काग ! फुरि बाता।

* * *

दूध भात की दोनी दैहौं,
सोने चोंच मढ़ैहों। —आदि

श्राद्ध के अवसर पर भी इनकी आवश्यकता अनिवार्य है। कहते है कि इन्हे भोजन देने से मृतात्मा को सतोष होता है तथा वैतरणी पार करने में ये उनके सहायक होते है। पर मनुष्य को तो देखिए, आवभगत के साथ इन्हें बुलाते है, खिलाते है पर ज्योही यज्ञ समाप्त होता है इन्हे मार-मार कर भगा देते हैं। यही नहीं, साफ शब्दो में कहते भी है कि—

जब लग काग, सराध पख,
तब लगि तब सनमान !

यह उनकी उदारता है कि इस पर भी वे मनुष्य जाति के प्रति बदले की भावना नही रखते, पुन बुलाने पर दौडे आते है। यही नहीं, शिकारियो तक को अपनी बोली से शिकार की स्थिति का सही पता बता देते है।

काकभुसुंडि जैसे ज्ञानी को जन्म देने का श्रेय काक जाति को ही प्राप्त है। और फिर कृष्ण-विरह में व्रजबालाओ के साथ-साथ इन्होंने भी तो अन्न ग्रहण करना त्याग दिया था—

बायस बलिहि न खात। (सूरदास)

तात्पर्य यह कि इनके बीच केवल चोर डाकू ही नहीं, ज्ञानी और भक्त भी होते आये है।

लेख में यत्र-तत्र सगुन मनाने का जिक्र आया है। इनकी कई प्रक्रियाए है, पर दो मुख्य है —

१. काग की बोली सुनते ही जमीन पर दृष्टि डालना तथा सर्वप्रथम दृष्टि-पथ पर आने वाली लकडी अथवा सूखी घास के टुकड़े को अगुलियो से मापना और इसके द्वारा शुभाशुभ का, भावी घटना का ज्ञान प्राप्त करना। सख्या के सम अथवा विषम होने पर 'हां' और 'न', शुभ या अशुभ होना निर्भर करता है।
२ काक-वाणी सुनते ही भू-तल पर चिन्हांकित करना तथा चिन्हों के द्वारा ज्ञान प्राप्त करना।

कबूतर

कविवर बिहारीलाल ने कबूतर के सम्बन्ध में कहा है—

पट् पाखें, भखु कांकरें, सपर परेई संग,
सुखी परेवा पुहुमि में, तू ही एक विहंग।

और इसमें सन्देह नहीं कि कबूतर एक सुखी दाम्पत्य-जीवन के प्रतीक हैं।

कपोत का दाम्पत्य-प्रेम जगत् प्रसिद्ध तो है ही, मानव-जाति के लिए आदर्श भी है। मानव पति-पत्नियो में, यदि कपोत का-सा पारस्परिक प्रेम होता तो भारतीय ससद में तलाक का कानून न बनता।

ऐसे तो बहुतेरे पक्षी हैं जिनके नर और मादा साथ-साथ रहा करते हैं, पर इनमें कबूतर ही एक ऐसा विहग है जिसके नर-मादा आठो पहर एक दूसरे से विलग नही होते (चित्र सख्या ५), बल्कि लोक-लाज की कतई परवाह न कर एक दूसरे के प्रति विलक्षण प्रणय-भाव प्रदर्शित करते रहते हैं। घर की छतो अथवा गृह-प्रागण में आमतौर पर इनके ये भाव प्रदर्शन—नर का मादा के आसपास नाचना, गाना, घुटकना, थिरकना एव चोच से चोच मिला कर प्यार दिखाना—देखेंगें। यह इनकी ऐसी विशेषता है जो शायद ही और किसी पक्षी में इस परिमाण में पायी जाती हो। सस्कृत के किसी रसिक कवि ने शायद कपोत को कभी ऐसी ही किसी मुद्रा में देख कर कहा था—

कल क्वणित गर्भेण कंठेनाघूर्णितेक्षणः।
पारावत· परावृत्यं रिरंसुश्चुम्वति प्रियाम्।

—यह कबूतर मधुरवाणी बोल कर, गर्दन घुमा कर, मदभरी आखों से प्यार से देखता हुआ अपनी प्रियतमा के साथ रमण करने की इच्छा से उसे चूम रहा है।

बहुधा अपने गले की थैली फुला कर "गुटरगू" कह-कह कर यह प्रियतमा के चारो ओर नृत्य करता है। प्रकृतित कपोत कामी तथा प्रेमी होता है। इसका अतिशय पारिवारिक प्रेम कभी-कभी इसके अपार दु ख का कारण भी बन जाता है। तभी तो राजा यदु से एक अवधूत ने कहा था—

नातिस्नेह· प्रसगो वा कर्त्तव्य क्वापि केनचित्,
कुर्वन्विन्देत सन्ताप कपोत इव दीनधी।

और फिर, किस तरह कपोत का एक जोडा बहेलिए द्वारा शिशुओ के जालबद्ध होने पर सन्तान-स्नेह के अत्याधिक्य से अधा हो कर स्वय उस में जा फसा था। (श्रीमद्भागवत, ११।७। में यह कथा वर्णित है)।

पर दूसरी ओर, यजुर्वेद में (मन्त्र २४-२३) लिखा है—"मित्रावरुणाभ्या कपोतान्"—मित्र और वरुण अर्थात् मित्रता, स्नेह और परस्पर वरण के लिए कपोत नामक पक्षियो को देखें।

पारस्परिक प्रेम तो उनमें है ही, मानव-समाज के साथ भी उनका घनिष्ठ प्रेम है। ये उन पक्षियों में हैं जो वन की अपेक्षा जनपदो-मानवगृहों को अधिक पसन्द करते हैं तथा बडी-बडी इमारतो से लेकर छोटे-छोटे घरो मस्जिद, मन्दिर आदि देवस्थलो में झुड के झुड निवास करते हैं। शहरों में शायद ही कोई ऐसी इमारत मिले जिसमें कबूतरो के दो चार

परिवार न रहते हो। जैनियो में पक्षियों को खिलाने की परिपाटी है। कबूतर ही एक ऐसा पक्षी है जो बम्बई आदि नगरों की सड़कों पर झुंड बांध कर उनके दिए हुए दानों को चुगता तथा नाच-गा कर उनके प्रति अपनी कृतज्ञता प्रदर्शित करता है।

कबूतर इस देश के सभी प्रान्तों में, सभी शहरों और गांवों में, पाये जाते हैं तथा वसन्त, ग्रीष्म, वर्षा, शीत—सभी ऋतुओं में ये एक जैसे ही रहते हैं। समतल देश में तो ये बहुतायत से पाये ही जाते हैं, पहाड़ों तक में इनका आवास है। हिमाच्छादित अमरनाथ की गुफा में मैंने आज से २४ वर्ष पहले कबूतर का एक जोड़ा देखा था जो नीलाभयुक्त भूरे रंग का था। किंवदन्ती है कि ये युग-युगों से वहां निवास करते आये हैं। कहते हैं, किसी समय महादेव ने पार्वती को कुछ कथाएं सुनाईं जिन्हें इन दो कबूतरों—कपोत-दम्पति—ने सुन ली और वे अमर हो गये। तब से आज तक ये इस गुफा में निवास कर रहे हैं। यह कहानी कपोल-कल्पित ही क्यों न हो, पर इसमें शक नहीं कि सदियों से अमरनाथ की यात्रा करने वाले यात्रियों ने इस गुफा में दो कबूतर देखे हैं और उनकी चर्चा की है। मार्के की बात यह है कि किसी ने भी वहां दो से अधिक कबूतर नहीं देखे। बर्फ से ढके हुए इस सुनसान स्थान में, जिसके इर्द-गिर्द मीलों तक कोई आबादी नहीं है, ये कबूतर न जाने किस आकर्षण से निवास करते हैं।

वैसे तो कबूतर की अनेक उपजातियां हैं, और ये अनेक रूप और रंग के होते हैं पर देश भर में बहुतायत से पाया जाने वाला कबूतर वह है जिसके शरीर का रंग स्लेटी गर्दन पर चमकीले हरे परों की एक कंठी और उसके नीचे, चतुर्दिक एक चमकीली बैंगनी पट्टी होती है। पीठ तथा डैनों का रंग अत्यधिक गहरा, दुम का शीर्ष काला और उसके दोनों ओर सफेद धारी होती है। आंख की काली पुतली तथा पैरों का गहरा गुलाबीपन इसकी शोभा-वृद्धि करते हैं। नर और मादा में कोई अन्तर नहीं होता है। अन्य अनेक पक्षियों की भांति इसके पैर की चार अंगुलियों में तीन आगे की ओर होती हैं और एक पीछे की ओर। सिर छोटा, शरीर भारी होता है। चोंच नर्म होती है पर डैने बड़े मजबूत होते हैं। ये जब कभी लड़ते हैं तो पावों या परों के सहारे, चोंचों के नहीं।

दाना चुगने वाले अन्य पक्षियों की भांति इसके शरीर में भीतर भी एक थैला होता है जिसमें धड़ाधड़ नाज के दाने पहुंचा दिए जाते हैं। कबूतर की इन थैलों में से एक किस्म का तरल पदार्थ निकलता है जिसे आमतौर पर दूध कहते हैं और जिसे, जब तक कि उसके बच्चे दाना खाने लायक नहीं हो जाते हैं, वह उन्हें पिलाता है। बच्चे बड़े आनन्द से उसकी चोंच में अपनी चोंच डाल देते हैं और थैलों के इस तरल पदार्थ से भूख मिटाते हैं।

कबूतर घोंसला नहीं बनाता। मकानों के कार्निस, जो इसे सबसे अधिक प्रिय हैं, अथवा छज्जे आदि पर ही यह रात गुजार लेता है। वहीं अंडे देता है और बच्चों का पालन-पोषण भी करता है। यह साल भर अंडे देता है। भोर होते ही यह घुटरना शुरू कर देता है। इस अर्थ में वेद तक ने इसे मानव समाज के लिए आदर्श स्वरूप माना है। यजुर्वेद के २४वें अध्याय के २५वें मन्त्र में कहा है—'अह्ने पारावतानालभते', अर्थात् दिनारम्भ के लिए कबूतरों का [illegible], वे भोर में ही उठते हैं, बोलना शुरू करते हैं, वैसे ही मनुष्य भी शीघ्र (ब्राह्ममुहूर्त में) उठें और मन्त्रपाठ करें। इन बातों को जो प्रातः ५ बजे तक सोते और नींद टूटते ही 'बेड-टी'—चाय की आवश्यकता अनुभव करते हैं, शायद कबूतर की यह आदत पसन्द न आए और न वेद की यह उक्ति ही।

साधारणत उपर्युक्त जाति के कबूतर ही सवत्र पाए जाते ह, पर इसके अलावा भी इसकी अनेक किस्में हैं जो पालतू हैं, स्वेच्छाचारी नही। इनके रग भी नाना प्रकार के हैं—काला, हरा, गुलाबी, श्वेत आदि । मुख्य किस्में ये हैं—

१ गिरहबाज

२ लोटन

३ मुक्खी

४ शीराज़ी

५ बग़दादी

६ लक्का

गिरहबाज वे है जो उड़ाने पर सुदूर आकाश में उड जाते हैं और उडते हुए बारम्बा गिरह मारते जाते है, फिर घर की ओर लौटते हैं। इसमें इन्हें काफी वक्त लगता है।

बिहारी के इस दोहे में इसी जाति के कबूतर की ओर सकेत है—

ऊचो चितै सराहियत
गिरह कबूतर लेत ।
दृग पुलकित, पुलकित बदन,
तन् पुलकित कहि देत ।

लोटन हाथो से जमीन पर छोड देने से ही लोटने लगते हैं और देर तक लोटते रहत ह जब तक कि उन्हे हाथ से कोई उठा न ले (चित्र सख्या ३२)। ये दो प्रकार के हैं—

(१) कागजी, जो सिर पर केवल ठोकर मार देने से ही लोटने लगते है ।

(२) वे जो कि हाथ से झकझोर कर, हिला कर, जमीन पर रखने से लोटते हैं

मुक्खी का सिर काला, शरीर सफेद होता है। ये सिर ऊचा करके चलते हैं तथ देखने में अत्यन्त सुन्दर होते है।

शिराजी और बगदादी, जैसा कि इनके नाम से जाहिर है, शिराज और बगदाद के कबूतर है, और देखने मे बडे खूबसूरत होते हैं । आकार में काफी बडे और लक्षणो से ही लगता है कि अपनी जाति—कपोतवश के ये सरदार विशिष्ट पक्षी है। ये काले, गुलाबी बैंगनी आदि कई रगो के होते है।

कई लोग लक्का (चित्र सख्या ३३) के मास को लकवे के रोगी के लिए अतिशय लाभदायक मानते है। लकवे का कोई शिकार हुआ नही कि गाव भर के या शहर के लक्का कबूतरो पर आफत आ जाती है। यह अधिकाशत श्वेत रग का पाया जाता है जो कि इसका अपना खास रग है, पर दोगले में रग-परिवर्तन हो जाता है। इसकी पूछ उठी हुई, मोर की खडी पूछ से मिलती-जुलती-सी, जापानी रमणी के हाथ के पखे-जैसी देखने में अत्यन्त सुहावनी होती है।

एक और प्रकार का कबूतर होता है जिसके मुह में हवा देते ही उसका गला बिल्कुल बैलून जैसा फूल उठता है, पर यह मुश्किल से पाया जाता है।

कबूतर की ये किस्में—गिरहबाज, लोटन, मुक्खी, शीराजी, बगदादी और लक्का—आम तौर पर, हर जगह प्राप्त नही है, केवल कबूतर के शौकीनो के पास ही मिलेगी। इस देश मे कबूतर पालने का रिवाज मुसलमानो के शासनकाल में अत्यधिक बढा। मुगल बादशाहो में कई ऐसे हुए जिन्हे कबूतर पालने का बड़ा शौक था। अकबर ने तो कपोत-

जहांगीर के युग में चित्रित एक पक्षी

साधारणत उपर्युक्त जाति के कबूतर ही सवत्र पाए जाते ह, पर इसके अलावा भी इसकी अनेक किस्में है जो पालतू है, स्वेच्छाचारी नही। इनके रग भी नाना प्रकार के हैं—काला, हरा, गुलाबी, श्वेत आदि। मुख्य किस्में ये है—

१ गिरहबाज
२ लोटन
३ मुक्खी
४ शीराजी
५ बग़दादी
६ लक्का

गिरहबाज वे है जो उडाने पर सुदूर आकाश में उड जाते है और उडते हुए बारम्बार गिरह मारते जाते है, फिर घर की ओर लौटते है। इसमें इन्हें काफी वक्त लगता है।

बिहारी के इस दोहे में इसी जाति के कबूतर की ओर सकेत है—

ऊची चितै सराहियत
गिरह कबूतर लेत।
दृग पुलकित, पुलकित बदन,
तनु पुलकित कहि देत।

लोटन हाथो से जमीन पर छोड देने से ही लोटने लगते है और देर तक लोटते रहते ह जब तक कि उन्हे हाथ से कोई उठा न ले (चित्र सख्या ३२)। ये दो प्रकार के है—

(१) कागजी, जो सिर पर केवल ठोकर मार देने से ही लोटने लगते है।

(२) वे जो कि हाथ से झकझोर कर, हिला कर, जमीन पर रखने से लोटते है।

मुक्खी का सिर काला, शरीर सफेद होता है। ये सिर ऊचा करके चलते है तथा देखने में अत्यन्त सुन्दर होते हैं।

शिराजी और बगदादी, जैसा कि इनके नाम से जाहिर है, शिराज और बगदाद के कबूतर है, और देखने मे बडे खूबसूरत होते हैं। आकार में काफी बडे और लक्षणो से ही लगता है कि अपनी जाति—कपोतवश के ये सरदार विशिष्ट पक्षी है। ये काले, गुलाबी, बैंगनी आदि कई रगो के होते है।

कई लोग लक्का (चित्र सख्या ३३) के मास को लकवे के रोगी के लिए अतिशय लाभदायक मानते है। लकवे का कोई शिकार हुआ नही कि गाव भर के या शहर के लक्का कबूतरो पर आफत आ जाती है। यह अधिकाशत श्वेत रग का पाया जाता है जो कि इसका अपना खास रग है, पर दोगले में रग-परिवर्तन हो जाता है। इसकी पूछ उठी हुई, मोर की खडी पूछ से मिलती-जुलती-सी, जापानी रमणी के हाथ के पखे-जैसी देखने में अत्यन्त सुहावनी होती है।

एक और प्रकार का कबूतर होता है जिसके मुह में हवा देते ही उसका गला बिल्कुल बैलून जैसा फूल उठता है, पर यह मुश्किल से पाया जाता है।

कबूतर की ये किस्में—गिरहबाज, लोटन, मुक्खी, शीराजी, बगदादी और लक्का—आम तौर पर, हर जगह प्राप्त नहो है, केवल कबूतर के शौकीनो के पास ही मिलेगी। इस देश मे कबूतर पालने का रिवाज मुसलमानो के शासनकाल में अत्यधिक बढ़ा। मुगल बादशाहो में कई ऐसे हुए जिन्हे कबूतर पालने का बड़ा शौक था। अकबर ने तो कपोत-

जहांगीर के युग में चित्रित एक पक्षी

चित्र संख्या २०

पालन पर पूरा एक ग्रंथ ही तैयार कराया था। उन्हीं दिनों जान नाम के एक मुसलमान कवि ने भी "कबूतर नामा" नामक एक पुस्तक लिखी थी (जो अप्रकाशित है), जिसके आदि की पंक्तियां इस प्रकार हैं—

आदि सुमिरि करतार कौं, जाके आदि न अन्त।
पलक माहि सब जगु रच्यो, नर पसु पछ अनंत॥
दोम महमद सुमिर हौं, जातें सब जगु दोम।
सकल रसूलनि मधि बन्यौ, ज्यो उडिगन में सोम॥
सब पछिन में "जान" कहि, उत्तम कबूतर आहि।
नए नबी कै हेत तें, सब को बाढ़ि चाहि॥
नबी अबाबकर जहा नाहिन तीजो और।
तबहि कबूतर आप कौं, पहुंचायो तिह ठौर॥
भलौ कबूतर सबनि मं, तातें बाढौ चाव।
रग जात औषद कहौं, और उड़ावन चाव॥
अबहि सुनहु सब करौं बयान।
समझाऊ नखसिख परिमान॥

अंग्रेजों की देखादेखी जैसे भारतीय जन कुत्ता पालने लगे—स्पेनियल, ग्रेटडेन, टेरियर, ग्रेहाउन्ड, आलसेशियन आदि की बन आयी—वैसे ही मुसलमान बादशाहों की नकल में देश के धनी-मानी व्यक्तियों से लेकर आम जनता तक कबूतर-पालने का शौक बढ़ गया। देश-विदेश के कबूतर पाले जाने लगे। पर अब यह शौक धीरे-धीरे घटता जा रहा है।

दर असल कबूतर पालने की प्रथा इस देश में प्राचीनकाल में भी प्रचलित थी जैसा कि महाभारत की इस उक्ति से प्रतीत होता है—"गृहे पारावता धन्या।"

कबूतर की कई उपयोगिताएं भी हैं, जिनमें सबसे बड़ी उपयोगिता तो यह है कि ये सदा से सन्देश-वाहक का काम करते आए हैं। तभी तो विरहिणी उर्मिला ने कहा था—

लेने गए क्यों न तुम्हें कपोत! वे,
गाते सदा जो गुण थे तुम्हारे,
लाते तुम्हीं हा! प्रिय-पत्र पोत वे,
दुःखाब्धि में जो बनते सहारे।

प्राचीनकाल में, कहते हैं, मिस्र की जग-विख्यात सुन्दरी रानी क्लियोपैट्रा ने अपना प्रणय-पत्र एक कबूतर के द्वारा ही रोम में मार्क एन्टोनी के पास भेजा था तथा बादशाह अकबर ने बीस हजार सन्देश-वाहक कबूतर पाल रखे थे।

आधुनिक काल में, रायटर की समाचार एजेंसी स्थापना के आरम्भ में समाचार कबूतरों की मार्फत ही यहां-वहां भेजा करती थी।

सिखाये हुए कबूतर लड़ाई के दिनों में इधर-उधर सन्देश ले जाया करते हैं। उड़ाका किस्म के ये कबूतर यदि सैकड़ों मील दूर भी छोड़ दिए जाएं तो वे उड़ कर पुनः अपनी जगह पर, अपने घर, वापिस आ जाते हैं। साधारणतः भी यदि ये आसमान की ओर उड़ा दिए जाएं तो सुदूर आकाश में बीसियों बार उड़ते चले जाते हैं और घंटों तक उड़ते रहते हैं, फिर अपने निवास-स्थान पर लौट आते हैं। इनमें अधिक उड़ाका इसी जाति के

कबूतर हैं। ये कई रग के होते हैं ।

पक्षी शास्त्र के विशेषज्ञो ने पडुक, हारिल, आदि पक्षियो को भी कपोत के ही वश अथवा श्रेणी में रखा है पर आमतौर पर हम इनका कबूतरो में शुमार नही करते । हा, एक पक्षी है जो कबूतर तथा फाखता-पडुक के मेल से पैदा होता है और देखने में दोनो से ही मिलता है, वह है—कुमरी। कबूतरो की तरह लोग इसे भी पालते है। यह अधिकतर दो रगो में पाया जाता है, सफेद तथा हल्का बादामी। आकार में पडुक से मिलता-जुलता सा होता है । फारसी तथा उर्दू-साहित्य में कुमरी का जिक्र बहुत आया है, खासकर सर्व (अशोक) वृक्ष के साथ-साथ, यथा—

बगुलबन बुलबुलो कुमरी बसर्वे बोस्तां नजद ।

(बेदिल)

*   *   *   *

जिस जगह जलवानुमां रहते थे सर्व-ओ-शमशाद,
मुश्ते पर कुमरी के उस जां नजर आये यक बार।

(सौदा)

❂

हारिल

जिन दिनो मै स्कूल में पढता था, मुझे शिकार का और शिकारियो के साथ घूमने का बहुत शौक था। मै स्वय तो किसी जानवर या पक्षी को नही मारता था, किन्तु बन्दूक अथवा रायफल का निशाना ठीक बैठने पर उल्लास से अवश्य ही भर उठता था। यही था मेरा शिकार। उषाकाल से लेकर सन्ध्या तक शिकारी मित्रो के साथ वन-प्रान्तरो में, तराइयो में, पैदल, नाव पर, जल-विहगो की खोज में झीलो के आस-पास, घडियाल की तलाश में बागमती, कमला, गडकी आदि सरिताओ के वीहड, जनहीन तटो पर मैंने न जाने कितने दिन बिताए होगे। सवाद मिला कि नदी के अमुक स्थान पर घडियाल निकला हुआ है और हम खाना-पीना छोड-छोड कर दौडे । घोर शीतकाल में पौ फटते ही—या उसके भी पूर्व—ठढक से थरथराते हुए हम लालसर आदि जल-चिडियो के शिकार के लिए मीलों फैली हुई झीलो की ओर चल पडते थे। कोहरे में ये पक्षी दूर तक देख नही पाते, अत नौका इनके बिल्कुल समीप ला कर शिकारी इन पर बन्दूक दागते है तथा एक-दो नहीं, बल्कि दर्जनो की सख्या मे इन्हे मारने में सफल होते है।

किन्तु जीवन के उस उषाकाल में, जिस चीज़ की खोज में मै सबसे ज्यादा घूमता रहा वह न तो घडियाल था और न जल के पक्षी ही। वे हारिल थे (चित्र सख्या . ८) जिनके प्रति न जाने क्यो मेरे मन में एक खास आकर्षण था। अधिकतर विशाल सेमल अथवा वट, पीपल और पाकड के वृक्षो पर वे पाए जाते थे, उनके पके हुए छोटे-छोटे फल मानो उन्हे वहा खीच लाया करते हो। घटो हम ऐसे वृक्षो की तलाश में, गावो से बाहर, सरिता के पुलिन-प्रान्तरो में विचरते तथा हारिल की मधुर कूजन की प्रतीक्षा में समय बिताया करते थे। इनके शरीर का रग वृक्ष के पत्तो जैसा हरा होने के कारण उनसे

कुछ ऐसा मिलता-जुलता सा होता है कि सहसा इनका पता पाना कठिन हो जाता है । कुछ काल शान्त-भाव से व्यतीत करने पर ही, जब ये अपने को खतरे से बाहर समझकर आनन्द से कूजने लगते हैं, इनके अस्तित्व का पता चलता है । स्वभाव से ही ये भीरु एवं शर्मीले होते हैं तथा मनुष्य की समीपता का आभास पाते ही चुप हो जाते हैं अथवा उड़ कर अन्यत्र चल देते हैं। ये झुंड बांध कर रहते हैं और उड़ कर दूर नहीं जाते, आसपास के ही किसी दूसरे वृक्ष पर जा बैठते हैं ।

वृक्ष ही इनका निवास-स्थल है और क्रीड़ा-क्षेत्र भी । ये शायद ही कभी वृक्ष से नीचे उतरते हों । टहनियों को बड़े जोर से अपने चंगुलों के सहारे पकड़ कर सर नीचे, पैर ऊपर करके ये फल खाते हैं तथा इस प्रकार न्यूटन के गुरुत्वाकर्षण के सिद्धांत पर जबर्दस्त आघात कर डालते हैं । छोटी टहनियों को चंगुलों से ये कुछ ऐसे जोर से पकड़ते हैं कि उनका कोमल हिस्सा टूट कर इनके चंगुलों में जा फँसता है । इस जनश्रुति का कि हारिल कभी जमीन पर नहीं उतरते और यदि कभी पानी पीने के लिए उतरते हैं तो पांवों में लकड़ी का टुकड़ा लेकर, यही आधार प्रतीत होता है । निस्सन्देह हारिल को वृक्ष बड़ा प्यारा है और शायद ही किसी ने उसे जमीन पर अथवा किसी मकान की छत पर, या और कहीं, बैठा पाया हो, वृक्ष की टहनी ही मानो उसके जीवन का आधार हो। काश ! जिस प्रकार हारिल ने वृक्ष की टहनी से नेह लगा रखा है उसी प्रकार हम परमात्मा से नेह लगा पाते। भक्त कवियों ने हारिल की इस परम्परा का अपने पदों में पूरा उपयोग किया है । सूरदास ने कहा है, "हरि मेरे हारिल की लकरी" तथा और भी अनेक भक्त-हृदय कवियों ने इस रूपक का व्यवहार किया है—

> कत न भयो मन धीर,
> तज पीतम को चरण-छांह पल, इत-उत भ्रमत अधीर ।
> स्वाति-वारि तजि कबहुक चातक, दूजो वारि ग्रहै न,
> तजि तरु-डार कबौं हारिल लखु, पल निज पांव धरै न ।

हारिल के जमीन पर पांव न रखने की बात सच हो या गलत, पर इसमें सन्देह नहीं कि इस देश में सदियों से यह धारणा बनी रही है और कवियों ने उसकी इस मनोवृत्ति की, उसके इस प्रण-पालन की, भूरि-भूरि प्रशंसा की है, इसे आदर्श माना है ।

हारिल की इस टेक के सम्बन्ध में मैंने बहुत छान-बीन की, अनुसन्धान किया, पर कोई ऐसा न मिला जो यह कह सकता कि उसने इसे जमीन पर उतरते देखा है । पानी पीने के लिए भी यह नदी अथवा सरोवर तटवर्ती ऐसे वृक्ष की डाल पर बैठता है जो जल का स्पर्श करती हो या उसके बिल्कुल समीप तक झुकी हुई हो । ऐसी ही दशा का जिक्र शायर [illegible] ने बड़े सुन्दर ढंग पर किया है—

> पानी को देखती हो झुक-झुक के गुल की टहनी,
> जैसे हसीन कोई आईना देखता हो।

पर हां, एक सज्जन श्री [illegible], जिन्होंने पक्षी-जीवन का काफी अध्ययन किया है, कहते हैं कि हारिल जमीन पर भी उतरते हैं पर कभी-कभी ही, और उतर कर छोटे-छोटे बीजों का भक्षण करते हैं । हिमालय की पहाड़ियों में ये झुण्ड-झुण्ड [illegible] के खेतों में काफी लूटपाट मचाते हैं । [illegible] जिले के एक गांव में इन्होंने हारिलों

को नीचे उतर कर खर्रा मिट्टी तक खाते देखा था । वे कहते है कि आदिवासी जाल लगा कर इन्हे फँसाते भी है, वह भी एक नही, बीसो को एक साथ ।

श्री भिक रोज़नर का यह कथन हारिल-सम्बन्धी इस प्राचीन धारणा पर, कि वे जमीन पर पाव नही रखते, एक प्रबल आघात है ।

साधारणत यह धारणा है कि हारिल की दो ही किस्में होती है, एक वह जो कि भारतवर्ष को समतल भूमि पर पाई जाती है और दूसरी वह जो कि हिमालय की पहाडियो में। पर गौर से देखने से पता चलता है कि समतल क्षेत्रो में पाए जाने वाले हारिलो की एक नही, नौ किस्में है। इन सब के पर हरे अवश्य होते है किन्तु हरेपन में काफी फर्क है—कोई गाढा, कोई हल्का, कोई धानी, कोई वट वृक्ष के पत्तो के रग का । इनके सर, छाती, डैने, पीठ तथा मल-त्याग के छिद्र पर श्रेणी-भेद से लाल, बैंगनी, स्लेटी, रक्ताभ, बादामी, भूरे आदि रगो की छाप होती है । पाव सबो के नारगी लाल होते है, केवल एक के गाढे पीले होते है । आख की पुतली नीली होती है और उसके चारो ओर एक गुलाबी घेरा होता है । चोच मोटी और मज़बूत होती है, जिसका निचला हिस्सा हरा और आगे का नीलापन लिए सफेद होता है ।

गरज यह कि हारिल एक सुन्दर पक्षी है। यद्यपि यह कोयल अथवा पपीहे की तरह ज़ोर-ज़ोर से बोल कर दुनिया भर में अपनी वाणी के माधुर्य का ढिंढोरा नही पीटता, इसका आहिस्ता-आहिस्ता बोलना, कूजना, कानो को बडा प्यारा लगता है ।

ऊपर जिन नौ प्रकार के हारिलो की चर्चा की गई है, उनमें सबसे बडा वह है जो प्राय १८ इन्च लम्बा होता है तथा अधिकतर मलाबार के वनो में तथा अल्प सख्या में बगाल, उडीसा, असम तथा बिहार में भी पाया जाता है । छोटा नागपुर तथा असम में पाए जाने वाले हारिलो में बाहुल्य उनका है जिनकी छाती का रग गाढा नारगी तथा कद साढे ग्यारह इन्च का होता है। ऐसा प्रतीत होता है कि हारिलो ने अपने क्षेत्र बाट लिए हैं क्योकि भारतवर्ष के खास-खास क्षेत्रो में खास-खास किस्में पाई जाती है और एक क्षेत्र में एक से अधिक किस्में शायद हो पाई जाती हो । सबसे साधारण जाति का हारिल वह है जो हिन्दुस्तान के प्राय सभी प्रान्तो से लेकर बर्मा, लका, चीन, विएतनाम तथा थाइलैण्ड तक मे पाया जाता है ।

यह कद मे १३ इन्च होता है तथा इसका रग हरापन लिए हुए पीला तथा राख के रग का भूरापन, डैनो मे कालिमा, परो के किनारे खूब चमकीला पीलापन होता है । कन्धो पर फालसई रग का छोटा-सा धब्बा होता है। नर और मादा में कोई खास अन्तर नही होता। इसके अडा देने का समय मार्च से लेकर जून तक है। अडे बिल्कुल सफेद होते है।

आकार मे सबसे लम्बा वह हारिल है जो १७-१८ इन्च का होता है तथा रग मे साधारण जाति के हारिल स कुछ भिन्न है, और जो मलाया, फिलिपीन, इण्डोनेशिया तक मे पाया गया है। भारतवष मे अधिकतर मलाबार के वनो में तथा कुछ और हिस्सो मे भी प्राप्य है, जसा कि ऊपर कहा जा चुका है।

अदमान तथा निकोबार क द्वीपो मे एक और ही प्रकार का हारिल पाया गया है जो इस दश म पाइ जान वालो ७ किस्मो से बिल्कुल भिन्न है । कई वर्ष हुए हिमालय की उस तराई के जगलो मे भी, जो उत्तर-बिहार के सन्निकट है, एक खास किस्म का हारिल

दिखाई दिया था जिसकी दुम हू-बहू तोते की पूछ जैसी लम्बी थी। मि० मन्स नामक एक अंग्रेज शिकारी ने इसे बन्दूक का निशाना बना कर इसके मृत शरीर को बम्बई की नेचुरल-सोसाइटी के पास भेज दिया था। संसार के और किसी हिस्से में इस जाति के हारिल के अस्तित्व का उल्लेख किसी पुस्तक अथवा पत्रिका में देखने को अब तक नहीं मिला है। आमतौर पर हारिल की पूछ छोटी होती है, तोते जैसी लम्बी नहीं। सम्भव है यह हारिल तथा तोते के मेल से पैदा हुआ हो।

हिमालय की पहाड़ियों में पाए जाने वाले हारिल को कोकिला नाम से पुकारते हैं। नर के बदन में हरापन औरों की अपेक्षा अधिक होता है, दुम ज्यादा लम्बी होती है और पीठ तथा डैनों पर रक्ताभ, छाती में नारंगी तथा गुलाबी रंगों का आधिक्य होता है। मादा की छाती नारंगी रंग की नहीं होती तथा डैने एवं पीठ रक्तवर्ण के नहीं होते। इनकी नाक जैतून का-सा हरापन होता है। चोंच तथा आंखों के चारों ओर का चमड़ा नीला और पांव लाल होते हैं। अंग के शेष भाग नर जैसे ही होते हैं। कश्मीर से लेकर हजारा तथा भूटान तक ४,००० फुट से ८,००० फुट की ऊंचाई पर, पूर्व में असम के पहाड़ों से लेकर टेनासरीम, बर्मा तक में इस जाति के हारिल उपलब्ध हैं। बद्रीनाथ-केदारनाथ के पंडे बहुधा इन्हें पिंजड़ों में लाते हैं तथा अपने यजमानों के हाथ बेच जाते हैं पर इन्हें यहां की गर्मी बर्दाश्त नहीं होती। मैंने स्वयं आज से प्रायः बीस-पचीस वर्ष पूर्व इन्हें रखने की कई चेष्टाएं कीं, पंडों के द्वारा बारम्बार इन्हें मंगवाया, पर प्रयत्न विफल रहा, मैं इन्हें जिन्दा न रख सका।

कोकिले का स्वर अन्य जाति के हारिलों की अपेक्षा अधिक मीठा होता है। ये निपुण गायक होते हैं, पर अफसोस! इन्हें हमारा देश पसन्द नहीं, हिमालय का शैल-शिखर ही इन्हें प्यारा है, समतल भूमि के प्रान्तर नहीं।

थोड़े में हारिल का यही परिचय है। ऐसे तो इनकी गणना हम कपोतों में ही करते हैं, पर सिवाय इसके कि इनकी बनावट में सादृश्य है, इनके तथा कपोतों के बीच लम्बी खाई है, न तो ये कबूतरों की तरह ढीठ होते हैं न लप-लजी ही। मानव-आवास से दूर जंगल अथवा गांव से बाहर के पेड़ों पर रहते हैं। लजीले ऐसे होते हैं कि मनुष्य को देखते ही चुप्पी साध लेते हैं—तथा बट, पीपल आदि के छोटे-छोटे फलों से, जिन्हें एक बार में ही निगल जाते हैं, अपना पेट भरते हैं। श्री रोजनर भले ही कहें कि ये कीड़े भी चट कर जाते हैं पर किसी जोर से आज तक इन्हें फल छोड़ कर कुछ और, यहां तक कि साग भी, खाते नहीं देखा। सम्भव है, रोजनर साहब ने जिस हारिल की चर्चा की है वह पाश्चात्य-सभ्यता के प्रभाव में आया हुआ कोई हारिलवंशीय पक्षी रहा हो, किन्तु आमतौर पर हारिल फलाहारी ही होते हैं। ऐसे तो पिंजरे में रखने वाले इन्हें भात तथा सत्तू भी खिलाते हैं, पर फलाहार त्याग कर ये अधिक दिनों तक जीवन धारण करते नहीं देखे गए हैं। अपनी टेक रखने में, चाहे वह भली हो या बुरी, ये बहादुर हैं, मर जाएंगे पर अपनी टेक न छोड़ेंगे—

गहो टेक छूटै नहीं, कोटिन करो उपाय,
हारिल धर पग ना धरै, उड़त-फिरत मरि जाय।

इस रूप में हमारे लिए ये अवश्य ही आदर्श-स्वरूप हैं।

फाखता या पंडुक

फाखता उन पक्षियों में है जो भारतवर्ष के कोने-कोने में पाये जाते है । इस देश में शायद ही कोई ऐसा व्यक्ति होगा जो इस पक्षी को न पहचानता हो । बाग-बगीचो में, सडको तथा गाव की पगडडियो के ऊपर, घर की सहन में—हर जगह नर और मादा पडुक एक सग दाना चुगते हुए नजर आयेंगे । अग्रेजी के ऐंग्लो इडियन कवि डिरोजियो ने (१८०९) इसके सतत सहवास तथा सुखी दाम्पत्य-जीवन का बडे सुन्दर ढग पर उल्लेख किया है—

Through blackest skies the fond dove flies,
  Nor fears the shafts of fate ,
Though winter raves, the blast she braves,
  For with her flies her mate
Oh ! their's the hallowed charm that brings
  Such solace to the dove,
And that alone's the spell that makes
  Her life a life of love

घोर तम को ओर भी पडुक उडानें भर रहा ह
भाग्य के शत-शत शरों से वह नहीं भयभीत
शीत चीखे, हवाए हर दम बहें,
वह उड रहा है
क्योंकि उसके सग है उसका मनोरम मीत
एक जादू है मिलन का, प्रम का,
पडुक उसी में मुग्ध है ।

कबूतर और फाखते की बनावट और स्वभाव में अत्यधिक समानता है । कबूतर की ही तरह इसमें दाम्पत्य-प्रेम का आधिक्य है। नर और मादा हमेशा साथ-साथ रहते है । नर थिरक-थिरक कर, गला फुला कर, "कू-कू-कू" कह-कह कर मादा के आस-पास नाचता तथा उससे प्रेम की भीख मागता है । एक को दूसरे का वियोग उसी भाति असह्य है जैसे कि क्रौंच को। एक के मर जाने पर दूसरा उसके पास उड-उड कर आता
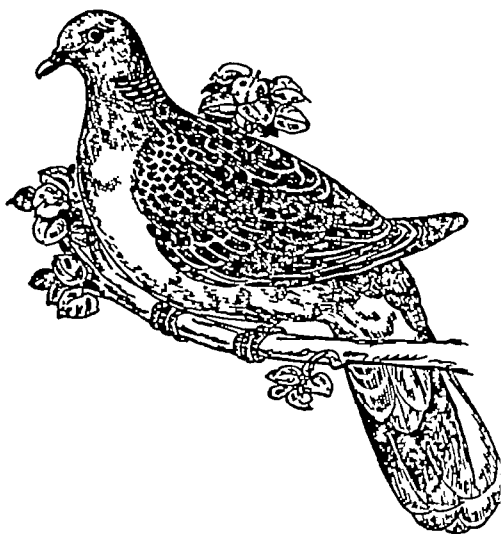
तथा अपने आन्तरिक दुःख का परिचय देता है। मेरे एक बन्धु को फाख्ता के शिकार का अत्यन्त शौक था। बहुधा बन्दूक लेकर वह बाग-बगीचों की ओर निकल जाते तथा फाख्तों का शिकार किया करते थे। कई बार मुझे भी उनके संग जाने का मौका मिला। मैंने देखा, जब कभी एक फाख्ता बन्दूक की गोली का निशाना बन जाती, दूसरी भी बारम्बार उसके समीप आ-आ कर बैठती तथा गोली का शिकार बनती थी। बड़ा ही हृदय-विदारक दृश्य उपस्थित होता था। पर शिकारियों के हृदय कहाँ! उन्हें तो अपने शिकार की थैली उन पक्षियों से भरनी रहती है, जिनका गोश्त स्वादिष्ट होता है। और इसमें शक नहीं कि फाख्ते का मांस खाने में अत्यन्त ही सुस्वादु होता है। वह मांसभक्षियों को बड़ा रुचिकर है। पर ईसाई फाख्ते का शिकार नहीं करते। उनके धर्मग्रंथ बाइबिल में लिखा है—"और जीसस[1] बपतिस्मा[2] के बाद नीचे जल से बाहर हुए और तब आकाश—स्वर्ग—के पट खुल गये तथा उन्होंने भगवद्शक्ति को फाख्ता के रूप में स्वर्ग से उतरते तथा अपने ऊपर बैठते देखा।"

यह नये टेस्टामेंट (बाइबिल का द्वितीय भाग, जिसका सम्बन्ध ईसामसीह से है) का एक अवतरण है। पुराने टेस्टामेंट (जो ईसा के पूर्व के विभिन्न पैगम्बरों से सबंधित है) में भी, आदि में जहां मनुष्य एवं पृथ्वी की सृष्टि तथा आरम्भिक जल-प्रलय की चर्चा है, फाख्ते का इस प्रकार जिक्र आया है—

"उन्होंने[3] एक फाख्ते को बाहर प्रेषित किया ताकि वह देख आये कि पृथ्वी-तल से जल अभी हट पाया है या नहीं। किन्तु फाख्ते को पाँव रखने तक के लिए कहीं ठौर न मिला और वह वापिस लौट आयी, चूंकि सारी पृथ्वी पर जल ही जल था, और उन्होंने हाथ बढ़ा कर उसे अपनी नौका में ले लिया। पुनः सात दिनों तक वह रुके रहे। फिर फाख्ते को उन्होंने दूसरी बार बाहर भेजा। सन्ध्या काल में वह फाख्ता लौटी और इस बार उसके मुह में ऑलिव (जैतून)[4] का एक पत्ता था जिससे नोह को यह पता लग गया कि पृथ्वी-तल पर से जल अब हट गया है। वह सात दिन और रुके, फिर फाख्ते को एक बार पुनः बाहर भेजा। पर इस बार लौट कर वह वापस न आयी।"

गरज यह कि ईसाइयों की दृष्टि में फाख्ता एक पवित्र पक्षी है और वे इसे बड़े आदर की नजर से देखते हैं, मारते कदापि नहीं। ईसाई-संसार में यह शान्ति और सन्धि का प्रतीक मानी गयी है। और इसमें सन्देह नहीं कि यह देखने में भी एक निर्दोष एवं भावुक पक्षी प्रतीत होता है।

फाख्ता के कई भेद हैं और यह हिन्दुस्तान के सभी प्रान्तों में पायी जाती है। कद से मैना-जैसी होती है। बिहार में इसे घुघ्घु अथवा घुघ्घी नाम से पुकारते हैं, देश के

---

१ ईसा।

२ ईसाइयों का एक धार्मिक संस्कार, जिसमें जल छिड़का जाता है या स्नान कराया जाता है।

३. नोह की कथा इस प्रकार है: जल-प्रलय के पूर्व भगवान ने एक नौका तैयार कर के धर्मप्राण नोह को कुछ पशु-पक्षियों के संग उसमें रख छोड़ा ताकि वे बचे रहें और उनसे ही सृष्टि का पुनः आरम्भ हो।

४ जैतून के पत्ते शान्ति के द्योतक माने गये हैं।

बाकी हिस्सो में पड्डुक अथवा पडकी के नाम से। यह उन चिडियो में है जो केवल दाना चुग कर ही जीवन बसर करती है। फलो के बाग में रह कर भी यह उन पर आघात नही करती। दाने चुगती है और मौज आने पर नाचती है। न ऊधो का देना, न माधो का लेना। न कौओ की तरह चीजे चुराती है, न कबूतर की तरह हमारे घरो में घुस कर गदगी फैलाती है, न कोयल की तरह हम से दूर भागती है और न तोते अथवा बुलबुल की भाति हमारे बाग के फलो, खेत की फसल, को तहस-तहस ही करती है। मानव-आवास के अति निकट रह कर भी यह पद्म-पत्र की भाति ही रहती है।

इसकी कई किस्में है, कई उपजातिया है, कई नाम है—

धौरी पड्डुक कहु पिउ नाऊ,
जौं चितरोख न दूसर ठाऊं।

पर इसे पहचानना कठिन नही है क्योंकि यह उन पक्षियो में है जिन्हें हम निरन्तर देखते आये है। यह खजन की तरह अच्छे दिनो में साथ, बुरे में त्याग के सिद्धात पर चलने वाली चिडिया नही है, यह बारहमासी है, हर हालत में हमारे सग है। इसकी मुख्य किस्में ये हैं—

१ **काल्हक फाखता**—इसे अग्रेजी में 'टर्टल डव' कहते हैं। कद में यह सबसे बडी होती है, प्राय १३ इच लम्बी। सर, गर्दन तथा ऊपर का भाग ललछौंह भूरा, नीचे का हल्का कत्थई और गर्दन के पिछले हिस्से पर दोनो ओर काली-काली चित्तिया होती है। डैनो पर हल्की स्याही का सा रग तथा कुछ धब्बे-से बने होते है। दुम भूरी, कालापन लिये हुए होती है जिसके सिरे पर गाढा कत्थई रग होता है। आख का रग गाढा लाल, पुतलिया सफेद और चोच भूरी होती है। पाव नीलापन लिए हुए गहरे लाल रग के होते हैं।

आमतौर पर काल्हक फाखते की यही रूप-रेखा है। पर एक विशिष्ट श्रेणी की फाखता का रग बिल्कुल ही सफेद होता है, आखे पीली, पुतलिया लाल तथा चोच रक्तवर्णी होती है। कभी-कभी एक ऐसी किस्म की फाखता भी पायी जाती है जिसका रग हल्का पीला, गले पर और पूछ के नीचे काले की जगह हल्का भूरापन तथा पर की नोक एव पूछ पर श्वेत रग के धब्बे होते है। सभवत यह फालसई तथा श्वेत रग के पड्डुको का सकर है। पर यही जाति है जो पिजडे में अधिक सुगमता से पाली जाती है तथा पिजडे मे अडे देती है।

काल्हक की एक और भी जाति है जिसका रग बाकी सब से भिन्न, गाढा हरा, होता है (चित्र सख्या ६)। पीठ तथा डैने हरे, नीचे के हिस्से अगूर की बेल जैसे होते हैं। कपोल तथा भौंहे सफेद होती है। नर और मादा के रग में कोई अन्तर नही होता। इसे पन्ना फाखता भी कहते है। यह अधिकाशत हिमालय के पूर्वीय इलाको में पायी जाती है, और दक्षिण भारत तथा बगाल, बिहार, उडीसा के कुछ हिस्सो में भी। पहाडो की तराई में बास आदि के वनो से परिवेष्टित स्थानो में रहना इसे ज्यादा पसद है क्योकि और फाखतो की तरह यह मानव-आवास के अडोस-पडोस में नही बल्कि उससे दूर, पेडो की घनी छाया अथवा पर्दे मे रहना चाहती है। पहाडो पर भी यह पायी जाती है पर ६,००० फुट की ऊचाई से ऊपर नही। असम के चाय-बागानो के इर्द-गिर्द यह काफी सख्या में प्राप्त है।

शाह बुलबुल
(श्रीमती चन्द्रिका गुन्तल
द्वारा चित्रित)

चित्र संख्या २२

❀

चित्र संख्या २३

बुलबुल और उसका
परिवार

कहीं-कहीं तो काफी संख्या में देखने को मिलती है और कहीं बिना किसी कारण-विशेष के एक दम ही गायब । गांव से दूर खेत तथा झाड़ियों में दाना चुगना इन्हें अधिक प्रिय है । अधिकतर नर और मादा एक साथ मिलेंगे पर कभी-कभी इनके झुंड भी नजर आते हैं ।

फाख़्तों की मुख्य किस्में इतनी ही हैं। इनके रंग, बनावट और कद में स्थानान्तर से कुछ फर्क भी आ जाता है । एक ही किस्म की फाख्ता उत्तर बिहार में छोटे कद की पर पंजाब में कहीं-कहीं बड़े कद की पायी जाती है । मनुष्यों में जैसे जलवायु के कारण रंगत तथा कद में अन्तर आ जाता है, निस्सन्देह पक्षियों में भी वैसा होता है ।

चाहे कोई फाख्ता फाल्हक हो या चितरोखा अथवा ईंटकोहरी, सभी के स्वभाव और प्रवृत्तियों में, समानता होती है । मसलन, ये सभी साल भर अंडे देती हैं । इनके घोंसले कम या अधिक एक जैसे ही बेडौल होते हैं—दो-चार लकड़ियों के टुकड़ों से बनाये हुए मचान-जैसे, जिसके अन्दर अंडे तथा बच्चे बाहर से साफ नजर आते रहते हैं । अंडे का रंग अधिकांशत एक जैसा होता है । छोटे दरख्तों, खासकर बबूल के वृक्षों पर घर बनाना इन्हें समानरूप से रुचिकर है । मोर और कबूतर की तरह प्रेमोल्लास में नाचना भी इन्हें प्रिय है—

नाचहिं पड़ुक मोर परेवा,
विफल न जाय काहु कै सेवा ।

●

तोता

एक पुरानी कथा है । बहुत दिन हुए सुन्दरवन के एक कोने में तोतों की एक विराट सभा हुई जिसका सभापतित्व काकातुआ वंश के एक पक्षिराज ने किया । सभापति जी ने कहा—

मित्रो, एक समय था जब कि इस संसार में [illegible] में तोतों की बड़ी पूछ हुआ करती थी, मानव-समाज उन्हें बड़ी श्रद्धा की निगाह से देखा करता था, हमारी कथाओं को [illegible] उन्हें पढ़ता था और उनके [illegible] में [illegible] लेता था । स्वयं [illegible] राम के प्रति उन्होंने अपने आदर के जो भाव दिखाये, उसकी [illegible] में जिस प्रकार [illegible], उसे कहने की आवश्यकता नहीं । इतिहास के पृष्ठ भी इसे बताते हैं । हमारा भाग्य केवल मानव जाति की दया पर ही नहीं, हमारी अपनी योग्यता भी थी । हम विद्वान थे, [illegible] थे, तीक्ष्णबुद्धि थे,

४ **राज या रामघुघ्घु**—कद में बहुत छोटी, अन्य फाखतो से भिन्न, तीतर से मिलती-जुलती सी है । नर और मादा में रग-भेद है । नर का रग हल्का चाकलेटी, डैने पर हरियाली लिये हुए पीतल का रग, सर पर भूरी टोपी, कपोल तथा भौंहे श्वेत रग की होती है । आखें बडी-बडी, चोच प्रवाल के रग की लाल तथा पैर रक्तवर्ण के होते है । मादा मे पर का कत्थई रग मद, सर पर भूरी टोपी का अभाव, कपोल तथा भौंहे श्वेत की जगह भूरी होती है । अडे का रग एकदम सफेद नही, जैसा कि और फाखतो का होता है, बल्कि पीलापन लिए होता है । आकार में छोटी होकर भी यह देखने में अतिशय हृष्टपुष्ट तथा बोलने में अत्यन्त मधुरभाषिणी है । पिंजडे में अन्य पक्षियो के साथ लडने की इसकी प्रबल प्रवृत्ति है । इसके घोसले अन्य पडुको से अधिक सुघड एव साफ सुथरे होते है ।

भारतवर्ष के सभी हिस्सो में यह नही मिलती । हिमालय के नीचे के प्रान्तो, बगाल (रामघुघ्घु नाम बगला भाषाभाषियो का ही दिया हुआ है), मलाबार के जगलो तथा गगा और महानदी के प्रान्तरो में यह उपलब्ध है । मानवनिवास-स्थल से अलग, जगलो में रहना इसे अधिक पसद है ।

५ **चोटीदार**—दरअसल यह रहने वाली आस्ट्रेलिया की है, पर भारतवर्ष में भी सुन्दरता के कारण इसे लोकप्रियता प्राप्त है, खास कर पक्षी पालनेवालो के बीच । कद और रूपरेखा में यह बहुत हद तक धवर फाखते से मिलती-जुलती है, पर इसकी पूछ और पाव बडे होते है तथा सर पर एक सुन्दर-सा तुर्रा होता है । प्रणय-प्रदर्शन के समय नर अपनी पूछ उठा कर फैला लेता है तथा अपने डैने को विस्तृत कर मादा के पीछे-पीछे दौडता है ।

६ **धवर**—कद मे चितरोखा के बराबर, पर रग चित्तेदार न होकर राख का जैसा होता है । सर और गले पर इसके गुलाबी मिश्रित भूरापन होता है । गले के ऊपरी भाग पर काले रग की एक कठी भी । देखने में सुन्दर, पर मानव से दूर-दूर ही रहना इसे अधिक रुचिकर है । खेतो तथा छोटे-मोटे जगलो की झाडियो में (घोर वन भी इसे प्रिय नही) झुड बाधकर रहती है जैसा कि अन्य फाखताए नही करती या कम करती हैं । इसकी बोली में भी एक प्रकार का कडापन है, माधुर्य नही । हा, घोसला बनाने में औरो की अपेक्षा यह अधिक निपुण है और इसके नीड अधिक मजबूत और सुरक्षित होते है । ११,००० फुट की ऊंचाई तक यह पायी जाती है ।

७ **ईटकोहरी या सिरोटी**—कद में सबसे छोटी (६ इच) होती है पर बोली इसकी सबसे मधुर होती है । इसके नर व मादा का रग एक दूसरे से भिन्न होता है । ईट का-सा रग होने से ही इसे ईटकोहरी कहते है ।

नर के सर का रग स्लेटी, बाद का हिस्सा ई ट की तरह सुर्ख, डैने के सिर पर कत्थई रग, गले में काली कठी होती है । दुम स्लेटी रग की होती है, किन्तु मध्यभाग में भूरापन होता है । किनारे काले और सफेद होते है । नीचे का हिस्सा लाल होता है । केवल दुम के नीचे सफेदी होती है ।

मादा का ऊपरी भाग राख के वर्ण का होता है । डैने पर लाली नही होती । गले में नर की ही भाति काली कठी होती है । भारतवर्ष के तमाम हिस्सो में यह उपलब्ध है, पर

कहीं-कहीं तो काफी संख्या में देखने को मिलती है और कहीं बिना किसी कारण-विशेष के एक दम ही गायब। गांव से दूर खेत तथा झाड़ियों में दाना चुगना इसे अधिक प्रिय है। अधिकतर नर और मादा एक साथ मिलेंगे पर कभी-कभी इनके झुंड भी नजर आते हैं।

फाख्तों की मुख्य किस्में इतनी ही हैं। इनके रंग, बनावट और कद में स्थानान्तर से कुछ फर्क भी आ जाता है। एक ही किस्म की फाख्ता उत्तर बिहार में छोटे कद की पर पंजाब में कहीं-कहीं बड़े कद की पायी जाती है। मनुष्यों में जैसे जलवायु के कारण रंगत तथा कद में अन्तर आ जाता है, निस्सन्देह पक्षियों में भी वैसा होता है।

चाहे कोई फाख्ता चाल्हक हो या चितरोखा अथवा ईंटकोहरी, सभी के स्वभाव और प्रवृत्तियों में, समानता होती है। मसलन, ये सभी साल भर अंडे देती हैं। इनके घोंसले कम या अधिक एक जैसे ही बेढौल होते हैं—दो-चार लकड़ियों के टुकड़ों से बनाये हुए मचान-जैसे, जिनके अन्दर अंडे तथा बच्चे बाहर से साफ नजर आते रहते हैं। अंडे का रंग अधिकांशतः एक जैसा होता है। छोटे दरख्तों, खासकर बबूल के वृक्षों पर घर बनाना इन्हें समानरूप से रुचिकर है। मोर और कबूतर की तरह प्रेमोल्लास में नाचना भी इन्हें प्रिय है—

नाचहिं पडुक मोर परेवा,
विफल न जाय काहु कै सेवा।

●

तोता

एक पुरानी कथा है। बहुत दिन हुए, सुन्दरवन के एक कोने में तोतों की एक विराट सभा हुई जिसका सभापतित्व [illegible]-कुल-वंश के एक पक्षिराज ने किया। सभापति जी ने कहा—

मित्रो, एक समय था जब कि इस संसार में खासकर भारतवर्ष में तोतों की बड़ी पूछ हुआ करती थी, मानव-समाज उन्हें बड़ी इज्जत की निगाह से देखा करता था, हमारी गाथाओं को पुस्तक रूप में संकलित कर उन्हें पढ़ता था और उनके प्रचार में सहायक होता था। अनेक [illegible] तोता के और उसने अपने [illegible] के [illegible] दिखाये, उनकी स्मृति में [illegible] स्मारक बना, [illegible] की आवश्यकता नहीं। इतिहास के पृष्ठ भी उसे गाते हैं। इसका कारण केवल मानव जाति की उदारता ही नहीं, हमारी अपनी योग्यता भी थी। हम विद्वान थे, मेधावी थे, तीक्ष्णबुद्धि थे,

भगवद्भक्त थे और ससार में स्वभावत अपना स्थान रखते थे । जिन चीजो को मान कुल के विद्यार्थी हफ्तों, बल्कि महीनो में रट-रट कर कठस्थ करते थे, उन्हे हम दो-ए दिनो में ही सीख लेते और इस प्रकार अपनी अद्भुत मेधाशक्ति का परिचय देते थे स्मरण होगा, जब भगवान शकराचार्य भारतवर्ष के विविध विद्वानो को शास्त्रार्थ परास्त कर मिथिला पधारे थे ताकि तद्देशीय ख्यातिप्राप्त विद्वान् प० श्री मडन मिश्र क भी पराजित करे, तथा कुवें पर पानी भरती हुई किसी ग्राम बाला से उनके घर का पत पूछा था, तो उसने इन शब्दो में उनके गृह का परिचय दिया था—

जगद्ध्रुवंस्यात् जगदध्रुवस्यात्
शुकांगना यत्र गिरो गिरन्ति,
द्वारस्थनीडान्तरसन्निरुद्धा
जानीहि तं मंडन पडितौकः।

अफसोस कि आज वह हमारी स्थिति नही । न तो मानव समाज गुणो का पारखी ही रहा, न उसके दिल में पहले जैसी कद्रदानी रही, और न हमारे बीच वे गुणभडार ही हर चीज में, हर बात में, परिवर्तन है—

वह मुतरिब और वह साज, वह गाना बदल गया,
नींदें बदल गयीं, वह फिसाना बदल गया !
रंगे रुखे बहार की जीनत हुई नयी,
गुलशन में बुलबुलों का तराना बदल गया !

ध्यान दीजिए—'गुलशन में बुलबुलों का तराना बदल गया।' मानव से यह न हुआ कि इस मिसरे में बुलबुल की जगह वह हमारे तोते का जिक्र करता । यही नही, 'तोताचश्म' जैसे मुहावरे की ईजाद करके हमारे सारे समाज को कलकित करने की उसने चेष्टा भी की । पर—

निगाहें कामिलों पर पड़ ही जाती हैं जमाने की,
कहीं छिपता है तोला फूल पत्तों में निहा हो कर ?

कहना न होगा कि तमाम उपस्थित तोतों ने कर्णभेदी 'टर्र-टर्र' शब्दो में हर्षध्वनि कर इस भाषण पर अपनी स्वीकृति की मुहर लगा दी । निस्सदेह प्राचीन काल में इस पक्षी विशेष की जो कद्र थी वह आज नही रही । उदाहरण के लिए विशिष्ट कुल की सुन्दरियों के दृष्टिकोण को ही लीजिए । जहा पूर्वकाल में नूरजहा तथा मुमताज महल जैसी बेगमें, जिनके सौंदर्य की शोहरत सारे जहान में फैली हुई थी, दिन-रात अपने हाथो पर तोता लिये फिरती थी, जो उनके प्राचीन चित्रो से साफ जाहिर है,वहा आज की रूपयौवन-सम्पन्न महिलाए कुत्ते लिए फिरती है ।

सभा समाप्त हुई । निम्नलिखित सह-गान के साथ देश-देश से आये हुए सुग्गो ने कार्यक्रम को पूरा किया और कुछ काल सुन्दरवन में बिता कर स्वागत समिति के द्वारा आयोजित विविध फूलो की दावत खाकर वे अपने-अपने देश को चले गये । गान यो था—

वंश-गौरव को न हम छोड़ें कभी,
नाम-साधन से न मुख मोड़ें कभी,

श्रेष्ठ विहगों से सभी हम, भाइयो।
प्रीति संसृति से न हम जोड़ें कभी।

पूर्वोक्त सभा या महासभा में भारतवर्ष के विभिन्न प्रान्तों से आये हुए तोते तो थे ही, बर्मा, मलय, आस्ट्रेलिया, न्यूज़ीलैंड आदि के तोते भी सम्मिलित हुए थे। सभापति का स्थान, जैसा कि पहले बताया जा चुका है, काकातुआ (चित्र संख्या ८९) ने ग्रहण किया था।

काकातुओं को हम शुद्ध भारतवासी नहीं कह सकते, पर साथ ही इस देश के लोग इस जाति के तोतों से बिल्कुल अपरिचित भी नहीं हैं, क्योंकि एक बड़े अर्से से, सदियों से, ये यहां के लोकप्रिय पालतू पक्षियों में स्थान पाते आये हैं। पर रहने वाले ये मलक्का, फिलिपीन, और खास करके आस्ट्रेलिया के हैं, जहां इनकी छोटी-बड़ी अनेक उपजातियां पायी जाती हैं। इनके रंग और इनकी सूरतें तरह-तरह की हैं। आमतौर पर इनकी पूंछ छोटी तथा सर पर तुर्रा या चोटी सफेद, काली, भूरी, लाल किंवा पीले रंग की होती है। नीली आंखें तथा लाल तुर्रे वाले काकातुआ अधिक सुन्दर दीख पड़ते हैं। अपनी बनावट-सजावट से ही ये पक्षी-समाज में एक विशिष्ट स्थान रखते हैं, ऐसे प्रतीत होते हैं मानो ये पक्षियों के शहंशाह हों।

भारतवर्ष में इनके पालने की परिपाटी बहुत पुरानी है। अधिकतर लोग इन्हें पिंजड़ों में न रख कर लोहे के मोटे अड्डों पर जंजीर से बांधकर रखते हैं। किसी अज्ञात आगन्तुक के आने पर जोरों से चिल्ला कर गृहस्वामी को ये सचेत कर देते हैं और यदि आने वाले का उद्देश्य चोरी करने का हो तो इसे वे फौरन ताड़ भी जाते हैं मानो अन्तर्यामी हों, तथा तब तक शोर मचाते रहते हैं जब तक कि घर का कोई व्यक्ति वहां आ न जाय। कभी-कभी ये चोंच से आगन्तुक पर प्रहार भी कर डालते हैं।

कलकत्ते में खासतौर पर इनके पालने का रिवाज है। प्राचीन बंगाली परिवारों में शायद ही कोई ऐसा परिवार मिले जिनके घर में ये नजर न आयें। ये काफी वजनदार होते हैं और इनकी कीमत आकार एवं रूप-रंग के अनुसार पांच-छः सौ रुपये तक भी होती है। यदि हिफाजत के साथ रखे जायं तो ये बहुत दिनों तक जिन्दा रहते हैं। कहते हैं, इनकी उम्र काफी लम्बी—सौ-डेढ़-सौ साल तक की होती है। मनुष्य से ये कहीं अधिक आयु वाले होते हैं। कलकत्ते में एक विशिष्ट सज्जन रहा करते थे। मैं उनसे मिलने बहुधा जाया करता था। पक्षी पालने का उन्हें खास शौक था। पिंजड़े में मोयना, जो सवेरे से लेकर शोनकाल के आरम्भ तक सदा पाठ-पाठ कर गाती तथा सारे मुहल्ले को प्रतिध्वनित कर रखती थी, साथ मुनिये, हरे तोते आदि तरह-तरह के पक्षी रखे थे; साथ-साथ एक बड़े आकार का, अति सुन्दर रंगों वाला काकातुआ भी, जो मकान की सीढ़ियों के पास अपने अड्डे पर बैठा हुआ चारों ओर नजर दौड़ाया करता था। आने वालों की पूर्व-सूचना वह अपनी आवाज से दे देता था तथा उसकी आवाज सुनते ही वे समझ जाते थे कि कोई आता है। शुरू-शुरू में मुझे देखकर भी वह ऐसा ही करता था पर पीछे धन भर मुझे पहचान गया था, अतः चुप रहता था। अफसोस, आज ४-५ साल हुए उनका देहान्त हो गया, पर जिन्दे भी दोषन और वह काकातुआ आज भी मौजूद हैं। मैं अब भी वहां जाया करता हूं, पर न तो वह मोयना ही उस मेलोडियस के

साथ गाती है और न उस काकातुआ में ही उत्साह की वह पुरानी भावना रह गयी है। वह नतमस्तक, सुस्त बैठा रहता है। पक्षियो में स्नेह का भाव कितना प्रबल है, इसका दृष्टात यह काकातुआ है।

पालतू हो जाने पर बहुत से लोग काकातुआ को बन्धन-मुक्त करके भी रखते हैं। वह अडोस-पडोस, बाग-बगीचो में घूमता है और फिर अपने अड्डे पर लौट आता है।

काकातुआ की एक छोटी किस्म भी है जिसे हम काकातुई के नाम से पुकार सकते हैं। कद में छोटा पर देखने में यह भी बडा सुन्दर रग-बिरगा तोता है। काकातुआ और काकातुई दोनो ही आस्ट्रेलिया के सर्वश्रेष्ठ पक्षी हैं और शाम के वक्त वे वहा किसानो के दरवाज़ो पर दल-के-दल उसी तरह दाने चुगने को आ पहुचते हैं जैसे कि हमारे देश में पालतू कबूतर। खेतो में हल के पीछे-पीछे भी ये चला करते हैं। ऐसे तो सभी वृक्षो पर रहते है, पर युकलिप्टस् का वृक्ष इन्हे सबसे अधिक पसन्द है। जिन्होंने इनके मास को अधिक खाया है, उनका कहना है कि इनके मास से भी युकलिप्टस् की तीव्र खुशबू आती है।

काकातुआ इस देश का पक्षी नही है पर इसके पालने का इस मुल्क में कुछ इतना ज्यादा रिवाज रहा है, कि हम इसके साथ वही आत्मीयता अनुभव करते हैं जो हरे तोतो के साथ। यह अपने तुर्रे को अधिकाशत गिरा कर रखता है पर जब उठाता है तो ऐसा लगता है मानो किसी जापानी महिला के हाथ में विभिन्न रगो में रगा हुआ व्यजन हो अथवा किसी लोकपाल का मुकुट हो।

ऊपर जिस सभा का उल्लेख किया जा चुका है उसमें अधिक सख्या उन तोतो की थी, जिन्हे हम रोज दिन में अपने बाग-बगीचो के वृक्षो पर दल बाध कर बैठे हुए अथवा खेतो में लगी हुई फसलो—बाजरा, भुट्टा आदि की बालियो पर आघात करते हुए देखते हैं या कि आकाश में उडते हुए, अर्थात् हरे रग के देशी सुग्गो की। दूर से देखने से ये सभी एक समान ही नजर आते हैं। पर इनकी दर्जनो किस्में हैं। किन्तु दो प्रकार के तोते उत्तर भारत में अधिक पाये जाते हैं, एक वे जिनके शरीर का रग हरा, दुम के पर पीले-हरे, चोच लाल, ठोडी पर काला धब्बा होता है। नर के एक कठी होती है जिसका रग ऊपर गुलाबी, नीचे लाल होता है, आख से लेकर नाक तक एक काली धारी भी होती है। मादा की कठी का रग हल्का हरा होता है। आखें सफेद होती हैं। लम्बाई में ये प्राय १६ इच होते हैं, १० इच की पूछ और छ इच का बदन। दूसरे वे जिन्हें लालटुइया या लालसिरा भी कहते हैं। फर्क इतना है कि इसकी चोच लाल नही, नारगी रग की होती है और गर्दन बैगनी रग की। आखें श्वेत भी होती हैं और गुलाबी भी, तथा पाव का रग भूरा न होकर गुलाबी लिये होता है। आमतौर पर ये दो प्रकार के तोते भारतवर्ष से लेकर लका आदि देशो में तथा पीरू तक में पाये जाते हैं। आज से हज़ारो वर्ष पूर्व ये रोम तथा यूनान तक में लोकप्रिय हो चुके हैं। रोम के प्रसिद्ध कवि ओभिड ने जिस तोते पर मरसिया लिखा था, उसके रूप-वर्णन से साफ ज़ाहिर है कि वह उपर्युक्त जाति का ही कोई तोता था। कहते हैं, सिकन्दर जब भारत से लौटा तो अपने साथ अनेक तोते लेता गया और तभी से यूनान में और फिर रोम में तोता पालने की प्रथा चल पडी। फिर तो समुद्र हो कर जो कोई भी जहाज कालान्तर में, पूर्व से पश्चिम को गया, सैकडो तोते लेता गया। यूरोपीय देशो में तोता पालना भी एक फैशन-सा हो गया।

एक तीसरे प्रकार का तोता, जो समस्त भारत तथा लंका, बर्मा, अंडमान आदि में पाया जाता है, वह है जिसकी समानता पूर्वोक्त किस्मों के तोतों से तो है, परन्तु जो कद में उनसे बड़ा होता है तथा जिसकी पांख पर गहरे लाल रंग का एक धब्बा-सा होता है। बंगाल में इसे 'चन्दना' नाम से पुकारते हैं।

एक और तोता हिन्दुस्तान के कई हिस्सों में मिलता है जिसका बदन छोटा, मैना के आकार का, पर पूंछ काफी लम्बी होती है। शरीर हरा, पर सर का रंग नीलापन लिये लाल होता है। पूंछ के मध्य भाग के पर नीले होते हैं जिनके अग्रभाग पर सफेदी होती है। डैनों पर लाल धब्बे होते हैं। चोंच लाल न होकर नारंगी रंग की होती है। बर्मा में भी इस प्रकार के तोते पाये जाते हैं पर उनके परों में नीलापन नहीं होता, वे बिल्कुल धानी होते हैं।

इस किस्म के तोतों तथा औरों में फर्क यह है कि जहां उनकी आवाज में कर्कशपन है, माधुर्य का अभाव है, वहां इनके कूजन में एक प्रकार की मधुरिमा है जो कानों को बड़ी प्यारी लगती है। मार्च से लेकर मई तक इनके अंडे देने का समय है। बाकी तोते, जिन का ऊपर उल्लेख हो चुका है, उत्तर भारत में मार्च-अप्रैल में और दक्षिण भारत में जनवरी-फरवरी में अंडे देते हैं। अंडों का रंग बिल्कुल श्वेत होता है। तोते घास-फूस के घोंसले नहीं बनाते। मादा दीवार अथवा वृक्षों के सूराखों में अंडे देती है। बना-बनाया सूराख यदि नहीं मिला तो खुद चोंच की सहायता से नर-मादा सूराख बना डालते हैं जिसे पूरा करने में कभी-कभी डेढ़ महीनों लग जाते हैं। सूराख का दरवाजा प्रायः दो इंच चौड़ा होता है, भीतर ४-५ इंच। यहां लकड़ी की कुछ चिप्पियां बिछा कर मादा चार-चार ६-८ अंडे तक दे डालती है।

जैसा कि मैं पहले कह आया हूं, तोतों के एक-दो नहीं दर्जनों भेद हैं (चित्र संख्या १५, १६ और ३८) और आमतौर पर इनका रंग हरा होता है चाहे उनमें शरीर के भिन्न-भिन्न स्थान में लाल का मिश्रण हो या पीले अथवा नीले रंग का या और किसी का। भारतवर्ष के कोने-कोने में, हिमालय की ८-५ हजार फुट की ऊंचाई तक, ये पाये जाते हैं। बर्मा, लंका, मलय, थाइलैंड, वियतनाम, चीन आदि देशों में भी पाये जाते हैं। तोतों की प्रकृति में, चाहे वे किसी भी उप-जाति के हों, एक गहरी समानता है। उड़ने में और पक्षियों की अपेक्षा ये ज्यादा तेज होते हैं, बातूनी हैं, कोयल, पपीहा आदि की तरह अलग विचरण न कर बड़े झुंडों में रहते हैं, अर्थात् सामाजिक प्रकृति के हैं, कपोत की भांति इनका भी दाम्पत्य-प्रेम गहरा एवं भावुकपूर्ण है, नर व मादा चोंच मिला कर एक दूसरे के प्रति प्यार-प्रदर्शन करते हैं।

कोटरवाले प्राचीन वृक्षों के कोटर ही तोतों के निवासस्थान हैं। यदि आप किसी नदी-तटवर्ती विशाल बट, पीपल अथवा सेमर वृक्ष पर गौर से निगाह डालें तो यहां आते-जाते या डालों में बैठे हुए और शुक-दम्पतियों की चाटु-चेष्टा अवश्य पायेंगे। शायद इन्हीं की ओर देख कर महर्षि वाल्मीकि ने गंगा से यह इच्छा प्रकट की थी कि—

त्वत्तीरे तरुकोटरान्तर्गतो गङ्गे विहंगो वरं।

—हे, गंगे! तुम्हारे तटवर्ती वृक्ष के किसी कोटर में मैं पक्षी होऊं। कालिदास ने भी अभिज्ञान शाकुन्तल में लिखा था—

नीवाराः शुकगर्भकोटरमुखभ्रष्टास्तरूणामधः।

तोतो के सम्बन्ध में यह एक प्राचीन धारणा है कि सेमल वृक्ष के घोसलो में पले हुए तोतो में अधिक वाक्-चातुर्य होता है । पता नही, इसमें कहा तक सचाई है। निस्सन्देह सबसे अधिक इन्हे वन एव वृक्षो के कोटर अत्यधिक प्रिय है—

वासः काञ्चनपजरे नृपकराम्भोजैस्तनूमार्जनं
भक्ष्यं स्वादुरसालदाड़िमफल पेयं सुधाभं पयः
पाठः ससदि रामनाम सततं धीरस्य कीरस्य मे
हा ! हा ! हन्त ! तथापि जन्म विटपिक्रोड़ं मनो धावति ।

—सोने के घर में मेरा निवास है और ये बडे-बडे राजा-महाराजा स्वय अपने हाथो से मेरा अभिषेक करते है, आम, अनार आदि फल खाने को, अमृत, मधुर जल पीने को देते है, सभा में राम-नाम का पाठ भी चलता रहता है । पर इन सारी सुख-सुविधाओ के रहते भी मेरा मन अपने जन्म-स्थान वृक्ष की गोद की ओर ही भागता रहता है ।

कथन सत्य है, पाले हुए परेवा को यदि आप पचासो कोस की दूरी पर भी छोड आयें तो वह उडकर अपने निवास-स्थल पर लौट आयेगा । पर तोता, बरसो तक पाले जाने पर भी पिंजडे से छूटते ही वन-वृक्ष की ओर ही दौडता है, पीछे लौटकर भी नहीं देखता। इसीलिए क्षण भर में ही नजर बदलने वाले अकृतज्ञ जनो को 'तोता चश्म' कहते है। पर मातृभूमि का प्रेम सर्वोपरि है, तोते की यह प्रवृत्ति क्या इस बात की ही परिचायक नही है ? भगवान कृष्ण का हृदय भी तो कह उठा था—

मणिकांचन की बनी द्वारिका,
गोकुल की छबि नाहीं !

कलकत्ते के चिडिया-बाजार में अथवा न्यू मार्केट के इर्द-गिर्द यदि आपको कभी जाने का सयोग प्राप्त हुआ हो तो आपने रग-बिरगे मध्यम कद के कुछ पक्षी बिकते देखे होगे । ये आस्ट्रेलिया के तोते है, जिनके कई भेद है । आकार में ये उपर्युक्त तोतो से छोटे होते है, पिंजडो में काफी दिनो तक ठहरते है, अडे देते है, रूप-रेखा, रग बडे सुहावने होते है तथा इनका चहकना भी कर्ण-प्रिय है, कर्ण-कटु नही । इनमें सबसे प्रसिद्ध वे है जिन्हे आस्ट्रेलिया-निवासी "बुदगेरिगर" नाम से पुकारते है। ये पिंजडो में बडी अच्छी तरह रहते है तथा गौरयो की तरह आसानी से सन्तानोत्पत्ति भी करते है, उनकी ही तरह इनकी वश-वृद्धि होती है । आज प्राय पचास वर्षों से ये यूरोप के विभिन्न देशो में बडे शौक से पाले जाते रहे ह । ये बोलना भी आसानी से सीख लेते है । इटली में औरतें इन्हे पिंजडो में रखती है और भविष्यवाणी करना सिखाती है । फिर यूरोप के अन्यान्य शहरो में इन्हें ले जाती है तथा इनके द्वारा काफी पैसे पैदा करती हैं। लोग इनसे अपने भविष्य-सम्बन्धी प्रश्न पूछते है और ये जिप्सियो की तरह उनके प्रश्नो का उत्तर देते है । जैसे यदि आपने प्रश्न किया कि मेरी आयु कितनी है, तो पिंजडे के अन्दर से तोता कह उठेगा, ७० वर्ष। लोग इसकी बातें सुनकर स्वभावत बडे चकित होते है ।

कलकत्ते के बाजारो में ही एक और प्रकार के बहुत छोटे कद के तोते बिकते मिलेगे जो सुग्गो की सबसे छोटी उपजाति है । ये फल खाते है, साथ-साथ फूलो के पराग एव मधु का भी पान करते है, जो बडे तोते नही करते । इनके रग विविध प्रकार के तथा

चित्र सख्या : २८ भटतीतर

ा २९ सोहन चिडिया
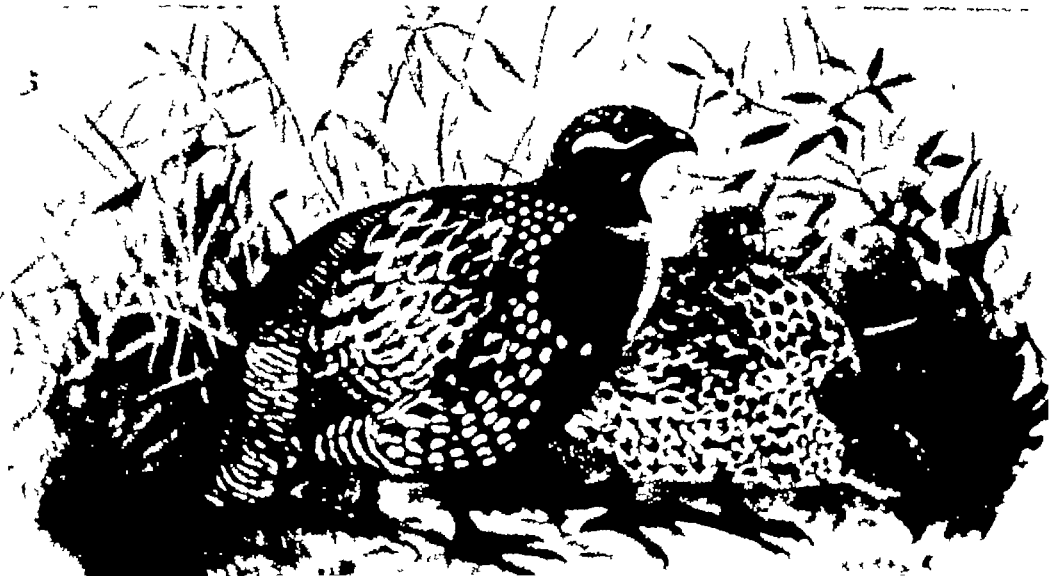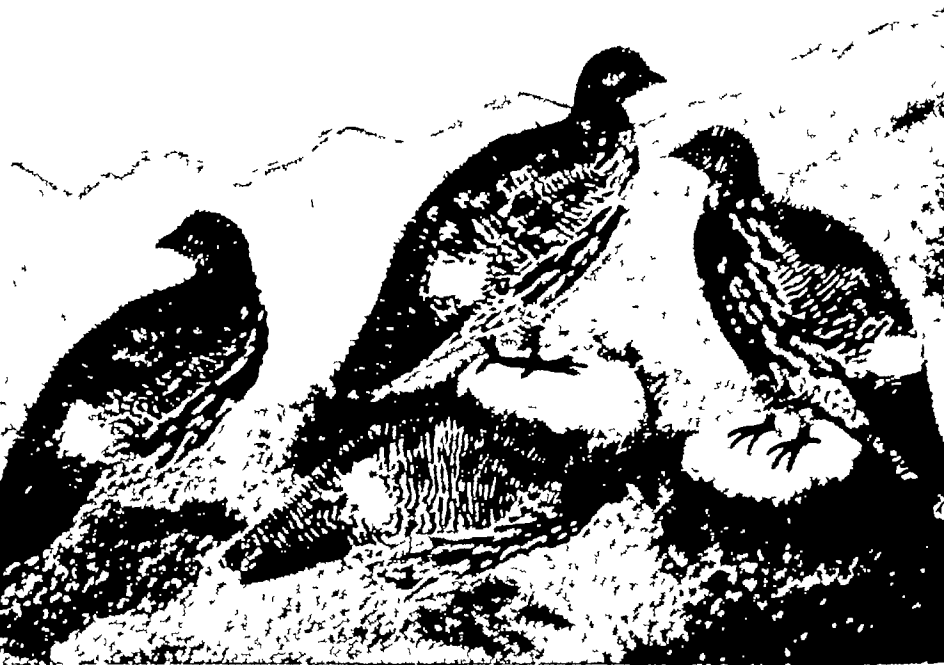
चित्र सख्या ३० च
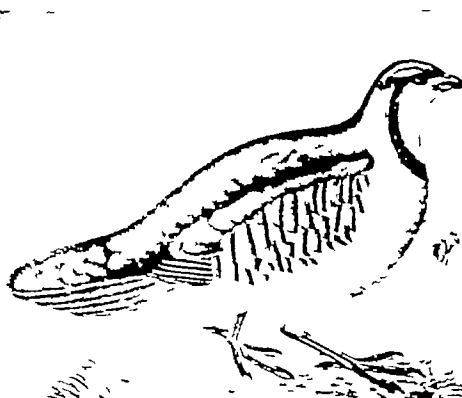
के तोते उतर रहे हैं, इसकी चर्चा, आदि पुराण के निर्माता गुणभद्र ने कितने सुन्दर ढग से की है—

यत्र शालिवनोपान्ते खातपतन्तीं शुकावलीम्,
शालिगोप्योऽनुमन्यन्ते दधतीं तोरणश्रियम् ।

—धान के खेतो के पास आकाश-मार्ग से उतरती हुई शुक-पक्तिया, जो तोरण की शोभा पा रही थी, कृषक बालाओ के द्वारा सम्मानित हुई ।

और फिर—

शुकाऽच्छुकच्छदच्छायैरुचिरांगीस्तनांशुकैः
छीत्कुर्वतीः कलस्वाणं सोऽपश्यच्छालि गोपिकाः ।

—उसने उन गोपबालाओ को देखा जिनके अगो का लावण्य पाख से पाख सटा कर उड्डीयमान तोतो की छाया से सुशोभित स्तनवस्त्रो से निखर रहा था तथा जो मधुर ध्वनियों से उनका वारण कर रही थीं ।

शुको की इन पक्तियो को देख कर महाकवि कालिदास का भी हृदय सोच उठा था—

मुखैरसौ विद्रुममंगलोहितैं
शिखाः पिशंगीः कलमस्य बिभ्रती,
शुकावलिर्व्यक्तशिरीषकोमला
धनुश्रियं गोत्रभिदोऽनुगच्छति ।

—मूंगे के समान लौहवर्ण चोचो से धान की पकी हुई पीली बालो को धारण करते हुए, शिरीष के समान कोमल अगवाले शुको की पक्तिया इन्द्रधनुष की शोभा पा रही हैं ।

तोते की स्वामि-भक्ति का भी एक उदाहरण मुझे पिछले दिनो देखने को मिला । भारतीय ससद् के मेरे एक साथी हैं, बगाली सज्जन । उनका एक तोता है । वह उनके कलकत्ते के घर में, और दिल्ली के भी घर में जबकि वह यहा ससद् की बैठक के सिलसिले में रहा करते हैं, खुला हुआ ही, बन्धन-मुक्त अवस्था में रहा करता है, घर के कमरो में, अडोस-पडोस में, वृक्षो पर, स्वेच्छा से विचरता है । बाकी समय उनके पावो के पास अथवा उनके कन्धे पर बैठा रहता है । उनकी अनुपस्थिति में घर में किसी आगन्तुक के आने पर ज़ोरो मे बोलने लगता है । यदि वह बीमार होते हैं तो उनकी चारपाई के पास ही सारा समय गुज़ारता है । उनके बाहर से लौटते ही उनके पास आकर चिल्ला-चिल्ला कर खुशी जाहिर करता है । सुबह होते ही उनके पावो पर ठोकर दे-दे कर उन्हे जगाने लगता है । गरज यह है कि उसके सारे आचरण परिवार के किसी व्यक्ति जैसे ही होते हैं । किसी के आते ही वह उनसे पूछने लगता है—इनि के ? इनि के ? (ये कौन हैं ? ये कौन हैं ?) दिन रात मे केवल दो बार ही भोजन करता है, वह भी अपने ही बर्तन में । गर्म चाय पीने का उसे खास शौक है ।

यही नही, निम्नोक्त उक्ति का वह अपवाद भी है, खुला रह कर भी कभी वन की ओर नही भागता—

द्राक्षा प्रदेहि मधु वा वदने निधेहि,
देहे विधेहि किमुवा करलालनानि,

भ्रमणशील तुम, हे विहगवर,
हे पंडित, हे ज्ञान-गभीर !
मेरे अति अशान्त इस मन को
कर दो, कर दो, शान्त, सुधीर ।

पर अफसोस कि अब हम उसके इस सदुपयोग से क्रमश वंचित होते रहे हैं। किन्तु भगवद्स्मरण कराने वाले पक्षी के प्रति किसी ने ठीक ही कहा है,—

द्विजकुलपते, मेधासिन्धो, सुभाषितकोविद,
त्वयिगृहमुपयाते जात बहुपकृत मम,
यदिह नियत बालावृद्धा. स्त्रियः परिचारिका,
शुक भगवतो नामप्रीता गृणन्ति मुहुर्मुहु ।

अर्थात् हे बुद्धिसागर, द्विजकुलपति सुभाषित कोविद, शुक ! मेरे इस घर में तेरे आ जाने से मेरा बडा उपकार हुआ है क्योकि तेरे बहाने घर के सब लोग रामनाम तो लेने लगे हैं ।

पर इसका परिणाम बेचारे तोते के लिए बुरा ही हुआ । आजादी खोनी पड़ी। किसी सहृदय व्यक्ति ने तभी तो कहा—

अखिलेषु विहगेषु हत स्वच्छन्द चारिषु
शुक ! पञ्जरबन्धस्ते मधुराणां गिरोफलम् ।

मैना

आलोके ते निपतति पुरा सा बलिव्याकुला वा
मत्सादृश्यं विरहतनु वा भावगम्यं लिखन्ती
पृच्छन्ती वा मधुरवचना सारिका पञ्जरस्थां
कच्चिद्भर्तु स्मरसि रसिके त्व हि तस्य प्रियेति।

—मेघदूत

शुक और सारिका उन भारतीय पक्षियो में हैं जिनकी इस देश के कथा-साहित्य में बडी चर्चा है । ये दोनो ही वाचाल, अत्यन्त वाक्पटु पक्षी हैं । एक समय था जबकि साधारण जनता से लेकर लोकपाल तक में इनकी बडी कद्र थी ।

तोता और मैना दोनो ही बडी आसानी से दूसरो की बोली सीख लिया करते हैं । जब ये पर्दे की ओट से मनुष्य की बोली बोलते हैं तो यह समझना कि यह मनुष्य नही बल्कि कोई और बोल रहा है, कठिन ही नहीं, असम्भव है । पर मैना में एक विशेषता है जो तोते में नही है । वह विभिन्न पक्षियो की बोली और गाने आप-से-आप सीख लेती है । अभी पिछले दिनो मुझे शिमला जाने का मौका मिला । वहा जिस उद्यान-भवन में मैं ठहरा था उसके करीब ही एक विशालकाय चीड के वृक्ष पर प्रतिदिन सुबह-शाम एक पहाडी मैना बैठी हुई विविध पक्षियो के गाने

कर कि हमने ऐसे कोई दुष्कर्म नहीं किये, हमारी अन्तरात्मा साफ है, सदैव आत्म-विश्वास एव साहस से परिपूर्ण रहती है—कौओ की तरह वह हमेशा सशक नहीं बनी रहती ।

मेरे कमरे के ठीक सामने बुलबुल के एक जोडे ने घोंसला बना रखा ह जिसमें दो नवजात शिशु ची-ची चू-चू किया करते है । बुलबुलें आसपास बैठी हुई उनकी निगरानी करती है । एक शाम की बात है । मै खडा इन बुलबुलो का चहकना सुन रहा था । इतने में 'पर्यटन् विविधान् लोकान्', घूमता-घूमता एक कौआ वहा आ निकला । बस उसे देखते ही बुलबुले उस पर टूट पडी तथा उसे दूर भगा आई। मै इस दृश्य को देखकर अवाक् रह गया । कहा कौआ जैसा मुचड पक्षी और कहा बुलबुल जैसी छोटी चिडिया जिसके पास सिवा एक मुठ्ठी हड्डी और दो छोटे पखो के और है ही क्या ? फिर भी कौआ आत्मवल की कमी के कारण इस छोटे से पक्षी का भी मुकाबला न कर सका ।

शान्तिकाल में ये मैनाए अलग-अलग खिचडी भले ही पकायें, किसी बाहरी दुश्मन के दिखते ही ये एक हो जाती है—जैसा कि दुर्योधन ने एक बार कहा था पारस्परिक झगडो में पाडव पाच, हम सौ है, पर किसी तीसरे के खिलाफ हम एक सौ पाच है । यही हाल इन मैनो का भी है । जहा किसी दुश्मन को इन्होने देखा—सर्प, नेवला, बाज़ या शिकरे को—ये इकट्ठा होकर जोरो से आवाज करना शुरू कर देती है और इस कदर आवाज करती है कि सुननेवाला फौरन समझ जाता है कि अमुक जगह पर पूर्वोक्त जीव-जन्तुओ में से कोई घुस आया है । मैनो के शोर करने के कारण न जाने कितने सर्पों का पता लगा है और उन्हे मनुष्य के हाथो प्राण देने पडे है ।

मैना के नर और मादा में काफी पारस्परिक प्रेम होता है तथा बहुधा वे चोच से एक दूसरे के पर सवारते हुए नजर आते है ।

दिनभर ये अलग-जोडो में हमारे मकान की छतो पर, गृह-प्रागण में अथवा बाग-बगीचो मे विचरती फिरती है—पर सन्ध्या होते ही ये गिरोह बाधकर एक साथ हो जाती है और किसी तरु-शाखा पर या टेलीग्राफ के तारो पर कतार बाध कर बैठी हुई देर तक—जब तक कि घने अन्धकार से पृथ्वी ढक न जाय—शोर करती रहती है, मानो कोरस मे गा रही हो! फिर सब की सब एक ही डाल पर एक साथ रात गुजारती है । कभी-कभी आधी रात में अथवा रात के पिछले पहर में जोरो से एका-एक शोर भी कर बैठती है । घोर रात्रि में ये इस प्रकार क्यो शोर कर उठती है इसका पता आज तक कोई न पा सका ।

भोजन के मामले में ये सर्वभक्षी है । दाना चुगती है, कीडे-मकोडे खाती है और मौका मिलने पर मरी हुई छिपकलियो तथा मृत पक्षी को भी अपना आहार बना डालती है । शायद इस तामासक आहार के ही कारण ये कभी-कभी आपस में खूब लडती भी है । एक दूसरे पर ज़ोरदार आक्रमण करती है । दूर जाने की जरूरत नही, आपके गृह-प्रागण में ही यदि आप चाहे तो यह अपना दगल दिखा देंगी । दिन मे प्राय कई वार इनकी झपटें हुआ करती है—अधिकतर नरो के बीच, मादा के लिए । प्राचीनकाल में जैसे किसी अविवाहिता सुन्दरी के लिए अनेक

मोकपाल आपन में लड पडते थे—प्रसिद्ध सुन्दरी हेलेन के लिए तो ट्रॉय का-सा महायुद्ध उठ खडा हुआ तथा इलियम के समान सुन्दर नगरी को भस्मीभूत होना पडा था—वैसे ही मादा के पाणिग्रहणार्थ इनके बीच भी कभी-कभी घोर सघर्ष उठ खडा होता है। नर चगुल और चोचो के सहारे एक दूसरे पर भीषण आघात करते है। बाग-बगीचो तथा गृह-प्रांगण, एव अडोस-पडोस की शान्ति कुछ काल के लिए भग सी हो जाती है। कितना अच्छा होता कि हम इन्हें भी 'पचशील'—सहअस्तित्व—के सुन्दर सिद्धात सिखा पाते।

उपर्युक्त बातो से यह साफ जाहिर है कि इनमें मादा की सख्या कम और नर की अधिक है। कारण अज्ञात है।

जिस समय खेतो में हल चलते रहते है, ये हलो के पीछे-पीछे चला करती है तथा जमीन से मिट्टी के साथ-साथ बाहर निकले हुए कीडे-मकोडो को पेट भर खाती रहती हैं।

इनके अडे देने का समय जून से अगस्त तक है। साधारणत चार-पाच अडे एक साथ देती है। ये मकान की छतो पर अथवा मकानो, वृक्षो और कुओ के सूराखो में घोसले बनाती है, जिनके निर्माण में तरह-तरह की चीजो—घास-फूस, काठ के छोटे-छोटे टुकडे, रुई के टुकडे, चिथडे, सर्प की केंचुल आदि—का इस्तेमाल करती है। ये घोसले देखने में असुन्दर और बेडौल होते है।

पता नही, हमारे घरो से इनको इतना प्यार क्यो है। दिन भर हमारी छतो पर, दीवारो पर, प्रागण में ये घूमती तो रहती ही है, कभी-कभी शयन-कक्ष अथवा स्नानागारो में भी अपने घोसले बना डालती है और इस प्रकार हमे असुविधा में डाल देती है। ऐसी ही एक घटना पिछले वर्ष दिल्ली में हुई।

मेरे एक ससद्‌सदस्य मित्र है जो जैन मतावलम्बी है। वे एक मास के लिए दिल्ली से बाहर, कलकत्ता चले गये पर बदकिस्मती से अपने 'बाथरूम' का रोशनदान खुला छोड गये। लौटने पर उन्होने देखा, घर में एक देशी मैना घोसला बना कर अडे से रही है और वह भी एक ऐसी जगह पर कि पानी के हौज की जजीर खिचते ही सारा घोसला नीचे आ गिरे। मेरे मित्र कट्टर जैनी थे. किसी हिंसात्मक कार्य में किस तरह पडे। घोसला गिरा नही कि अडे फूटे—हजरत बडे हैसबैस मे पडे। पर अन्त में उन्होने निश्चय किया कि जब तक अडे बच्चो की समस्या हल न हो जाय, वह 'बाथरूम' का इस्तेमाल न करेगे और इस तरह पूरे एक महीने तक वह इसके व्यवहार से वचित रहे—तब तक जब तक कि अडो से बाहर निकलकर बच्चे उडने लायक न हो गये और एक दिन स्वय वहा से विदा न ले गये।

कनिंघम ने लिखा है—

"हमारे घरो में मैना बेखटके अपनी जगह बना लेती है और 'मान न मान मै तेरा मेहमान' को चरितार्थ करते हुए वह जब, जहा, जितने समय तक इच्छा होती है, जम जाती है।"

पर ऊपर की घटना से स्पष्ट है कि ये कभी-कभी हमारे साथ सम्पर्क स्थापित

करने, घनिष्ठता बढाने में, सीमा का उल्लघन भी कर बैठती हैं और इस तरह हमें काफी तकलीफ भी पहुचाती है ।

मना की मुख्य किस्में इस प्रकार हैं —

१ **किलंहटा मैना :** साधारण, देशी मैना को 'किलंहटा' मैना भी कहते हैं मैनो में यह सबसे बडी—प्राय ११ इच की—होती है । नर और मादा के रूप में कोई अन्तर नही—खैरा रग, सर, गर्दन, दुम, सीना काला, पेट और डैनो के कुछ भाग, पूछ का सिरा एव निचला हिस्सा सफेद, आख की पुतली ललछौंह भूरी, चोच की जड से नेत्रो के नीचे तक का गोश्त तथा पैर पीले, यही इस मैना की रूप-रेखा है । यह हमारे अति-परिचित पक्षियो में है ।

२ **दरिया मैना :** इसे गगा मैना, किलनहिया, चही आदि नामो से भी पुकारते हैं । कद में यह देशी मैना से छोटी पर रग-रूप में प्राय उसके ही समान होती है सर और गर्दन काले तथा शरीर का बाकी हिस्सा भूरा होता है । चोच नारगी रग की एव नेत्र के चारो ओर का चमडा लाल होता है ।

नदियो के कगार में घोसला बनाने के कारण ही इसका नाम दरिया मैना पडा है । एक साथ बहुत सी मैनाए घोसला बनाती है और साथ-साथ उपनिवेश बनाकर रहती है । घोसला बनाने का समय अप्रैल से जुलाई तक है । इसकी आदतें बहुत कुछ देशी मैना की सी हैं । नर और मादा का रूप-रग, स्वभाव आदि एक से ही होते हैं । हिन्दुस्तान के बाहर यह मैना नही के बराबर पाई जाती हैं ।

३ **गुलाबो मैना** देखने में इसकी सुन्दरता अद्वितीय है । सर, वक्षस्थल तथा डैने बिलकुल काले, शरीर का शेष भाग सुन्दर गुलाबी होता है । गर्मियो में ये न जाने कहा से झुड-की-झुड इस देश में आ जाती है, जाडो में कही अन्यत्र चली जाती है । फसल को इनसे काफी नुकसान पहुचता है ।

४ **तेलिया मैना :** गुलाबी के ठीक विपरीत ये जाडो में झुड-की-झुड आती है, गर्मियो में किसी दूर देश में चली जाती है, जहा घोसले बनाती है, अडे देती है और फिर सर्दियो में जल-वायु-परिवर्तन के लिए हमारे देश में आ पहुचती है । इन्हे तिलोरी भी कहते है । इनका रग काला और खूब चमकीला होता है शरीर पर जहा-तहा बादामी चित्तिया सौन्दर्य-वृद्धि करती है । फूल का रस इन्हें अतिशय प्रिय है—महुए के फूलो का खासतौर पर ।

५ **अबलखा मैना** अबलख रग, शरीर काला, गाल श्वेत, चोच नारगी रग की । पैर और दुम पर सफेदी, चोच का निरा भी सफेद । कद किलनहिया के बराबर, नर और मादा में कोई अन्तर नही ।

अन्य मैनाओ में तथा इसमें एक जबर्दस्त फर्क यह है कि यह उनकी तरह घरों में या सूराखो में घोसले न बनाकर पेडो पर बनाती है । फूलो का रस, तथा वृक्षो के फल भी इसे उतने ही प्यारे है जितने कि कीडे-मकोडे । यह भी झुडो में रहने वाली मैना है । वर्षाकाल में वृक्षो पर एक साथ इनके दर्जनो घोसले आपको नजर आयेंगे । एक साथ रहने के कारण ये निर्भीक-सी रहती हैं ।

६ **पहाडी मैना .** यही वह मैना है जिसे हम यथार्थरूप से वनवासिनी कह

सकते हैं क्योंकि यह गावो और शहरो में न रहकर जगलो मे—वृक्षो पर रहती है। फल ही इसका आहार है। देशी मैना की तरह जमीन पर फुदक-फुदक कर चलना इसे नही आता। दुम और डैने तया चोच और पैर भी छोटे पर काफी मजबूत होते हैं। इसके परो का रग काला होता है। किन्ही-किन्ही पर सफेदी भी होती है। चोच नारगी, आखें काली, पैर और सिर की त्वचा पीले रग की होती है। नाक पर के बाल खडे होते हैं। पहाडी या जगली मैना की एक उपजाति है जिसमें एक विचित्रता यह है कि जहा बर्मा तथा उत्तर भारत में पाई जाने वाली इस मैना की आखें चमकदार पीली होती हैं, वहा दक्षिण भारत में प्राप्य मैना की आखें कान्तिहीन नीली होती हैं। दरअसल मैना जाति-मात्र मे ही यह देखा गया है कि एक ही किस्म या जाति की मैनाओ मे जहा तक आख का सम्बन्ध है, अनेक वर्ण-भेद पाये जाते हैं।

पहाडी मैना को फूलो के रस-पान का उतना ही शौक है जितना कि फुलचुही और शकरखोरा को। अत पराग-सक्रमण मे यह भी काफी सहायक होती है। पहाडी मैना पहाडो पर तो पाई जाती है, बर्मा, ताइलैंड, मलय तथा मध्य प्रदेश के कुछ हिस्सो आदि में भी यह प्राप्य है। यही वह मैना है जिसे अपनी सुमधुर बोली के लिए पिजडो में बन्द होना पडता है। अमीर खुसरो की इन पक्तियो में शायद इसी की ओर इशारा है—

आठ पहर मेरे ढिग रहे,
मीठी प्यारी बाते कहे।
स्याम बरन औ राते नैना,
ऐ सखि, साजन? ना सखि, मैना।

गिरोह बाधकर उडते समय यह परो से वैसी ही आवाज करती है जैसी कि हारिल।

७ **पवई मैना** . इसका बदन गहरे बादामी रग का होता है। डैनो का कुछ हिस्सा काला होता है और दुम के नीचे का हिस्सा सफ़ेद। माथ का रग काला होता है। ऊपर एक काली चाटी भी होती है।

इसकी आख की पुतली में हरापन लिए हुए सफेदी होती है। चोच का अग्रभाग पीला, बीच का हरा और जड़ नीली रहता है। पैर चटक पीले रग के होते हैं।

इसके अडा देने का समय मई से अगस्त तक है। तरु-कोटर अथवा मकान की सूराखो में यह घोसला बनाकर अडे देती है।

पवई का गला सुरीला होता है—गाने में यह प्रवीण है, और इसीलिए बहुधा इसे भी पिजरबद्ध होना पडता है।

साधारण मैना की भाति यह भी सर्वभक्षी है तथा गिरोह बनाकर दरख्तो पर खूब शोर भी मचाती है। घर के आगन की अपेक्षा खेत और पगडडिया इसे ज्यादा पसन्द हैं। कद में सबसे छोटी है। नर और मादा इसकी एक-सा ही होती है। औरो की अपेक्षा इसकी दुम अधिक लम्बी है। इस जाति की मैना को बगाल में 'मुगेर पवई' के नाम से पुकारते हैं। सम्भव है, किसी जमाने में इसके पूर्वज मुगेर (बिहार के एक जिले) से ही बगाल को गये हो।

कलकत्ते में 'अडमन पवई' नाम की भी एक मैना बिकती हुई नजर आती है जिसका रग सफेद होता है । पीठ पर हल्का भूरापन तथा चोच काली होती है । कद में और पवइयो से यह कुछ बडी होती है । गला सुरीला होता है ।

मैना पक्षी की ये खास उपजातिया है । इनके अलावा भी और कई किस्में है, पर इस देश में अधिकाशत पायी जाने वाली किस्में यही है ।

पिछले दिनो एक रेलवे स्टेशन के प्लैटफार्म पर यात्रियो की भीड की कतई परवाह न कर, दाना चुगते हुए, मुझे चार ऐसे मैना दीख पडे जो ऊपर जिन उपजातियो का उल्लेख है, उनसे बिलकुल भिन्न थे । यही नही, शोखी में भी औरो से कही बढे-चढे मालूम पडते थे । इसी तरह मैना की और भी कई किस्में है जिन्हें श्रेणी-बद्ध करना कठिन है ।

मैना की बहुत कुछ आदतें कौए से मिलती है, पर इसका दिल कौए-जैसा काला नही होता—महाकवि शेक्सपियर के शब्दो में—

I am not black in my heart, though yellow in my legs!

'मैं दिल से काली नहीं
पाँव मेरे भले ही पीले हों ।'

—यह सही तौर पर कह सकती है ।

कस्तूरा

कस्तूरा उस जाति की एक चिडिया है जिसे गर्मी बिलकुल पसन्द नही है और शायद इसीलिये ग्रीष्म ऋतु में यह पहाडो से नीचे उतरती नही, बल्कि आठ-दस हजार फुट की ऊचाई पर ही अधिकतर रहती है। जाडो में यह पहाडो से उतर कर हमारे देश में आती है तथा अपने सुरीले गले से हमें आनन्द प्रदान करती है । पहाडी नदियो के किनारे विचरती हुई यह कीडे-मकोडे तथा घोघे इत्यादि छोटे जीव-जन्तुओ से अपना पेट भरती रहती है । घोसला भी नदी, झील या झरनो के अडोस-पडोस में बनाती है ।

इसके गाने का समय उषा-काल है । जब हम बिस्तर पर अर्ध-निद्रावस्था में पडे रहते है, धीरे-धीरे तम का जाल फटता है तथा उसके भीतर से उषा-काल का झिल-मिल प्रकाश झाकने लगता है, ऋषि गण निद्रा त्याग कर कुटी से बाहर निकलते और कहते है—

'वन्दे देवीं जगद्वन्द्यां, उषमपि वन्दे भगवतीम्'

'हे ससार की वन्दनीया देवि उषे, भगवति ! मैं तेरी वन्दना करता हू ।'—तो उसी ज्योति की वर्षा के पवित्र समय में कस्तूरा भी सरिता-तट के किसी वृक्ष की डाल से अपने सुमधुर स्वर में गा उठती है । और उसकी ध्वनि उस शान्त वातावरण में दूर-दूर तक पर्वतो के बीच गूज उठती है। तभी हम समझ जाते है कि अब सूर्योदय होने में विलम्ब नही है ।

कद में यह एक फुट से बडी होती है, बनावट में सुघड । रग इसका नीला-वायलेट के फूल की तरह का होता है । रग में चमक होती है । चोच पीली तथा पैर काले होते हैं । नर और मादा में कोई अन्तर नही होता । दक्षिण भारत में एक छोटे कद की कस्तूरा भी पाई जाती है जिसकी चोच पीली नही, काली होती है ।
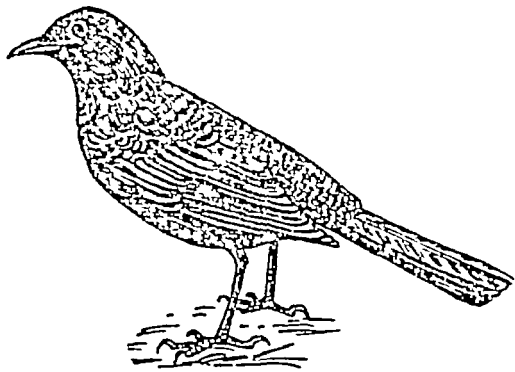
एक और पक्षी है जिसके बदन का रग काला होता है, चोच नारगी लाल तथा पाव नारगी कत्यई वर्ण के होते हैं । इसे भी कस्तूरा की ही एक किस्म मानते हैं । पर इसमें मतान्तर है । यह हिमालय से लेकर मणिपुर तक में पाई जाती है । इसकी आवाज भी बडी सुरीली है ।

कस्तूरा की यह खास आदत है कि वह बारम्बार अपनी पूछ को फैलाती रहती है ।

पता नही इस जाति की चिडियो का नाम कस्तूरा क्यो पडा । क्या पर्वत पर विचरने वाले कृष्णसार की नाभि से टपकती हुई कस्तूरी का भक्षण करने के कारण ?

शकरखोरा

ओ मधु चाखन-हार, विहग !
चचल-चित्त मधुर अति वाणी
सुघड़ सलोना अंग ।
किन परियो का, कौन देश से
आए तजकर सग ?
किस पुष्पा के आकर्षण में,
लाया खींच अनंग ?
ओ मधु चाखन-हार, विहग !

उस छोटे से पक्षी को देखकर, जो हमारी पुष्प वाटिका में फूल वेलो के मधुर अधरो का अपनी चोच से पान करता हुआ अक्सर विचरता रहता है, ये प्रश्न मन में आप से आप उठते हैं । यही है वह शकरखोरा जो फूल के रस से ही अपनी वासना तृप्त करता है—और शायद उदरपूर्ति भी । जिस तरह बसन्त काल में भौंरे फूलो पर मडराते रहते हैं उसी भाति शकरखोरे भी ।
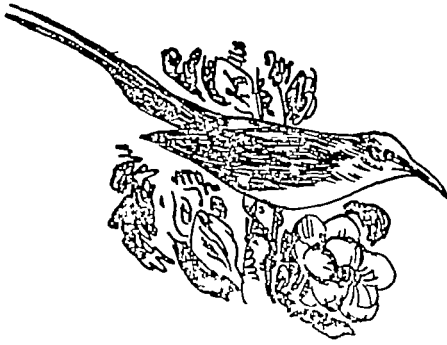
कद में यह बडे भौंरे से थोडा ही बडा होता है। रग-भेद से इसकी कई किस्में है पर दो मुख्य है जो इस देश में पाई जाती है—एक वह जिसका रग हल्का बैंगनी होता है, दूसरी गाढे बैंगनी रग की। पर इसके बैंगनी रग में कुछ ऐसा चमकीलापन है कि प्रकाश-भेद से इसके कई रग मालूम पडते रहते है, जैसे कि छाह में काला, धूप में कभी हरा कभी नीला। ऋतु के अनुसार भी इसके रग में फर्क आता रहता है।

नर का रग वसन्त काल में अधिक चित्ताकर्षक रहता है, सन्तानोत्पत्ति के बाद जाडो में बदल कर मादा जैसा हो जाता है, खूवसूरती कम हो जाती है। वसन्त से लेकर वर्षा काल तक इसे मादा को आकर्षित करने, फूल-बाला का दिल लुभाने की आवश्यकता रहती है, शायद इसीलिए यह ज्यादा भडकीली पोशाक पहने रहता है। फिर जब जोडा बाध लेता है, घर में बाल-बच्चे हो जाते है, तो सादगी अपना लेता है।

इसकी चोच लम्बी और नकीली होती है, किंचित मुडी हुई-सी। इसके द्वारा वह फूलों में छेद करके रस-पान किया करता है। यह मधुपायी भी है और मधुभाषी भी। इसकी बोली कानो को बडी प्यारी लगती है।

फूलो में रस आया नही कि शकरखोरे आ पहुचे। वसन्त के आते ही जब सेमल वृक्ष पर पुष्प-मधु के प्याले ढलने लगते है तो वहा मधुपायी पक्षियों का मेला-सा लग जाता है। ऐसे स्वर्ण सयोग को शकरखोरे कब छोडने वाले है ? वे सबसे पहले वहा आ जाते है और मन्ध्याकाल तक मधु मदिरा के प्याले ढालते रहते है, जी भर पीते हैं, फिर भी नही अघाते, सुबह होते ही दूसरे दिन पुन वहा आ पहुचते है। हफ्तो तक उनका यह सिलसिला जारी रहता है। सेमल का यह वृक्ष ही मानो उनका मदिरालय है।

मधुमक्खियो की तरह शकरखोरे भी फूल का पराग स्त्री-केशर तक पहुचाते रहते है और इस प्रकार नए फूल और बीज की सृष्टि में सहायक होकर वश-विस्तार के कारण बनते है। यह इनकी सर्वश्रेष्ठ उपयोगिता है।

शकरखोरे की यह खास आदत है कि यह उडता हुआ भी फूलो का रस पी लेता है। मुह का स्वाद बदलने के लिए जब-तब छोटे-छोटे कीडो को भी खाता रहता है।

घोसला यह फरवरी से लेकर अगस्त तक बनाता है। यह घोसला डाल या टहनी से लटकता हुआ तथा मकडी के जाल से सुगठित होता है। इसके भीतर नाना प्रकार की वस्तुए रखी रहती है, यहाँ तक कि स्टाम्प भी पाए गए है। स्वभाव से मधुपायी और विलासी होने के कारण इसे मुलायम सेज की जरूरत पड ही जाती है, अतएव यह अपने घोसले के भीतर सेमल की रुई भी बिछाए रहता है जिसपर मिया-बीबी उस समय भी आनन्द से सोते है जबकि बाहर बादल गरजते होते है, बिजली कौंधती है, बूंदें पडती रहती है।

इसकी मादा प्रजनन-क्रिया में बडी सिद्धहस्त है—साल में एक नहीं, तीन-तीन चार-चार बार अडे देती है। इसके अंडो के प्रबल शत्रु है—साप, कौए, गिलहरिया। फिर भी इनकी सख्या घटती नही है और आज भी पुष्प वाटिकाओ में ये दर्जनो की सख्या में विचरते रहते है।

शकरखोरा वश की ही एक छोटी सी चिडिया है फूलचुही जो कद में अत्यधिक छोटी पर चुलबुलाहट में काफी बढी-चढी है। इसे फूलो से बडा प्रेम है। उनका रस तो पीती ही है, छोटे-छोटे फूलो को भी यह अधरो के रास्ते अपने भीतर छुपा रखती है। देखने में इसका ऊपरी हिस्सा, गर्दन से पीठ तक, कजई होता है जिसमें हरे रग की झलक आती है, नीचे का हिस्सा पीलापन लिए हुए सफेद होता है। दुम और डैने भूरे रग के होते है। चोच स्लेटी रग की होती है जिसमें पीलापन रहता है। पैर भी स्लेटी रग के होते हैं जिनमें पीलेपन की भी झलक आती रहती है।

⊙

फुदकी या दर्जिन

बया यदि अपना घोसला बुन-बुन कर तैयार करता है तो फुदकी (फुदक फुदक कर चलने से ही यह फुदकी कहलाती है) सी-सी कर। निस्सन्देह यह भी एक कलाविद् पक्षी है। इसकी कारीगरी भी सराहनीय है।

कद में यह गौरैये से भी छोटी है, पर उन चिडियो में है जो हमारे बाग-बगीचो में, मकान के बरामदे तक में, फुदकती फिरती है। यही नहीं, बोलती भी रहती है और दिन भर बोलती रहती है। ग्रीष्म काल की कडी दुपहरी हो या कि जाडो की सन्ध्या, इसकी बोली तथा कीडो का शिकार बन्द नही होता। बोलते-बोलते जब जोश में आती है, तो अपनी दुम ऊची कर लेती है। इसके ऊपर के हिस्से में पीलापन लिए हुए हरापन होता है, नीचे के हिस्से में सफेदी, सर का ऊपरी हिस्सा बादामी तथा गर्दन में एक काली कठी होती है। इसकी आंखो की पुतलिया सुर्खी मायल पीली, पैर पीलापन लिए हुए भूरे होते है। चोच नुकीली होती है (चित्र सख्या · १७)।

अब देखिए, घोसला यह किस कारीगरी से बनाती है। पहले मकडी का जाल, सेमल की रुई आदि इकट्ठा कर के उसका तागा तैयार करती है, फिर पेड़ की कुछ पत्तियो में चोच से छेद कर डालती है और तब चोच के सहारे उपर्युक्त तागे से इन पत्तियो को सी देती है। बस, एक सुन्दर सा गोलाकार घोसला सी-सा कर तैयार हो जाता है और यह आनन्द के साथ उसमें बैठकर मई, जून, जुलाई के महीनो में २, ३, ४ अडे तक दे डालती है। पता नही, किस नारी-शिल्प-कला-भवन में शिक्षा प्राप्त करके इसने ऐसा सुन्दर घोसला बनाना सीखा है (चित्र सख्या ३५)।

इसके घोसले अधिकतर आम या अमरूद के वृक्षो पर बने होते हैं । कभी कभी जमीन से कुछ ही दूर पर, बैंगन आदि के पौधे पर भी बनते हैं । घोसले का मुह ऊपर, नीचे अथवा बगल में, कही भी होता है । घोसला नर नही, मादा बनाती है ।

जोडा बाधने के दिनो में नर की दुम के बिचले दोनो परो की लम्बाई बढ जाती है, बाद में पुन ये पर छोटे हो जाते हैं ।

बगाल में इसे 'टुनटुनी' के नाम से पुकारते हैं । इस देश के हर प्रात में यह पायी जाती है ।

बया

यजुर्वेद, अध्याय २४ का २४वा मत्र है—'सोमाय लवानालभते त्वष्ट्रे कौलीकान्', अर्थात् सौम्यभाव के लिए 'लवा' नाम के पक्षी को देखे, कारीगरी के लिए बया को । और इसमें शक नही, कि बया की नीड-निर्माण-कला को देखकर हम चकित रह जाते हैं । छोटी सी चिडिया और उसमें इतना कला-नैपुण्य !

बया अपने घोसले को जुलाहे की तरह ताना-बाना देकर, बुन-बुन कर बनाती है और इसीलिए अग्रेजी में इसे जुलाहा पक्षी के नाम से पुकारते हैं । देखने में यह ७७ प्रतिशत गौरैये की तरह की होती है और हम इसे देखें या न देखें, पहचानें या न पहचानें, पर इसके घोसले को पहचानने में हमें देर नही लगती । गाव के बाहर, खेतो में खडे हुए ताड के लम्बे दरख्तो पर या किसी जलाशय के करीब बबूल के वृक्षो पर यदि आपको दर्जनो तूम्बो की शकल-सूरत और आकार के घोसले नजर आए तो समझ लीजिए कि यही उसके घोसले हैं जिन्हे वह बडी मेहनत के साथ अप्रैल-मई के समाप्त होते ही बनाने में सलग्न हो जाती है । घोसले को देखने से ही पता चलेगा कि इस छोटी सी चिडिया में कितना हुनर है (चित्र सख्या ३६) । पता नही 'हुनर ब हुनर मन्दाने अवध' नामक पुस्तक के लेखक ने अपने ग्रन्थ में अवधी बया के इस हुनर का कही जिक्र किया है या नही ।

बया के घोसले ताड के पत्ते की नोक से अथवा बबूल की ऊची डाल से बधे हुए लटकते रहते है और इस पर बैठा हुआ यह पक्षी कभी तो धरती की ओर और कभी आकाश को देखता है और नीचे की हरियाली तथा आकाश के उमडते हुए काले-काले मेघो को देखकर आनन्दोल्लास में गाता है। इसके घोसले बनाने की विधि इस प्रकार है—

सबसे पहले बया अपनी चोच से सरपत, केला, कास आदि की सींको को चीरती है, इनके कई टुकडे करती है और फिर इन टुकडो के रेशो को ताड के पत्ते या बबूल की टहनी के सिरे से जोड देती है । डोर की लम्बाई पाच से बारह इन्च तक की होती है । इसी डोर से नीचे की ओर लटकता हुआ इसका घोसला होता है । यह नीचे की ओर गोल और ऊपर पतला होता है । इसका प्रवेश द्वार नीचे की तरफ होता है । घोसले के दो भाग होते हैं—एक वह, जिससे होकर बया बाहर से प्रवेश

करती है, दूसरा वह जिसमें किंचित ऊपर जाकर वह फिर नीचे की ओर उतरती है। गरज यह कि घोसले में एक तो कोठरी होती है जिसमें मादा अण्डे देती है, और दूसरी सुरग होती है। इसकी बनावट ऐसी होती है कि कोई भी दूसरा पक्षी आसानी से प्रवेश नही कर सकता है, पर बया, जो कि इसकी रूपरेखा से पूर्णत परिचित रहती है, उडती हुई भीतर प्रवेश कर जाती है। घोसला हल्का होने की वजह से हवा में झूलता रहता है। इसका हल्कापन कम करने के उद्देश्य से, ताकि यह जोरो में न झूल कर मन्द-मन्द झूलता रहे, बया मिट्टी लाकर प्रसव-ग्रह में डाल देती है। पेडो पर उडते हुए जुगनू कभी-कभी आप-से-आप इसमें आ घुसते है और रात्रि में गृह को प्रकाशित करते रहते है, और घर के लघु प्रदीप से लगते है।

वर्षाकाल के आरम्भ होते ही बया घोसला बनाना शुरू कर देती है। एक ही वृक्ष पर एक-साथ अनेको बनाती है। सबसे पहले नर घोसला बनाने के काम में लगता है। वह अकेले घर का बाहरी ढाचा तैयार कर लेता है। तब मादा उपस्थित होती है और अन्दर जाकर गौर से घोसले का निरीक्षण करती है। नर उत्सुकतापूर्वक उसके निर्णय की प्रतीक्षा करता है। मादा को यदि घोसला पसन्द आ गया तो वह उसके प्रणय-प्रस्ताव को स्वीकार कर लेती है, और गृह-निर्माण में हाथ बटाने लगती है, वह भीतर बैठी हुई अपनी रुचि के अनुसार नीड का भीतरी हिस्सा सरपत आदि के तारो से बुन-चुन कर तैयार करती है। दोनो के सयुक्त परिश्रम से जब वह पूरी तरह तैयार हो जाता है तो वे जोडा बाधते है। मादा अडे देती है, जिनकी सख्या दो से चार तक हुआ करती है, और उन्हें सेने में सलग्न हो जाती है।

इधर नर दूसरा घोसला बनाने में लग जाता है और इससे आकर्षित होकर जब कोई दूसरी मादा आकर उपस्थित होती है और उसका प्रणय-प्रस्ताव स्वीकार कर लेती है तो वह उसके सग भी दाम्पत्य-सम्बन्ध स्थापित कर लेता है। इस तरह वह प्रजनन-ऋतु में आठ-आठ दस-दस मादाओ के सग जोडा बाधता है। आम तौर पर नर बया में ही बहुपत्नीत्व प्रवृत्ति पाई जाती है, पर कही कहीं मादा में भी बहुपतीत्व प्रवृत्ति पाई गई है। नर को अपने हाव-भावो से रिझाने को भी। बया में नरो को सख्या अधिक है, मादा की कम। अतएव अक्सर चार-चार छ-छ नर एक मादा को रिझाने की चेष्टा में सलग्न पाए जाते है।

बहुधा ऐसा भी होता है कि बया नया घोसला न बनाकर अडा देने का समय आते-आते पुराने को ही फिर से मरम्मत कर लेती है और उसे फिर से आबाद करती है। जैसा कि पहले बताया जा चुका है, बया के घोसले बडी निपुणता से बने होते है, ऐसे कि इनके भीतर आधी-तूफान तक का कोई असर नहीं पहुचता, अतएव ये कई वर्षो तक आसानी से टिकते है।

अपने पुराने घोसले को प्रसव-काल आने के पूर्व फिर से आबाद करने की प्रवृत्ति मैंने बुलबुलो में भी पाई है। मै जिस कमरे में बैठा हुआ इन पक्तियो को लिख रहा हू उसके बरामदे मे गत कई वर्षो से बुलबुलो ने एक घोसला बना रक्खा है जिसमें वर्षाकाल आते ही नर और मादा आ पहुचते हैं तथा अडे देकर बच्चो का पालन-पोषण करते हैं। फिर बच्चो के पंख होते ही उन्हें साथ लेकर

वे किसी दूर देश को चल देते हैं। फिर ये वर्ष भर नज़र नही आते, घोसला शून्य पड़ा रहता है। प्रजननकाल के आते ही वे पुन इसमें आ पहुचते हैं। कई वर्षों से यह सिलसिला चल रहा है।

बया एक दूसरे प्रकार का घोसला भी बनाती है जो झूला जैसा होता है। इसमें अडा देने का कोई प्रबन्ध नही रहता, अन्दर बैठकर वह केवल झूला झूलती है और कहा क्या हो रहा है, इसे देखती रहती है। इसे देखकर ऐसा प्रतीत होता है मानो 'कबीर' की इस उक्ति को वह चरितार्थ कर रही हो—

राम झरोखा बैठि कै, सब का मुजरा लेय,
जैसी जाकी चाकरी वैसो वाको देय।

बया कभी अकेले घोसला नही बनाती, झुड-के-झुड एक साथ, एक ही वृक्ष पर बनाती हैं और इसमें शक नही कि यह प्रकृति से ही बुनने वाला एक जुलाहा-पक्षी है। यदि आप उसे पिंजडे में रक्खें और कुछ घास-फूस के टुकडे दे दें तो वह वही घोसला बुनना शुरू कर देती है और तराने भी लगाती है, मानो कबीरदास के शब्दों में कहती हो—

झीनी झीनी बीनी चदरिया।

नर और मादा दोनो आकार-प्रकार में गौरैये की तरह के होते हैं। पर नर में एक विलक्षणता है। वर्षाकाल के आते ही जब उसे मादा को अपनी ओर आकर्षित करना होता है—उसका रंग बदल जाता है। आख से लेकर सीने के ऊपर तक का भाग स्याही लिए हुए गहरा भूरा हो जाता है, शीर्ष-भाग और वक्षस्थल पीले हो जाते है, पेट में सफेदी आ जाती है, ठोढ़ी स्याह सी दीखने लगती है। चोच इसकी खूब मोटी होती है, वह वैसी ही रहती है।

बया की ही एक जाति है जो इस देश में मारिशस द्वीप से आकर कलकत्ते के बाजारो में बिका करती है। इसे मैडागास्कर का बया कहते हैं। जोडा बाधने के समय इसका प्राय समूचा बदन गहरा लाल हो जाता है, डैने तथा दुम में कत्थईपन रह जाता है। चेहरे के दोनो ओर काली धारिया भी होती है।

जोडा बाध लेने के बाद इनका रग फिर पहले जैसा हो जाता है—गौरैये जैसा, छोटी काली और सफेद धारियो से युक्त कत्थई भूरा। बया के मुंह का आकार सुन्दर नही होता तथा मुंह पर एक प्रकार की उदासी-सी छाई रहती है, अतएव उदास मुंह वालो के लिए 'मुंह चोचा सा' एक कहावत बन गई है (चोचा बया का ही एक नाम है।)

बया की बुद्धि बडी तीक्ष्ण होती है। पाली हुई बया तरह तरह के खेल सीख लेती है, जैसे कि पानी भरना, बन्दूक चलाना, मालिक के मुह से दाने ले आना, इत्यादि।

मालिक को यह अच्छी तरह पहचानती भी है। फ्रैंकलिन नामक एक अंग्रेज पक्षी-प्रेमी ने लिखा है कि उन्होने कई बया पक्षी पाल रक्खे थे। एक बार इनमें से दो उड़ कर कही चली गई और डेढ़ दिनो तक गायब रही। दूसरे दिन जब घर के पास की ही सडक से वह गुजर रहे थे, दोनो पक्षियो को उन्होने सर के ऊपर

उडते पाया । बुलाते ही वे उनके पास आ गयी और मिस्टर फ्रैंकलिन बडी आसानी के साथ उन्हें पकड कर अपने घर लेते आए ।

बया की भी कई किस्में है । इनके रग में भिन्नता है, पर इनकी आदते एक जैसी ही हैं । इनमें एक प्रकार की बया होती है जिसकी चोच बहुत बडी होती है । कद भी छोटी मैना के समान, औरो से काफी बडा होता है । यह अधिकतर हिमालय की तराइयो में पाई जाती है । कलकत्ते के आस-पास भी देखी गई है ।

स्वभावत बया शोर मचाने वाला पक्षी है । जब कभी इनकी सख्या दो-तीन से अधिक हुई, शोर मचना शुरू हुआ, लडाई-झगडे छिड गए । फिर तो वहा रहना मुश्किल हो जाता है । खास कर जब ये घोसले दरख्तो पर न बनाकर किसी उद्यान-भवन के बरामदो में आकर बना लेती है और झगडने लगती है तो वहा रहना मुश्किल हो जाता है । कलह से इस पक्षी को स्वभावत बडी मोहब्बत है ।

पक्षियो में बया अपने घोसले के लिए मशहूर है और इसमें शक नही कि इसके निर्माण में वह जिस कुशलता का, जिस कारीगरी का, जिस हुनर का परिचय देती है, वह प्रशसनीय तो है ही, विस्मयोत्पादक भी है । तभी तो अमीर खुसरो इसकी कारी-गरी देखकर दग रह गए थे और आश्चर्य के साथ बोल उठे थे—

अचरज बंगला एक बनाया
ऊपर नींव, तले पर छाया।

और तुर्रा यह कि 'ऊपर नीव, तले पर छाया' होने पर भी यह 'बगला' ऐसा मजबूत होता है कि बडे-बडे तूफान भी इसे नुकसान नहीं पहुचा सकते । इसके अद्भुत कला-कौशल का नमूना है यह घोसला ।

बसंता

ग्रीष्म काल की दोपहरी में जब सारा ससार छांह ढूढता फिरता है, सूर्य के ताप से ऐसा लगता है मानो सारी पृथ्वी जलकर भस्म हो जायेगी, पशु-पक्षी तक शात भाव से किसी घनी छाया में दिन बिताते रहते है, चारो ओर सन्नाटा छा जाता है, कही किसी की आवाज तक सुनाई नही पडती, बिहारी के शब्दो में जब,—

कहलाने एकत बसत, अहि-मयूर, मृग-बाघ,
जगत जगत तपोवन सों कियौ दीरघ दाघ निदाघ।

और जब बेनी कवि के शब्दो में—

तवा सो तपत धरा मंडल अखडल औ
मारतड मडल दवा[1] सो होत भोर तें ।

वैसे समय में भी किसी बरगद, पीपल या आम के पेड पर एक पक्षी कुटुर-कुटुर सा कुछ करता रहता है । जगती सून-सान सी, शान्त पडी हुई है, पर यह अपनी धुन में अनवरत रूप से लगा हुआ है ।

---

1 दावा ।

उडते पाया । बुलाते ही वे उनके पास आ गयी और मिस्टर फ्रैंकलिन वडी आसानी के साथ उन्हे पकड कर अपने घर लेते आए ।

वया की भी कई किस्में है । इनके रग में भिन्नता है, पर इनकी आदतें एक जैसी ही है । इनमें एक प्रकार की वया होती है जिसकी चोच वहुत वडी होती है । कद भी छोटी मैना के समान, औरो से काफी वडा होता है । यह अधिकतर हिमालय की तराइयो में पाई जाती है । कलकत्ते के आस-पास भी देखी गई है ।

स्वभावत वया शोर मचाने वाला पक्षी है । जव कभी इनकी सख्या दो-तीन से अधिक हुई, शोर मचना शुरू हुआ, लडाई-झगडे छिड गए । फिर तो वहा रहना मुश्किल हो जाता है । खास कर जव ये घोसले दरख्तो पर न वनाकर किसी उद्यान-भवन के वरामदो में आकर वना लेती है और झगडने लगती है तो वहा रहना मुश्किल हो जाता है । कलह से इस पक्षी को स्वभावत वडी मोहव्वत है ।

पक्षियो में वया अपने घोसले के लिए मशहूर है और इसमें शक नही कि इसके निर्माण में वह जिस कुशलता का, जिस कारीगरी का, जिस हुनर का परिचय देती है, वह प्रशसनीय तो है ही, विस्मयोत्पादक भी है । तभी तो अमीर खुसरो इसकी कारीगरी देखकर दग रह गए थे और आश्चर्य के साथ वोल उठे थे—

अचरज वंगला एक वनाया
ऊपर नींव, तले पर छाया।

और तुर्रा यह कि 'ऊपर नीव, तले पर छाया' होने पर भी यह 'वगला' ऐसा मजवूत होता है कि वडे-वडे तूफान भी इसे नुकसान नहीं पहुचा सकते । इसके अद्भुत कला-कौशल का नमूना है यह घोसला ।

७

वसंता

ग्रीष्म काल की दोपहरी में जव सारा ससार छांह ढूढता फिरता है, सूर्य के ताप से ऐसा लगता है मानो सारी पृथ्वी जलकर भस्म हो जायेगी, पशु-पक्षी तक शात भाव से किसी घनी छाया में दिन विताते रहते है, चारो ओर सन्नाटा छा जाता है, कहीं किसी की आवाज तक सुनाई नही पडती, विहारी के शब्दो में जव,—

कहलाने एकत वसत, अहि-मयूर, मृग-वाघ,
जगत जगत तपोवन सों कियो दीरघ दाघ निदाघ।

और जव वेनी कवि के शब्दो में—

तवा सो तपत धरा मडल अखंडल औ
मारतड मडल दवा[1] सो होत भोर तें ।

वैसे समय में भी किसी वरगद, पीपल या आम के पेड पर एक पक्षी कुटुर-कुटुर सा कुछ करता रहता है । जगती सून-सान सी, शान्त पडी हुई है, पर यह अपनी धुन में अनवरत रूप से लगा हुआ है ।

---

१. दादा ।

यही पक्षी है वह बसता (चित्र सख्या ३७) जिसके सम्बन्ध में ये पक्तियां लिखी जा रही है । इस देश में यह कई नामो से पुकारा जाता है, जैसे कि पुदरुप, कुतुरका आदि। देखने में इसके नर और मादा का रूप-रग एक जैसा ही होता है—लम्बाई दस इच की, आकार मैना जैसा, बदन का ऊपरी हिस्सा हरे रग का, दुम भी, जिसके ऊपर पतली पीली लकीरे पडी होती है । गर्दन, सिर, सीना और डैने भूरे रग के, सिर के पास कुछ पीलापन भी, चोच मोटी और प्याजी तथा पैर हल्के बादामी रग के होते है । यह वडा बसन्ता है ।

छोटे बसन्ते का कद गौरैया जैसा होता है । डैने, पूछ और शरीर के परो का रग पीलापन लिए हरा, ललाट तथा गर्दन का रग लाल होता है । ठोढी, गले और आखो के समीप पीलापन, चोच काली, पैर इसके लाल होते है । पैर की अगुलिया दो आगे की ओर, दो पीछे की ओर होती है ।

बसन्ते गर्मियो में तो खूब वोलते है, दिन भर बोलते रहते है, पर जाडो में मौन हो जाते है । पुन वसन्त के आते ही बोलना शुरू कर देते हैं । वसन्त और ग्रीष्म ऋतुओ में इनकी आवाज़ अधिक बुलन्द रहती है, बरसात आते ही मन्द पडने लगती है और जाडो में तो बिल्कुल ही क्षीण, शक्ति हीन, हो जाती है । अतएव ये बोलना बन्द कर देते है ।

'शरद, शिशिर, हेमन्त मो, भये बसन्ता मौन ।'

कहावत प्रसिद्ध है ।

जाडो में मानो ये मौन व्रत धारण कर लेते है । बाकी दिनो में बसन्ता (छोटा) अविच्छिन्न रूप में टग-टग, टग-टग करता रहता है, मानो हथौडे से तावे को पीट रहा हो । अपने इस शब्द के कारण ही अग्रेजी भाषा में इसने 'कापरस्मिथ' (ठठेरा) नाम प्राप्त किया है । ग्रीष्म काल की दुपहरी में भी जब लोग विश्राम करते रहते हैं, यह पक्षी-श्रमिक अपने काम में जुटा रहता है ।

कीडे खाकर भी ये दोनो—वडे और छोटे बसन्ते—वस्तुत फलाहारी पक्षी है । अधिकाशत वट, पीपल आदि के फलो पर ये जीवन-निर्वाह करते है । मौका मिलने पर हमारे बाग-बगीचो के फलो को भी चट कर जाते है ।

कठफोडे की तरह बसन्ता भी अपनी चोच से काठ में सूराख कर डालता है पर जरूरत पडने पर ही, उसकी तरह अनावश्यक ढग पर जहा-तहा काठो में छेद नही करता फिरता। हा, अडा देने का समय—अप्रैल, मई, जून—आने पर पेड की डाल में सूराख अवश्य करता है और उसी में सुरग के पीछे एक कमरा बनाता है, जिसमें मादा अडे देती है जिनका रग सफेद होता है । सख्या में ये तीन या चार होते है । वडे और छोटे दोनो ही वसन्तो के अडा देने का यही नियम है ।

पेड में सूराख करके जो घोसला वनाया जाता है वह कभी-कभी वरसो तक इनका आवास-स्थान वना रहता है । अडे दिए, वच्चे हुए, वच्चे वडे होकर चले गए, फिर भी वसन्ता-दम्पति उसी में निवास करते है, आनन्द के साथ, चैन की नीद सोते रहते है ।

इनका नाम वसन्ता क्यो पडा, यह कहना वडा मुश्किल है । तर्क-शास्त्र के

पण्डित कहेंगे कि व्यक्ति वाचक सज्ञा किसी वस्तु के विशेष गुण को प्रकट नहीं करती, पर क्या यह सम्भव नही कि वसन्त के आने पर ही इनकी जवान में ताकत आने तथा वसन्ती रग होने के कारण इनका नाम वसन्ता पडा ?

O

महोख

सुवह होते ही वस्तियो में जैसे मुर्गे वोलते हैं वैसे ही वाग-वगीचे-वसवाडी, अमराइयो में महोख वोलना शुरू कर देते है, मानो सोने वालो को जगाते हुए कहते हो—

जागो, जागो हुआ सवेरा
त्यागो सेज, विहग वसेरा ।

पहले एक महोख वोलता है, फिर दूसरा, फिर तीसरा, और इस तरह भिन्न भिन्न वृक्षो से कई महोख वोल उठते हैं । तभी हम समझ जाते हैं कि अव सवेरा हो गया, व्योमाचल में मार्तण्ड का स्वर्ण-रथ उतरने ही वाला है ।
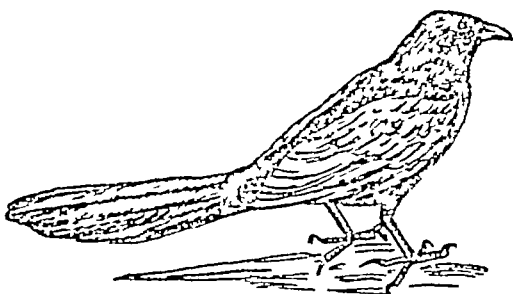
महोख लम्वी दुमवाला एक पक्षी है जिसके डैने गहरे खैरे रग के होते हैं, शरीर का रग काला होता है, चोच काली तथा टेढी होती है, आखें लाल तथा पैर काले होते है ।

जून से सितम्वर तक इसके अडा देने का वक्त है। घोंसला यह झाडियो में अथवा वृक्ष पर वनाता है । घोसला वडा होता है—गुम्वज की आकृति का । फिर भी मादा की पूछ अडा सेते समय वाहर ही निकली रहती है । नर मादा को पूछ फैला कर, नाच-नाच कर रिझाता है, फिर जोडा वाधता है ।

वोलते समय ऐसा प्रतीत होता है कि हुट-हुट या कोक-कोक कह रहा हो । पेड पर गिलहरियो की तरह चढकर शिकार ढूढता रहता है, कीडे-मकोडे खाता है, कभी-कभी छिपकली, छोटे साप आदि भी भक्षण करता है ।

शायद प्रभात वेला के, जवकि भक्त अपनी निद्रा छोड कर भगवद्-भजन में लगते है, आगमन की सूचना देने वाला होने के कारण ही सन्त-महात्माओं का ध्यान यह अपनी ओर आकर्षित करता रहा है तुलसीदास की अमरवाणी तक में इसने स्थान पाया है—

कूजत पिक मानहु गज माते,
ढेंक महोख ऊट विसराते ।

O

कठफोड़वा

अपने मकान के ऊपर रेडियो के तार वाले ऊचे बास पर आपने अक्सर एक पक्षी को देखा होगा जो बे-जरूरत उस पर ठोकर देता रहता है, मानो उसे तोड कर उसके दो हिस्से करने की कोशिश कर रहा हो । पर उसका ऐसा कोई उद्देश्य नही, केवल अपनी आदत से वह लाचार है और कहा भी है, 'यथा नाम' तथा गुण' कठ-फोडवा होकर यह काठ न फोडे, यह कैसे हो सकता है ? काठ को देखा नही कि इसकी प्रवृत्ति उसे फोडने की होती है, और इसलिए यह पेडो पर बिना आवश्यकता के छेद करता फिरता है । यही नही, पेड पर छोटे-छोटे कीडो की तलाश में दिन भर चक्कर लगाता है और उन्हे प्राप्त कर उनसे अपनी उदर पूर्ति करता है । अधिकतर यह पेडो से चिपका रहता है ।
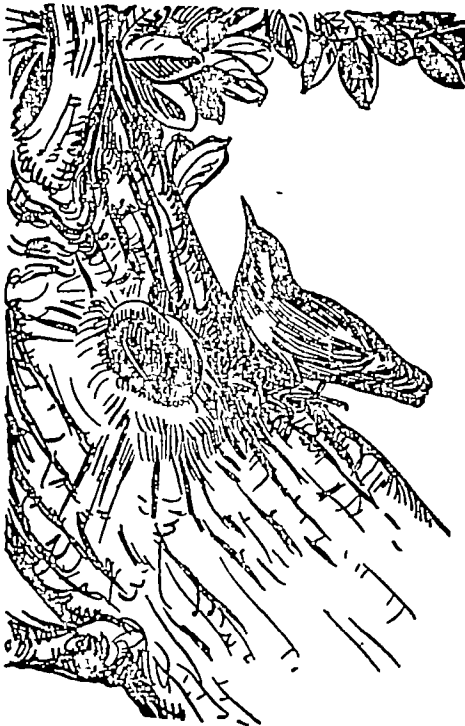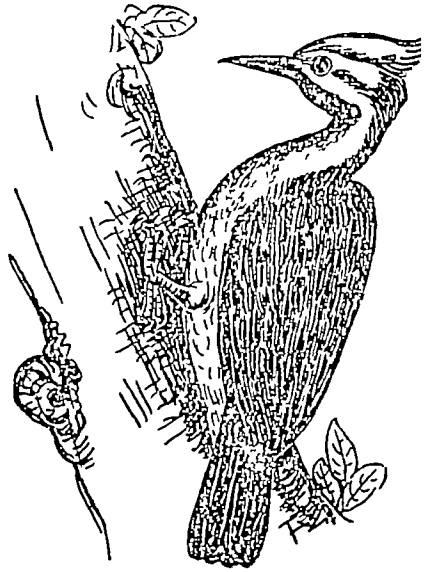
कठफोडवा इस देश के मशहूर पक्षियो में है । घने जगलो की अपेक्षा बस्ती के आस-पास के वृक्ष इसे ज्यादा पसन्द है जहा इसे कीडे-मकोडे अधिक सख्या में प्राप्त होते रहते है । इसकी भी कई श्रेणिया-उपजातिया है पर हमारे देश में बहुतायत से पाया जाने वाला वह है जिसका आकार ग्यारह इच के करीब होता है । नर का सिर और चोटी लाल तथा गरदन काली होती है । नेत्र के नीचे से डैने तक एक सफेद धारी बनी होती है । पेट और छाती का रग चितकबरा, दुम और इसके नीचे के हिस्से का रग काला तथा पीठ का सुनहला होता है । मादा की छाती ज्यादा सफेद होती है ।

फरवरी से जुलाई के बीच किसी मोटे पेड के तन मे सूराख करके उसी में मादा अडे देती है ।

इसकी एक छोटी सी जाति भी है जो कद में गौरैया जैसी होती है—'कठफोडिया' । इस जाति के पक्षी जब-तब झुड में चलते हुए भी पाए गए है ।

इसके नर का ऊपरी हिस्सा स्लेटी मायल नीला, निचला कत्थई होता है । मादा के नीचे का रग कत्थई की जगह बादामी होता है (चित्र सख्या १८) । यह स्वय काठ में छेद न करके वृक्ष के किसी कोटर में अडे देती है, जिसके मुह को, एक छोटा सूराख छोडकर, चिकनी मिट्टी से बन्द कर देती है, ताकि कौए जैसे चोरो से उसका घर सुरक्षित बना रहे ।

कठफोडवा जब पेड में सूराख करता रहता है, उस पर चोच से चोट पर चोट देता रहता है, तो इसकी आवाज दूर-दूर तक सुनाई पडती है । कार्य-साधन में कई रोज लग जाते है, पर जब घोसला तैयार हो जाता है तो देखने में बडा सुन्दर लगता है । आम के वृक्ष इसे इस काम के लिए अधिक उपयुक्त प्रतीत होते है ।

●

अबाबील

अक्सर शाम को जब सूर्यास्त के बाद भी प्रकाश बना रहता है, आपने आकाश में छोटी-छोटी चिडियो के झुड को, सैकडो की सख्या में, गोलाकार उडते मडराते देखा होगा, मानो टिड्डियो का दल हो । ये उडते-उडते एक प्रकार का कलरव भी करती रहती है । यही है वे अबाबील जिन्हे अग्रेजी में स्वालो पक्षी कहते है तथा जिनके सम्बन्ध में कीट्स ने लिखा था—

And gathering Swallows twitter in the skies,

—और झुण्ड बाधती हुई अबाबीलें आकाश में चहचहाती है ।

उजले दिन की अपेक्षा सन्ध्या के झिलमिल प्रकाश में किसी प्राचीन मकान, मन्दिर, मस्जिद के ऊपर जहा वे अपने घोसले बनाती है, उडना इन्हें अधिक पसद है । ये वृक्षो पर नहीं बल्कि इन्ही मकानो मे अपने घोसले बनाती है । इनके मुह से एक प्रकार का तरल पदार्थ, जिसे हम लार कह सकते है, निकलता है । इसी के सहारे ये मिट्टी के भीटे में चोच मार कर प्राप्त की हुई मिट्टी को घास-फूस के सग मकान की छत अथवा दीवार मे चिपका देती है और इस तरह प्याले की शकल का अपना नीड तैयार कर लेती है । स्वाभाविक है कि निर्जन मकान इन्हें इस काम के लिए अधिक उपयुक्त प्रतीत होते हैं ।
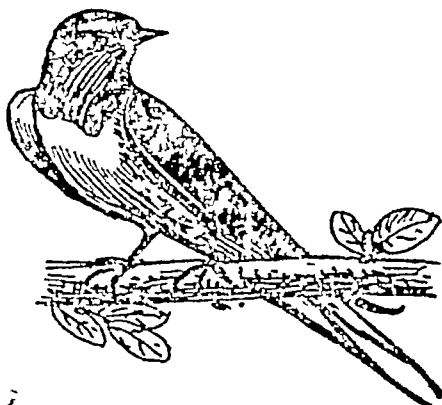
इन्ही घोसलों में बैठकर या उडते हुए ये अपना अधिक समय बिताती है। इनकी अँगुलियो की बनावट कुछ ऐसी है कि ये और पक्षियो की तरह वृक्ष की डालो-टहनियो पर नही बैठ सकती चूकि उन्हें ये आसानी से पकड नही सकती है। चारों अँगुलिया आगे की ओर होने के कारण ये जमीन पर भी नही चल पाती। इनके घोंसले बहुत कुछ मिट्टी के मकान जैसे होते है। इनमें ये एक सूराख बना रखती है जो इनके मकान का प्रवेश-द्वार होता है। चीन देश के रहने वाले, जिनके लिए ससार की अधिकाश वस्तुए खाद्य है, लार से बने हुए इन घोसलो में न जाने क्या स्वाद पाते है कि इनका शोरवा बना बनाकर बडे चाव से उसे पीते है।

आमतौर पर अबाबील का रग काला होता है, पीठ के नीचे एक सफेद चौडी धारी होती है। आकार में गौरेया से भी छोटी होती है, पर उडने में इनकी गति अ तेज है। कई बार वायुयानो के सग इनकी प्रतियोगिता हो गयी है हर दफा वायुयान से ये आगे रही हैं। इसी से इनकी उडान-शक्ति का अ किया जा सकता है। अकेली न उड कर ज्यादातर ये झुडो में उडती है। ये विचार की कायल है कि कलियुग में सघ में या गिरोह बाघ कर रहने में ही इ है, अकेले खिचडी पकाने में नही—कलौ सघे शक्ति।

इनका शरीर छोटा, पाव छोटे, चोंच मोटी पर छोटी होती है, किन्तु डैने असाधारण तौर से लम्बे, दुम लम्बी और दो-फाकी होती है। मुँह खूब होता है जिसके कारण ये हवा में उडने वाले पतिंगो को बडी आसानी से निगल है। पैरो की बनावट के कारण कहिए या प्रकृतिवश, उडना इन्हें अत्यन्त प्रि तथा जल का पान अथवा स्नान भी ये उडते-उडते ही करती है।

ये भारत के बारहमासी पक्षियो में है पर जिन देशो में घोर शीत पडत वहा से जाडो में ये अन्यत्र चली जाती है और गर्मियो के आते-आते पुन आ पहुँचती यूरोपीय देशो में अबाबील का नजर आना ग्रीष्मकाल के आविर्भाव का सूचक अग्रेजी की एक मशहूर कहावत है, "One swallow does not mak summer"—एक अबाबील से ही ग्रीष्मकाल नही होता। इससे स्पष्ट है अबाबीलो के प्रत्यागमन से ग्रीष्मकाल का आविर्भाव माना जाता है।

गौरैयो का इनसे सौतिया डाह-सा है। जहा उन्होंने इनके घोसले देखे, पूछे-पाछे वे उन पर कब्जा कर बैठती हैं और तब आपसे आप अबाबील को से कूच का डका बजा देना पड़ता है।

इस देश में इनकी बहुतेरी किस्में पाई जाती हैं जिनमें तीन मुख्य हैं—

(१) घरेलू अबाबील अबाबीलो में ये सब से अधिक प्रसिद्ध और परिचित है। सारे यूरोप, अफ्रीका तथा एशिया के अधिकाश देशो में पाई जाती है। पर ठडे देशो में ये गर्मियो में ही पाई जाती है, जाडो में नही। हिमालय की तराइयो में भी ये अधिक सख्या में पाई जाती है। इनके पर ऊपर से लोहे के रग की झलक लिए हुए नीले, नीचे से हल्के पीले होते है। गले तथा कपोल पर बादामी लालिमा, छाती पर एक काली धारी-सी होती है। पूछ पर सफेद चित्तो की कतार तथा इनके पर, खास कर नर के, बडे लम्बे, खाना खाने के काटे की तरह के, होते है। अग्रेजी में इसीलिए लम्बे काटे को अबाबील-पुच्छ काटा कहते है। इसके अडा देने का समय अप्रैल-मई है।

(२) लिशरा अबाबील घरेलू अबाबील से यह कद में छोटी पर देखने में उससे अधिक सुन्दर होती है। इसकी दुम असाधारण रूप से लम्बी होती है, किसी लम्बे तार के समान, और इसीलिए इसे कही-कही तार-पुच्छ अबाबील भी कहते है। यह साल भर अडे देती है। बहुधा मकान के बरामदे में, मेहराबो के नीचे घोसला बना डालती है। जल का अडोस-पडोस या किनारा इसे अधिक पसद है। उत्तर भारत की नहरो का किनारा इसे खास तौर पर रुचिकर है। वन, रेगिस्तान, खेत इसे कतई पसद नही।

विलायत में पाई जानेवाली जाति यही है। यहा भी इसे और प्रातो की अपेक्षा हिमालय के पार्श्ववर्ती इलाके तथा कश्मीर अधिक प्रिय है। ५०० फुट की ऊचाई तक यह पाई गई है पर गर्मियो में ही, शीतकाल में नही।

अन्य अबाबीलो की तरह यह गिरोह बाध कर बसेरा नही बनाती। यह एकातप्रिय है, पर उड़ते वक्त झुड बाध लेती है।

(३) मस्जिद अबाबील देखने में बहुत कुछ घरेलू अबाबील जैसी ही होती है पर इसके घोसले का आकार-प्रकार कटोरे-जैसा न होकर बोतल-जैसा होता है। अप्रैल से लेकर अगस्त तक इसके अडे देने का समय है।

अबाबीलो की इन तीन किस्मो के अलावा भी कई और किस्में पाई जाती है, जैसे, कि ताडी अबाबील जो ताडो पर ही घोसला बनाती है, रक्त-पुच्छ, जिसकी दुम का आखिरी हिस्सा लाल होता है, आदि। पर अधिकाशत इन सब की रूप-रेखा और प्रकृति समान होती है। सकट आने पर ये एक दूसरे की जान पर खेल कर सहायता करती है।

अबाबील ससार प्रसिद्ध पक्षियो में है। अग्रेजी भाषा के कवियो को यह विशेष रूप से प्यारी है। और इसमें सन्देह नहीं कि गोधूलि में जब ये झुड बाध कर, वृत्ताकार, हमारे सर के ठीक ऊपर, अन्तरिक्ष में, कलरव करती है और तब तक उडती और कूदती रहती है जब तक कि सन्ध्या अपने मुक्त श्यामल केशो से धरती को ढक नही देती, तो ये हमारे अन्तर में एक अजीब भावना उत्पन्न करती है: इनके कलरव की सुस्मृति बहुत समय तक हमारे मानस-पटल पर अकित रह जाती है।

रात होते ही इनका यह सगीत समाप्त हो जाता है और फिर हम एक अजीब शून्यता का अनुभव करने लगते है। किसी कवि की निम्न पक्तियो में इन्ही की ओर सकेत है—

लघु तितली-से लघु-लघु विहग
उड़ते नभ में जो इतस्ततः,
अपने अन्तिम स्वर से भर कर
व्योमांचल का रजित आवह,
कर गए क्षितिज को शून्य अधिक,
दे गए दान पर सुस्मृति का,
रजनी के कर से हुई ज्वलित,
नभ की पहली जब सुवर्तिका ।

●

बतासी

बतासी एक छोटी-सी चिडिया है जो देखने में अबाबील की तरह हो कर भी अबाबील नही है । कलछौंह खैरा रग, ठुड्डी, गले और दुम की जड के पास का हिस्सा सफेद, पूछ के निचले हिस्से तथा सर पर के रग में हल्कापन, आखो के पास एक गाढा चित्ता, काली चोंच, ललछौंह पैर। ऐसे पक्षियो को आपने अकसर गोल वाघ कर किसी पुरानी इमारत अथवा ताड के वृक्षो पर खाना- बदोशो की तरह डेरा डाले या हवा में उडते हुए छोटे-छोटे कीडे-मकोडो को खाते देखा होगा । ये न तो पेडो पर बैठते है और न जमीन पर ही आसानी से बैठ पाते है । इनके पैर की अँगुलिया कुछ ऐसी है कि उनके सहारे इनके लिए चलना, फिरना, बैठना सभी अत्यन्त कष्टप्रद होता है । अतएव ये या तो उड़ते रहते है या डैनो के सहारे बैठते है, यहा तक कि जोडा बाघते समय भी ये डैनो पर ही बैठते है, पैरो पर नही ।
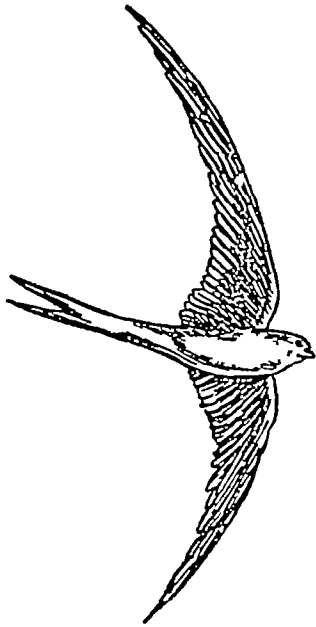
पुरानी इमारतो के किसी अँधेरे कोने में रहना ये ज्यादा पसन्द करते है । घोसला वनाने में मिट्टी की जगह थूक (लार) से काम लेते है । घोसला वनाने के लिए पहले ये, कई एक साथ मिल कर, स्थान की खोज के लिए निकलते है, पहाड के दर्रों, पुरानी इमारतो, मस्जिद, मन्दिर आदि जगहो पर जाते है, और वहा इस काम के योग्य एकान्त कोने की तलाश करते है । कभी-कभी ऐसा भी होता है कि इन स्थानो पर पूर्व-निर्मित वसेरो में निवास करने वाले पक्षी इनके दरवाज़ा खटखटाते ही क्रोधित होकर वाहर निकलते है, इन्हे डाट-डपट वतलाते है, इन्हें ठहरने नही देते और ये दुम दवा कर फौरन वहा से नौ-दो-ग्यारह होते है ।

चित्र संख्या ३९
उड़ता हुआ मोर

चित्र संख्या · ४०
मोर

चित्र सख्या ४१
लहतोरा

त्र मख्या ४२
लवा

या ४३
सुरखाब
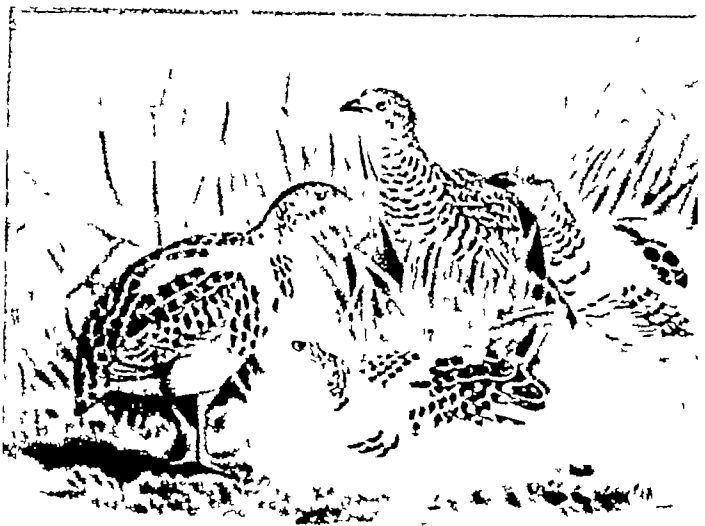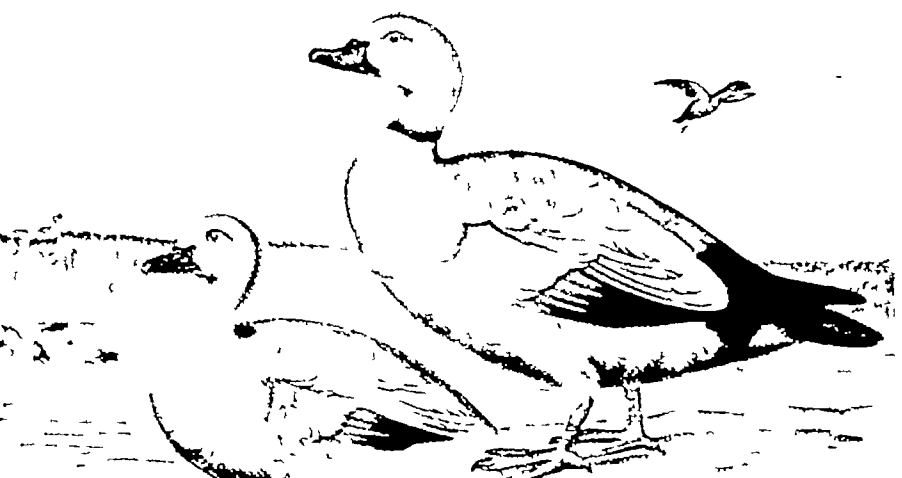
कभी ऐसा भी होता है कि जब ये दूसरे वर्ष अपने पुराने बसेरे पर (बतासी एक ही घोसले में साल-दर-साल अडे देते है) प्रजनन-कार्य के लिए पहुचते है तो उसे भरा हुआ पाते हैं, घोसला खाली पा कर उसमें गौरैया आदि दूसरे पक्षी डेरा डाल लेते है। मेहनत से बनाये हुए इनके घर पर दूसरा कब्जा कर ले—विना इजाजत के उसमें डेरा डाले—यह इन्हे कब मजूर होने का ? आखिर वे कोई साधू-सन्यासी तो है नहीं कि उनकी कुटी में जो कोई भी आये, धूनी रमा कर बैठ जाये ? अत अनधिकारी को देखते ही ये आगबबूला हो उठते है, उन्हे मार भगाते है। पर यदि वह इनसे मजबूत हुआ तो कभी-कभी ये स्वय ही दुम दबा कर भाग खडे होते है।

बतासी उन पक्षियो में है जिनके नर और मादा का आमरण सम्बन्ध है। शीतकाल में नर और मादा अलग-अलग दूर देश को, जहा ठडक नही पडती या कम पडती है, चल देते है। ये दूर देश की यात्रा के अभ्यासी होते हैं। कभी-कभी खाने की खोज में ये छ-छ, सात-सात सौ मील की यात्रा भी कर लेते है। जोडे एक साथ कम चलते है, अधिकतर ये अकेले जाते है, और शायद भ्रमण-पथ पर गाते भी है—

एकला चल रे, एकला चल रे, एकला चल !

पर वसन्त के आते ही वे पुन एक साथ हो जाते है। इनके पुनर्मिलन का स्थान इनका पुराना घोसला होता है जिसे आकर ये फिर से आबाद करते है, अडे देकर गार्हस्थ्य-धर्म का पालन करते है।

बतासी ज्यादातर काम अपनी पखो से लेते है। इनके डैने वायुयान के डैनो की भाति बडे मजबूत होते है, और लम्बे भी, और इनके सहारे ये बडी तेज रफ्तार से, ४० से ६० मील प्रति घटा के हिसाब से, उड सकते है। सोना, बैठना, घोसला बनाने के लिए घासफूस आदि चीजो का ढोना, सारे काम ये डैनो की सहायता से करते है। घोसला कटोरे के आकार का बनाते हैं, और ऐसे स्थानो पर जहा प्रकाश की कमी रहती है, सूर्य की तीव्र ज्योति शायद इन्हें प्रिय नही है।

उडते-उडते ही ये छोटे-छोटे कीडे-मकोडो को पकडते है, उन्हे स्वय खाते है और नवजात शिशु को भी खिलाते हैं। अक्सर उदरस्थ कीडो को, जो लार से मिल कर गोली-जैसे बन जाते है, ये उगल-उगल कर इन्हें खिलाते हुए नजर आते है। इनके बच्चों की एक विशेषता यह है कि वे लगातार कई दिनो तक बिना आहार के जीवित रह सकते है। निराहार रहने का कष्ट बर्दाश्त करने की इनमें बडी ताकत है।

एकातवास के भी ये आदी है तथा बहुधा उन दिनो में, जब कड़ाके की सर्दी पडती है तुषारपात तक होता है, ये हफ्तो अपने घोसले में निराहारावस्था में पडे रहते है। हा, उन दिनो चलना-फिरना बन्द रखते है, शरीर की शक्ति का व्यय नही करते, उसे सचित रखते हैं।

जाडो में कीडो की कमी हो जाती है। जो मिलते भी है वे नर, मादा और नीड के शिशु के लिए पर्याप्त नहीं, अतएव बहुधा मीलो—कभी-कभी चार-पाच सौ मील तक—

जाकर ये कीड़ों को सग्रहीत कर लाते हैं और अपनी तथा शिशुओं की उदर पूर्ति करते हैं । मकडियो को भी ये पकड खाते हैं । पर इन्हें सब से स्वादिष्ट लगती है मधुमक्खी। मधुमक्खियो को ये बडे चाव से स्वय खाते हैं और बच्चो को भी खिलाते हैं ।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, उदरस्थ कीडो को ये पेट से निकाल-निकाल कर बच्चो को खिलाते हैं । ये थूक से सट कर गोली के आकार के बन जाते है एक बार इस प्रकार की १२ गोलियो की परीक्षा की गयी तो उनमें ३१२ प्रकार मे कीड़े पाये गये ।

गौरैया

१९४१ की बात है । मैं हजारीबाग के केन्द्रीय जेल में कैद था । अभी अपनी कोठरी (सेल) में आसन जमाये मुझे दो-चार दिन भी नही हुए होगे कि एक दिन, जब कि मैं बैठा हुआ कुछ लिख रहा था, अचानक मेरे सर पर घास-फूस का एक बडल आ गिरा । चौंककर ऊपर की ओर निगाह डाली तो देखा कि दो छोटे-छोटे पक्षी चो-ची चू-चू कर मेरी इस दुर्गति पर हँस रहे हैं । वे गौरैये थी जिन्होने जान बूझ कर या आसावधानी से अपना घोसला मेरे सर पर गिराया था ।

क्षण भर के लिए मुझे क्रोध अवश्य आया । पर कुछ ही दिनो में इन गौरैयो से मेरी काफी घनिष्ठता हो गयी । छेडखानिया जारी रही, घास-फूस के टुकडे मेज पर, बिस्तरे पर, बदन पर रोज ही गिरते रहे, कभी-कभी इनके नवजात शिशु भी । पर अब ये मुझे क्रोधित न कर मुझमें एक प्रकार का कौतूहल पैदा करती थी। और फिर तो दो-एक महीनो में ऐसा हो गया कि इनकी अनुपस्थिति मुझे खटकने सी-लगी । एक दिन बैठा बैठा मै इन पर कुछ लिख भी गया, जिसकी कुछ पक्तिया इस प्रकार थी—

री बन्दी-जीवन की सगिनि,
लघु विहगिनी, तरणी,
सूखे मरु-प्रदेश में तू ही,
एक सरस निर्झरणी।
पूरब दिशि गगनांगण में जब
उग उठता शुक-तारा,
स्वर्ण-तूलिका से रजित गिरि
का होता मुख प्यारा।
एक-एक कर आंखो से जब
सपने लगते जाने,
दूर प्रान्त में वन-विहगों के
होते गुंजित गाने ।

तो अपने चीं-चीं चूं-चूं से
तू आ मुझे जगाती,
निद्रित जीवन के दुख-सुख को
क्षण में दूर भगाती।
झम-झम कर नाचें-गायें,
मोद-भरे, भय छोड़े,
यहां न आते वन्दी-गृह में
वे कपोत के जोडे।
तरु-पल्लव की ओट वैठते
जो आपस में हिलमिल,
यहां कभी वे नीम-वृक्ष पर,
दीख न पड़ते हारिल।
गिरि-कोटर में तू वन आयी
किरण अनोखी, पाहुन,
आ टुक मुझे संदेश सुना जा,
नगर-नगर का चारण !

इसी भांति अनेक भाव हृदय में आते गये और मैं उन्हें पद्य-वद्ध करता गया और यह तुकवन्दी एक लम्वी-सी कविता वन गयी। निस्सन्देह इसका समस्त श्रेय वन्दी-जीवन की उस संगिनी को था जिसने स्वतंत्र हो कर भी स्वयं मेरे साथ जेल में अपने को वन्दिनी वना रक्खा था।

पूर्वोक्त तुकवन्दी में मैंने गौरैये को "नगर-नगर का चारण" कहा है। वात ऐसी ही है। कोई गाव, कोई नगर आपको ऐसा न मिलेगा जहा गौरैये न हों, भारतवर्ष में ही नही, अन्य देशो में भी। जहा मानव-आवास, वहा गौरैये। इनके घोसले किसी वृक्ष या झाडी में आपको शायद ही मिले। हमारे घरो के ही किसी हिस्से में, अधिकतर कार्निसो पर, ये वगैर किसी भय-संकोच के अपने घोसले वना डालती हैं और वहीं वर्ष में कई वार अडे देती हैं। परिणाम यह होता है कि कुछ ही दिनों में वे दो-चार नही वल्कि दर्जनो गौरैया-परिवार के निवास-स्थल वन जाते हैं। कभी-कभी प्राचीन गृहो में आपको सैंकडो गौरैया एक साथ निवास करते नजर आयेंगी।

गौरैया ही एक ऐसी चिडिया है जिसके लिए जाडा और गर्मी, दोनो एक समान है। दोनो ही मौसमो में वह एक-सी खुश नजर आयेगी। गर्म-से-गर्म और ठंडे-से-ठंडे देशो में वह पायी जाती है। हजारो फुट की ऊंचाई पर भी मैंने इन्हें दाना चुगते तथा घोसले वनाते पाया है, वह भी वडी वेफ़िक्री के
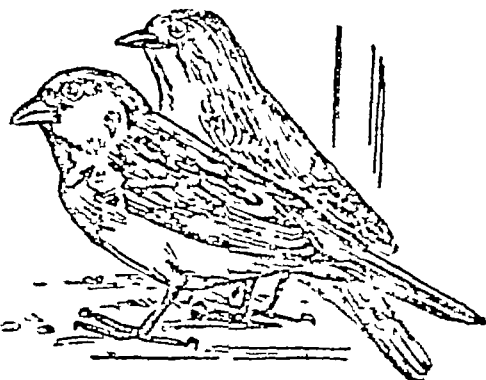
साथ। उन्हें इस बात का भय नहीं कि पहाड़ों की बर्फीली हवा उनके शरीर को—जिनके घर इस योग्य नही होते कि ठडक से उनका बचाव कर सकें—कँपा डालेगी। चाहे राजस्थान की मरुभूमि हो या क्वेटा का उष्ण प्रान्तर अथवा शिमले के पहाड—मनुष्य के सग रहना ही इन्हें अधिक रुचिकर है। और पक्षियो की तरह ये मनुष्य से भयभीत नही होती। बहुधा जब हम अपनी मेज पर बैठे रहते है, ये मेज पर चढ़ जाती है और फिर फुदक-फुदक कर बडे इतमीनान के साथ उस पर घूमने भी लगती है। कभी-कभी हमारी टोपियो के भीतर तक में ये घोसले बना डालती है। देखने में यह बहुत छोटी बुलबुल से भी छोटी—प्राय छ इच की चिडिया है, पर किसानो को नुकसान पहुँचाने में बडे-बडे पक्षियो के भी कान काटती है। बहुधा सेरो नाज यह सखी-सहेलियो के सग कुछ ही देर में चट कर जाती है।

गौरैये लडाकू भी खूब ही है। बात-बात पर लड उठती है। कभी-कभी मकान की कार्निस से लडती-लडती ये जमीन अथवा मेज पर उतर आती है और अपने झगडो से हमें तग कर डालती है। लडती हुई दो गौरैयो का हमारे शरीर पर आ गिरना एक साधारण सी घटना है। पता नही, हमारे सामने लडने का इन्हे इतना शौक क्यो है। क्या ये हमसे अपने झगडे अथवा दगल का निपटारा कराना चाहती है?

गौरैयो का निवास भारतवर्ष के सभी हिस्सो में है। इस देश में इसकी मुख्यत दो उपजातिया पायी जाती है एक वह जो कि हमारे गृह-प्रागण में दिनभर दाना चुगती है—अपनी ची-ची चूं-चूं से हमें परेशान किये रहती है। इसके नर और मादा में अन्तर होता है। नर के सिर का ऊपरी हिस्सा स्लेटी, बाल श्वेत होते है। छाती से ठोढ़ी तक एक काली धारी होती है। इनके पर कुछ सफेद, कुछ बादामी तथा कुछ भूरे होते है। पीठ तक डैने कत्थई भूरे रग के होते है। दुम गहरी भूरी। गाल राख के हलके रग का होता है। पेट पर सफेदी होती है। मादा भूरे अथवा मटमैले रग की होती है। दोनो की चोच मोटी तथा भूरे रग की होती है, आख की पुतली और पैर भी भूरे होते है। मादा की आख के ऊपर एक हल्की बादामी रेखा रहती ह। गर्मियो में नर की भूरी चोच काली लगने लगती है। यह हमारी इतनी जानी-पहचानी चिडिया है कि इसका हुलिया बताने की कतई जरूरत नही। इस देश में शायद ही कोई ऐसा होगा जो छ इच के इस पक्षी को न पहचानता हो।

यह साल भर अडा देने वाली चिडियो में है, पर अधिकतर फरवरी से मई तक के महीनो में अडे देती है। एक बार में पाच-पाच छ-छ अडे दे डालती है जो राख के रग के होते है।

इसके बच्चो के शत्रुओ में बाज पक्षी तथा एक मक्खी विशेष खास तौर पर उल्लेखनीय है। यह मक्खी इसके घोसले में ही अपना घोसला बना कर गौरैये के छोटे-छोटे बच्चो से चिमट जाती है तथा उनका खून पी डालती है, रक्तविहीन होकर वे आप-से-आप मर जाते है।

धूल में नहाना इन्हे बहुत पसद है। घाघ और भड्डरी के कथनानुसार इनका धूल में नहाना वर्षारम्भ का सूचक है।

गौरैये की दूसरी उपजाति वह है जिसे तूती कहते हैं। यह देखने में मादा गौरैया जैसी होती है, सिर्फ गले का कुछ हिस्सा पीला होता है। स्वभावत इसमें वह ढिठाई नही जो साधारण गौरैये में पायी जाती है। यह पेडो की सूराख में घोसला बनाती है। इसकी बोली वडी सुहावनी है। फारसी-उर्दू साहित्य में जगह-जगह पर तूती की चर्चा पायी जाती है—खास कर भारतवर्ष की तूती की। अमीर खुसरो ने लिखा है—

चुमन तूतिए-हिन्दम, अर रास्त पुर्सी,
जे मन हिन्दुई पुर्स, ता जग्ज गोयम।

—मैं हिन्दुस्तान की तूती हू। मुझसे यदि कुछ जानना है तो हिन्दी में पूछो ताकि में अपने अनुभव की कुछ वातें वता सकू।

डाक्टर इकवाल ने इसका जिक्र इस प्रकार किया है —

उडा ली तूतियों ने, कुमरियो ने, अदलीवों ने,
चमनवालो ने मिल कर लूट ली तर्जे-फुगां मेरी।

इसकी आवाज सुरीली पर क्षीण होती है और इसीलिए कहावत मशहूर है—
नक्कारखाने में तूती की आवाज।

उत्तर भारत की लोक-कथाओं मे गौरैये का जिक्र वहुत आता है। यह शायद इसलिए कि यह ऐसा पक्षी है जो घर के कोनो में रहता है, घोसले वनाता है, अतएव वचपन से ही हम उससे परिचित हो जाते हैं। इस देश में गौरैया-पालन की, पता नही, कभी प्रथा थी या नही पर, यूनान और रोम में लोग इसे वडे प्यार से पाला करते थे। तभी तो कटलस नामक रोम के एक प्रसिद्ध कवि ने इसे संवोधित करके लिखा था—

Passer, deliciae meale puella, quicum ludere,

—ओ मेरी प्रियतमा का प्रिय-पात्र गौरैया, जिसके सग वह वहुवा क्रीडा करती है, खेलती है!

खेद है कि गौरैया जैसे पक्षी की ओर से—जो हमारा दिनरात का सगी है—भारतीय साहित्य उदासीन वना रहा! लोक साहित्य तक में यह वह स्थान न पा सकी जो इसका देय था।

●

सतवहिनी

एक वार विलायत से तुरन्त के आए हुए वडे लाट आगरे का ताज देखने गए। सरकार के उच्च पदाधिकारी उनके साथ थे। उन्होने वायसराय को ताज के सारे हिस्से दिखाये और फिर लाट साहव के विचार जानने को उत्सुकतापूर्वक उनके सामने शांत-भाव से खड़े हो गए। उन्होने सोचा कि लाट साहव अवश्य ही ससार-प्रसिद्ध इस इमारत की प्रशसा में कुछ शब्द कहेंगे, अपने उद्‌गार प्रकट करेंगे

पर उनकी निराशा का कोई ठिकाना न रहा जब वह वजाय इसके कि उसके सम्बन्ध में कुछ कहें, अपने ए. डी सी से पूछ बैठे—"कौन पक्षी है वे, अजीव से ?"

लाट साहब का ध्यान अपनी ओर आकर्षित करने वाली ये चिडिया सतवहिनी थीं जिनके सम्बन्ध में लीनियस ने मृदुभाषिणी लिखकर अपने अज्ञान क परिचय दिया था ।

कौआ, कबूतर, मैना, गौरैया—ये वे पक्षी है जिनका अधिक काल मानव-निवा स्थल के अडोस-पडोस में ही बीतता है । सतबहिनी को हम ऐसे पक्षियों की श्रे में पाचवा स्थान दे सकते हैं । आपने देखा होगा आपके घर के इर्द-गिर्द, बाग-बगीच में या कि झाडियों में, गृह-प्रागण में लगी हुई तुलसी के चारो ओर, मटमैले रग कुछ पक्षी, झुड बाघ कर फुदकते हुए छोटे-मोटे कीडो को पकड-पकड कर खा रहते है और बीच-बीच में शोर भी मचाते हैं । सतवहिनी यही हैं जिनके और भ कई नाम है—सतभइया, चरखी, कचबचिया, छतरिया आदि । अक्सर आप देखेंगे कि इनकी सख्या सात है और इसीलिए लोग इन्हे सतभइया अथवा सतवहिनी कहत है । पर इसका मतलव यह कदापि नही कि इनमें सभी नर ही होते है या सभी मादा इनमें नर और मादा दोनो ही होते है और इस दृष्टि से इन्हें सतभइया किवा सतबहिनी कहना गलत प्रतीत होता है । ये प्रचलित नाम हे और हम इन्हें इस लेख म सतबहिनी नाम से ही पुकारेंगे यद्यपि नाम कभी-कभी धोखे में डालने वाले भी होते ह ।

सतबहिनी प्रकृतित दल बाध कर रहने वाले पक्षी हैं । इनके सात-सात के झुड होते है । कभी-कभी कई झुड साथ-साथ ही चलते है और इस तरह इस सयुक्त दल की सख्या चौदह या उससे भी ज्यादा हो जाती है । कभी-कभी एक दल में सात से अधिक भी हो सकते है, और कम भी ।

ये अपने सारे काम-धधे साथ-साथ मिलकर करती है, अलग-अलग नही । यहा तक कि घोसले बनाना, अडा सेना, बच्चो को खिलाना आदि सभी काम मिलजुल कर ही करती है । एक अग्रेज लेखक का कहना है कि उन्होने एक बार छ सतबहिनियो को एक ही घोसले में बारी-बारी से तीन बच्चो को दाना खिलाते पाया था ।

दु ख-सुख दोनो अवस्थाओं में ये एक दूसरे का साथ नही छोडती । यदि आप इनमें से कुछ को पिंजडे में डाल दें तो बाकी भी पिंजडे में घुसने की चेष्टा करने लगेंगी । शायद यह भी कवि के इस कथन की कायल है कि—

A prison with a friend preferred
To liberty without

—मित्र के सग कैद में रहना वाहर एकाकी रहने की अपेक्षा कही अच्छा है ।

इनकी उडने की ताकत कम होने के कारण अधिकतर ये पावो पर ही चलती है । सभी एक साथ चलेगी । यदि कोई एक साथी पिछड गया तो वाकी खडी होकर, उसकी प्रतीक्षा करेगी और तभी आगे वढ़ेंगी जव वह दल में आकर शामिल हो

जायगा। "कचवच" शब्द करती रहेगी ताकि पिछडा साथी जान जाय कि बाकी कहा हैं। कौए की भाति ये भी खाद्य को पाव से पकड कर, नोच-नोच कर, खाती हैं।

गिरोह बाधकर रहने में जो बल है वह अलग-अलग खिचडी पकाने में नही। इस देश के पक्षी कौए, कबूतर, तोते इत्यादि इस शाश्वत सत्य का मूल्य जानते है और इसपर अमल भी करते है, पर इस सत्य को जो सबसे अधिक पहचानती है, वह है सतवहिनी। यह सही है कि सतवहिनी जबतब आपस में खूब लडती है, पर खतरे के मौको पर ये एक-साथ हो जाती है तथा कौए और बाज-बहरी-शिकरे का जबर्दस्त मुकाबला करती है जिसके परिणामस्वरूप इन दुश्मनो को अत में मैदान छोड कर भाग खडा होना पडता है। यही है सघ-शक्ति।

युद्धकाल में तो ये अद्भुत् एकता का परिचय देती ही है, शान्ति-काल में भी अनूठी पारस्परिक प्रीति का प्रदर्शन करती है। आप इन्हे बहुधा चोच से एक दूसरे का सिर खुजलाते अथवा पर की गदगी साफ करते देखेंगे। देखने में ये कुरूप होती है—मटमैला रग, आख, चोच, पर सफेद। पूछ बडी, पर ढीली-ढीली-सी। इनके बदन में कोई ऐसी वस्तु नही जो हमारी आखो को प्यारी लगे। पर हमें यह न भूलना चाहिए कि वास्तविक सौंदर्य गुण में है, तन में नही।

इस देश में इनकी भी कई किस्में है जिनमें तीन मुख्य है—(१) साधारण, (२) जगली, (३) दक्षिणी। साधारण की दुम लम्बी होती है, तथा जगली का शरीर। दक्षिणी का रग मटमैला न होकर कत्थई होता है, गले, छाती और पेट पर सफेदी होती है। अधिकाशत यह जोडो में पायी जाती है, पर कभी भी चार से ज्यादा एक साथ नही। इन तीनो के स्वभाव में कोई खास फर्क नही है।

उडने की ताकत कम होने के कारण यह घोसला ऊचे दरख्तो पर न बना कर झाडियो में अथवा वृक्षो की उन शाखाओ पर, जिनकी जमीन से ज्यादा ऊचाई नही होती, बनाती है। सभी ऋतुओ में अडे देती है। अडो की सख्या दो से चार तक होती है। रग बिल्कुल नीला। इन्ही अडो के साथ पपीहा चुपके से अपने अडे भी रख आता है। सयोगवश पपीहे के अडे भी गाढे नीले रग के ही होते है। जिस तरह कोयल कौए को छलती है, उसी तरह पपीहा सतवहिनी को। बडे उमग के साथ वह इन्हे सेती है। यही नही, बच्चो का लालन-पालन भी करती है, अपने साथ घुमाती फिराती है फिर कुछ दिनो के बाद एक दिन देखती है कि जिन्हे उसने इतने प्यार से पाला-पोसा था, वे गायब है। वह इन्हें बाग-बगीचो में, झाडियो में, ढूढती फिरती है और वे किसी ऊचे दरख्त पर बैठे हुए "पी कहा" की रट लगाते रहते हैं!

पर उनकी निराशा का कोई ठिकाना न रहा जब वह बजाय इसके कि उसके सम्बन्ध में कुछ कहे, अपने ए. डी सी से पूछ बैठे—"कौन पक्षी है वे, अजीब से ?"

लाट साहब का ध्यान अपनी ओर आकर्षित करने वाली ये चिडिया सतबहिनी थी जिनके सम्बन्ध में लीनियस ने मृदुभाषिणी लिखकर अपने अज्ञान का परिचय दिया था ।

कौआ, कबूतर, मैना, गौरैया—ये वे पक्षी है जिनका अधिक काल मानव-निवास स्थल के अडोस-पडोस में ही बीतता है । सतबहिनी को हम ऐसे पक्षियो की श्रेणी में पाचवा स्थान दे सकते है । आपने देखा होगा आपके घर के इर्द-गिर्द, बाग-बगीचों में या कि झाडियो में, गृह-प्रागण में लगी हुई तुलसी के चारो ओर, मटमैले रग के कुछ पक्षी, झुड बाध कर फुदकते हुए छोटे-मोटे कीडो को पकड-पकड कर खाते रहते है और बीच-बीच में शोर भी मचाते है । सतबहिनी यही है जिनके और भी कई नाम है—सतभइया, चरखी, कचबचिया, छतरिया आदि । अक्सर आप देखेंगे कि इनकी सख्या सात है और इसीलिए लोग इन्हे सतभइया अथवा सतबहिनी कहते है । पर इसका मतलब यह कदापि नही कि इनमें सभी नर ही होते है या सभी मादा । इनमें नर और मादा दोनो ही होते है और इस दृष्टि से इन्हें सतभइया किंवा सतबहिनी कहना गलत प्रतीत होता है । ये प्रचलित नाम है और हम इन्हे इस लेख में सतबहिनी नाम से ही पुकारेंगे यद्यपि नाम कभी-कभी धोखे में डालने वाले भी होते ह ।

सतबहिनी प्रकृतित दल बाध कर रहने वाले पक्षी है । इनके सात-सात के झुड होते है । कभी-कभी कई झुड साथ-साथ ही चलते है और इस तरह इस सयुक्त दल की सख्या चौदह या उससे भी ज्यादा हो जाती है । कभी-कभी एक दल में सात से अधिक भी हो सकते है, और कम भी ।

ये अपने सारे काम-धधे साथ-साथ मिलकर करती है, अलग-अलग नही । यहा तक कि घोसले बनाना, अडा सेना, बच्चो को खिलाना आदि सभी काम मिलजुल कर ही करती है । एक अग्रेज लेखक का कहना है कि उन्होने एक बार छ सतबहिनियो को एक ही घोंसले में बारी-बारी से तीन बच्चो को दाना खिलाते पाया था ।

दु ख-सुख दोनो अवस्थाओ में ये एक दूसरे का साथ नही छोडती । यदि आप इनमें से कुछ को पिंजडे में डाल दें तो बाकी भी पिंजडे में घुसने की चेष्टा करने लगेंगी । शायद यह भी कवि के इस कथन की कायल है कि—

A prison with a friend preferred
To liberty without

—मित्र के सग कैद में रहना बाहर एकाकी रहने की अपेक्षा कही अच्छा है ।

इनकी उडने की ताकत कम होने के कारण अधिकतर ये पावो पर ही चलती है । सभी एक साथ चलेगी । यदि कोई एक साथी पिछड गया तो बाकी खडी होकर उसकी प्रतीक्षा करेगी और तभी आगे बढेंगी जब वह दल में आकर शामिल हो

जायगा । "कचवच" शब्द करती रहेंगी ताकि पिछडा साथी जान जाय कि बाकी कहा है । कौए की भाति ये भी खाद्य को पांव से पकड कर, नोच-नोच कर, खाती है ।

गिरोह बाधकर रहने में जो बल है वह अलग-अलग खिचडी पकाने में नही । इस देश के पक्षी कौए, कबूतर, तोते इत्यादि इस शाश्वत सत्य का मूल्य जानते हैं और इसपर अमल भी करते है, पर इस सत्य को जो सबसे अधिक पहचानती है, वह है सतवहिनी । यह सही है कि सतवहिनी जबतब आपस में खूब लडती है, पर खतरे के मौको पर ये एक-साथ हो जाती है तथा कौए और बाज-बहरी-शिकरे का जबर्दस्त मुकाबला करती है जिसके परिणामस्वरूप इन दुश्मनो को अत में मैदान छोड कर भाग खडा होना पडता है । यही है सघ-शक्ति ।

युद्धकाल में तो ये अद्‌भुत् एकता का परिचय देती ही है, शान्ति-काल में भी अनूठी पारस्परिक प्रीति का प्रदर्शन करती है । आप इन्हें बहुधा चोच से एक दूसरे का सिर खुजलाते अथवा पर की गदगी साफ करते देखेंगे । देखने में ये कुरूप होती हैं—मटमैला रग, आख, चोच, पर सफेद । पूछ बडी, पर ढीली-ढीली-सी । इनके बदन में कोई ऐसी वस्तु नही जो हमारी आखो को प्यारी लगे । पर हमें यह न भूलना चाहिए कि वास्तविक सौंदर्य गुण में है, तन में नही ।

इस देश में इनकी भी कई किस्में है जिनमें तीन मुख्य है—(१) साधारण, (२) जगली, (३) दक्षिणी । साधारण की दुम लम्बी होती है, तथा जगली का शरीर । दक्षिणी का रग मटमैला न होकर कत्थई होता है, गले, छाती और पेट पर सफेदी होती है । अधिकाशत यह जोडो में पायी जाती है, पर कभी भी चार से ज्यादा एक साथ नही । इन तीनो के स्वभाव में कोई खास फर्क नही है ।

उडने की ताकत कम होने के कारण यह घोसला ऊचे दरख्तो पर न बना कर झाडियो में अथवा वृक्षो की उन शाखाओ पर, जिनकी जमीन से ज्यादा ऊचाई नही होती, बनाती है । सभी ऋतुओ में अडे देती है । अडो की सख्या दो से चार तक होती है । रग बिल्कुल नीला । इन्ही अडो के साथ पपीहा चुपके से अपने अडे भी रख आता है । सयोगवश पपीहे के अडे भी गाढ़े नीले रग के ही होते है । जिस तरह कोयल कौए को छलती है, उसी तरह पपीहा सतवहिनी को । बडे उमग के साथ वह इन्हें सेती है । यही नही, बच्चो का लालन-पालन भी करती है, अपने साथ घुमाती फिराती है फिर कुछ दिनो के बाद एक दिन देखती है कि जिन्हे उसने इतने प्यार से पाला-पोसा था, वे गायब है । वह इन्हें बाग-बगीचो में, झाडियो में, ढूढती फिरती है और वे किसी ऊचे दरख्त पर बैठे हुए "पी कहा" की रट लगाते रहते हैं !

लाल मुनियां

पुराने जमाने में जिस तरह शौकीन-मिजाज लोग बुलबुल और बटेर पाला करते थे वैसे ही लाल मुनिया पालने का भी रिवाज था। बड़े-बड़े रईस और अमीर-उमरा इसे पालते थे और दूर-दूर तक उनके इस शौक की चर्चा होती थी। उत्तर बिहार में एक जगह है चैनपुर जो किसी जमाने में बड़े जमीदारो की बस्ती थी। यहा वालो को लाल मुनिया पालने का कुछ इतना ज्यादा शौक था कि एक कहावत सी बन गयी थी—

लाल मुनियां चैनपुर, पठ्ठा हसनपुरा।
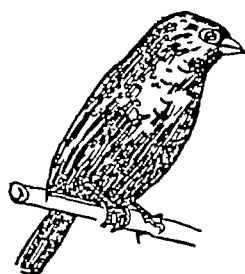
अर्थात लाल मुनिया देखनी हो तो चैनपुर में देखें, पट्ठा (दन्तैल हाथी) हसनपुरा (जमीदारो की एक दूसरी बस्ती जहा के हाथी मशहूर थे) में। अफसोस है कि बुलबुल और बटेर की भाति ही लाल मुनिया के कद्रदान भी अब इस देश से जाते रहे।

लाल मुनिया कभी एक-दो की सख्या में नही पाली जाती। पालने वाले एक ही पिंजडे में दर्जनो एक साथ पालतें हैं, और ये बडे आनन्द के साथ अपना बन्दीजीवन व्यतीत करती हैं—पिंजडे में ही दिनभर कूजती है, नाचती है, गाती है। इनके गाने का यह खास क्रम है कि एक गाकर चुप हुई, फिर दूसरी ने उस क्रम को आगे बढाया, फिर तीसरी ने, और इस तरह बारी-बारी से सभी गा उठती है। रात में सभी पिंजडे के छड पर कतार बाधकर बैठ जाती है और फिर इस बात के लिए झगडा शुरू हो जाता है कि बीच में कौन बैठे। छड के किनारो पर कोई बैठना नही चाहती है। सब का प्रयास बीच का स्थान ग्रहण करने का रहता है और इसके लिये इनके बीच रातभर धक्कम-धक्का चलता रहता है। कतार में ही ये सोती भी हैं।

कद में यह बडी छोटी, प्राय ४ इच की होती है। नर को लाल और मादा को मुनिया कहते है। इसका शरीर भूरापन लिये हुए लाल रग का होता है जिसपर छोटी-छोटी सफेद बुदिया बनी होती है। उम्र के साथ-साथ शरीर की लाली भी गहरी होती जाती है। नर के पैर मे पैर के पास से दुम तक का निचला हिस्सा काला होता है, दुम के सिरे और डैने भूरे होते है। मादा की ठुड्डी तथा गला सफेद होता है। इनकी चोच लाल तथा मोटी होती है।

पेडो पर रहना इन्हे पसन्द नही, अत अधिकतर ये झाडियो में, फूल के वृक्षों की डालो पर, नदी-तट के घासो पर रहती है और वही घोसले बनाती है जो गोलाकार होता है, गेंद की आकृति का, और उसके एक कोने में प्रवेश-द्वार बना रहता है। गौरैया की तरह ये बारहो मास घोसला बनाती तथा अडे देती रहती है।

एक प्रकार की मुनिया रग में हरी होती है, चोच लाल, और नीचे के पर पीले होते है, कुछ सफेद भी। कद में यह सबसे छोटी मुनिया है।
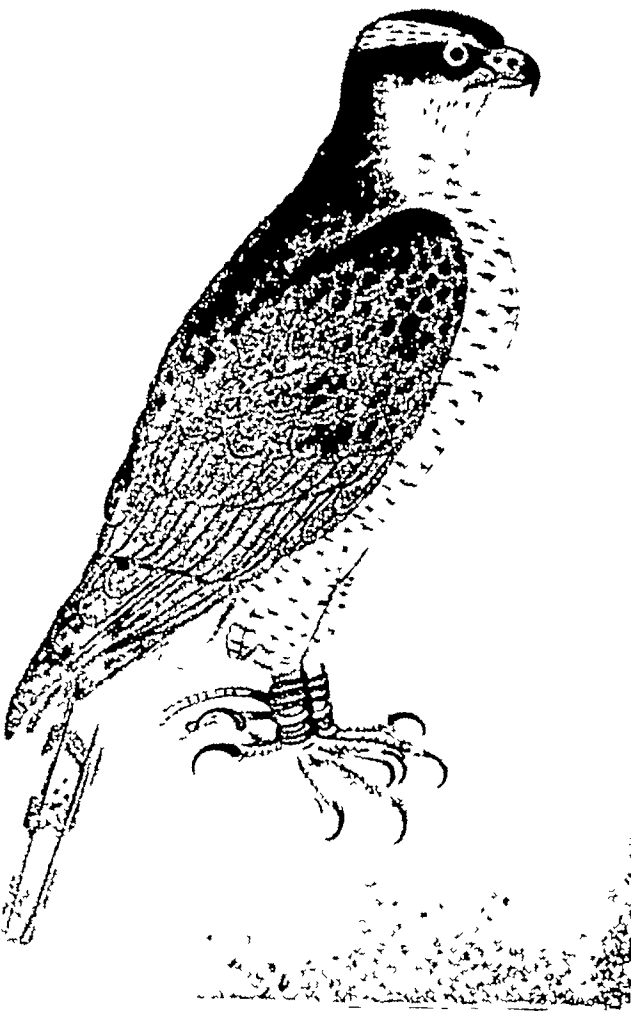
बाज
(एक प्राचीन चित्र)

चित्र सख्या ४५

पक्षीतीर्थम (तिरुकलु-कुन्दरम) में पवित्र चीलों को पुजारी आहार दे रहा ह

चित्र सख्या ४६

इसकी ही विरादरी का एक पक्षी "चर-चरा" भी है जिसका रग मटमैला है तथा जिसकी पीठ पर दुम के ऊपर कुछ सफेद धब्बे होते है । ये झुड में रहते है तथा कांटो की झुरमुट में घोसले बनाते है ।

"तेलिया मुनियाँ" भी इसी जाति की चिडिया है । यह कद में सबसे बडी—प्राय ५ इच को तथा रग में अत्यन्त सुन्दर होती है । ऊपर-नीचे के पर बादामी तथा सिर, ठोढी और गला कत्थई रग का होता है । बदन पर कुछ श्वेत बुदकियाँ भी होती है । यह अपना घोसला जमीन से कुछ ऊपर, गोलाकार, बनाती है ।

लाल मुनियो का कतार में बैठना जगद्विख्यात है । महात्मा सूरदास तक ने इसका उल्लेख किया है—

"मनु लाल मुनिन की पांति पिंजर दूरि चली" ।

गुलाबचश्म

कद में गौरैया से भी छोटी पर चुलबुलाहट में उससे बढ़ी-चढ़ी यह एक चिडिया है जो पालने वाले से इतना अधिक हिल-मिल जाती है कि पिंजडे के बाहर उसके सर और कन्धो पर चहकती रहती है, यहा तक कि उसके बालो में छोटे-छोटे कोडो की तलाश करने लगती है । गर्मी इसे ज्यादा पसन्द है और इसलिए पहाडो पर नही रहती । पिंजडे में यदि एक से ज्यादा हुई तो खैरियत नही—दिन रात युद्ध मचा रहेगा ।

इसके शरीर का ऊपरी हिस्सा गेहुए रग का और निचला सफेद होता है । चोच मजबूत, मुडी हुई, काले रग की तथा आख की भौहे पीली होती है ।

मई से सितम्बर के बीच यह झाडी में अथवा किसी छोटे वृक्ष पर कटोरे की आकृति का घोसला बनाकर अडे देती है ।

शायद पीले गुलाब के रग की आखें होने के कारण ही शरारत से भरी हुई इस चिडिया का नाम गुलाबचश्म पडा है । इसकी छेडखानिया मशहूर है । यह एक प्रकार से हमारे बाग-बगीचो की जान है ।

बबूना, पिद्दा, पतेना

इस पुस्तक में वस्तुतः उन पक्षियो का उल्लेख है जो इस देश में पूर्ण रूपेण विख्यात है । इनके अलावा भी ऐसे सैकडो पक्षी है जिनका अभी नामकरण नही हो सका है और जो यहा के जगलो, बाग-बगीचो में प्रक्षिप्त रूप में निवास करते हैं । वे हमारी आखो से ओझल रहते है, और यदि कभी हमारे दृष्टि-पथ पर आते भी है तो

हम उन्हें पहचानने में असमर्थ रहते हैं । ये ज्यादातर छोटे कद की चिड़िया है जो पत्तो की ओट में छिपी रहती है और उन्हें सयोग से ही हम देख पाते हैं । आप यदि ध्यानपूर्वक सुनेंगे तो बडे सवेरे अपने बाग-बगीचो में दर्जनो ऐसी चिड़िया चहकती हुई पायेंगे जिनके शब्द मात्र ही आप सुनेंगे, उन्हें देख न पायेंगे, क्योकि ये उन गायिकाओ में है जो चिलमन की ओट से गाती है । इनमें कुछ ऐसी भी है जिनका नामकरण हो चुका है ।
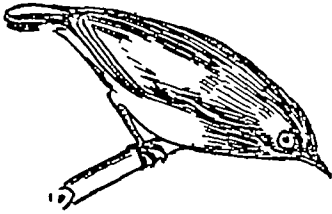
इनमें बबूना, पिद्दा, पतेना मुख्य है । बबूना चार इच की एक छोटी सी चिड़िया है जिसके बदन का ऊपरी हिस्सा धानी रग का अर्थात हरापन लिये हुए पीला, तथा डैने के छिपे हुए हिस्से और दुम गहरे भूरे रग की होती है, गला पीला, दुम का निचला हिस्सा पीला, पेट और सीना ऊदी होते है । आखो के चारो ओर सफेद छल्ला होता है, चोच टेढी और नुकीली काले रग की होती है। बबूने पेड से नीचे शायद ही उतरते हो, वही बैठे-बैठे कीडे तथा फल खाया करते है और जब दरिआए-दिल जोश पर आता है तो तान छेडते है, धीरे-धीरे गान आरम्भ करके उसे अन्तरा पर ला देते है। गरज यह कि ये खूब तेज और मीठे स्वर में गाते है। फरवरी और सितम्बर के बीच अडे देते हैं। घोसला घास-फूस से पेडो पर बनाते है। यह पीलक के घोसले से मिलता-जुलता-सा होता है। बबूने का रग भी बहुत कुछ पीलक पक्षी से मिलता है ।

पिद्दा भी एक छोटी-सी चिड़िया है जिसका कद पाच इच से ज्यादा नही होता। इसकी कई उपजातिया है । सारे देश में यह प्राप्य है। घने वन की अपेक्षा खुला मैदान इसे अधिक पसन्द है । नर पिद्दे का बदन काले रग का होता है, केवल कन्धो पर सफेद चकत्ते रहते है । सीने से दुम तक का नीचे का हिस्सा सफेद होता है । मादा भूरी होती है, इसके नीचे का हिस्सा कत्थई रग का होता है । चोच और पैर दोनो ही काले होते है ।

छोटे छोटे वृक्षो, सरपत आदि के सिरे पर आप इसे अक्सर बैठा हुआ देखेंगे । कीडे पकडने को यह नीचे भी उतरता है । हवा में उडने वाले पतिगो को यह फौरन अपने मुख का ग्रास बना डालता है ।

साधारणत पिद्दे की आवाज कर्ण-कटु होती है पर जोडा बाधने के समय इन में न जाने कहा से मिठास आ जाती है । मादा के सामने नर तरह-तरह के करिश्में दिखाता है, डैने फैलाता है, दुम ऊची कर के उडता है, उड-उड कर गाता है और अन्त में वशीकरण के उपायो के द्वारा मादा को अपने हाथो में कर लेता है।

मार्च और अगस्त के बीच पिद्दी किसी वृक्ष की टहनी अथवा जमीन पर की घनी घास में घोसला बना कर अडे देती है । इनकी सख्या ४-५ होती है ।

बबूने एव पिद्दे की अपेक्षा पतेना अधिक लम्बा पक्षी है, खासकर इसलिये कि इसकी दुम के बीच के दो पर प्राय दो इच लम्बे होते है । इस तरह इसकी लम्बाई बदन और दुम दोनो को मिलाकर करीब ९ इच की हो जाती है ।

देखने में नर और मादा दोनो सुनहले हरे रग के होते है, केवल चोच के नीचे

से गले के निचले हिस्से तक का भाग नीला होता है। आगे एक काली कंठी, आखों के पास एक काली लकीर, गर्दन का दोनो ओर तथा डैनें के नीचे का हिस्सा थोडा ऊपर का भी, सुनहला, दुम के बीच के दोनो लम्बे पर तथा चोंच काली, लम्बी और नुकीली—यही इसकी रूप-रेखा है। इसकी जाति का ही एक पक्षी है पतरिंगा जिसकी दुम नीली, गरदन पीली और सीना कत्थई रग का होता है।

पतेने अक्सर गोल बाधकर रहते है। नदी के कगारो में सूराख बनाकर मादा अप्रैल से जून के बीच अडे देती है। नर बाहर बैठा हुआ पहरा दिया करता है।

देखने में यह अतिशय सुन्दर होते है। जिस वक्त टेलीग्राफ के तारो पर भुजगे, किलकिले तथा मछमरनियों की भाति ये बैठे होते है, और इनके बदन पर सूर्य की किरणें पडती होती है, तो ये और भी सुन्दर लगते है।

मौसम के मुताबिक ये अपना स्थान-परिवर्तन करते रहते है। गर्मिया उत्तर भारत में बिताते है, शीतकाल दक्षिण में। इनकी कई उपजातिया है जो हिन्दुस्तान के बाहर अफ्रीका आदि तक फैली है। वहा से आकर ये यहा गर्मिया बिताती है। छोटे-छोटे पतिंगे इनके भी आहार है।

हिन्दी के विख्यात कवि राजा लक्ष्मणसिंह ने भौरे के प्रति कहा था:—

भ्रमर, तू मधु के चाखनहार !

पर ये मधु के नही, मधुमक्खी के चाखनहार है, उसे देखा नहीं कि इन्होंने उसे गले के नीचे उतारा !

गनीमत है कि पतेनो की सख्या कम है वर्ना हमारे लिये शहद का मिलना दुश्वार होता !

❀

स्वर्ग के पक्षी*

आज से सैकड़ो साल पहले की बात है, हालैंड के कुछ समुद्री नाविको ने एक टापू में बहुतेरे ऐसे पक्षी पाये जो देखने में अत्यन्त सुन्दर एव चित्ताकर्षक थे तथा अधिकतर आकाश में विचरते अथवा पेडो पर दिन बिताते थे—जमीन पर नही उतरते थे। नाविक घर लौटे तथा इस पक्षी के सम्बन्ध में उन्होने तरह-तरह की बाते बताई। उन्होंने बताया कि इनके न तो डैनें है न पाव ही, केवल अपने सुन्दर परो के सहारे ये आकाश में अथवा पेडो पर टँगे रहते है और स्वर्ग से झरती हुई ओस तथा फूलो के रस से ही अपनी प्यास बुझाते है।

---

*हिमालय के कई स्थानो में ये पक्षी मिलते है और इसलिए इस पुस्तक में इनकी चर्चा की गई है।

यूरोप के लोगो ने उनकी बातें बडे कौतूहल से सुनी । शीघ्र ही समस्त यूरोपीय देशो में ये 'स्वर्ग के पक्षी' के नाम से विख्यात हो गये । कवियो तथा चित्रकारो की कल्पना में इन्होने स्थान पाया, इन पर सैकडों पक्तियां लिखी गई, इनके चित्र अकित हुए तथा इनका यह सुन्दर सा नाम, 'स्वर्ग का पक्षी', अमर हो गया ।

पक्षी-विज्ञान के पडितो का ध्यान इस ओर आकर्षित हुआ और वे इस जाति के पक्षियो के अन्वेषण में लगे ।

न्यूगिनी के सुन्दर टापू में ये प्राप्त हुए । इनकी कई उपजातियाँ थी जिनमें कद में सबसे बडा वह था जिसे उन्होने "वृहद् मरकत पक्षी" के नाम से पुकारा। उनकी खोज के फलस्वरूप जो बाते ज्ञात हुई वे इस प्रकार है—

ये एक प्रकार के पक्षी है जो मुख्यत दो जातियो में बँटे हुए है—एक कद में बडे, दूसरे छोटे । दोनो के ही पर देखने में अत्यन्त सुन्दर है । गला और सर दोनो ही छोटे घने परो मे आवृत है मानो कोई गुलगुला गलीचा हो । ऊपर का हिस्सा चमकीला सूखी घास के रग का और नीचे का चमकदार पन्ने के रग का होता है । दोनो ओर, कन्धो के नीचे से दो घने सुनहले परो के बने हुए गुच्छे बाहर निकले होते है जिनकी लम्बाई प्राय दो फुट की होती है तथा जिन्हें वे स्वेच्छा से ऊपर उठाकर शरीर के अधिकाश हिस्से को ढक लिया करते है । ऊपर उठे हुए परो के ये गुच्छे अतिशय सुहावने लगते है ।

पूछ के बीच के दो पर बडे लम्बे, प्राय ३४ इच के, तार के से पतले होते हैं, किन्तु, ये सुन्दर पर, कन्धे के गुच्छे, पूछ के लम्बे पर, केवल नर के होते है, मादा के नही । इसका रग धुधला भूरा जैसा होता है । बच्चे भी शुरू में इसी रग के रहते है, पर बढने पर अपना अपना रग धारण कर लेते है नर नर का, मादा मादा का।

प्रजनन-काल के आते ही इस पक्षी के नर एक बडी सख्या में एक साथ किसी वृक्ष पर एकत्रित हो जाते है तथा मादाओ के सामने अपने सुन्दर परो का प्रदर्शन करते है । पाखो को लम्बा करके पीछे की ओर कर लेते है और सर को नीचे की ओर । पूछ के लम्बे परो को उठाकर ऐसे फैलाते है मानो खुले हुए सुनहले दो पखे हो जिनको जड पर गाढी लाल और आगे की ओर कत्थई सुन्दर धारिया चित्रित हो । इनका सारा बदन इन परो से आच्छादित हो जाता है । फिर ये एक प्रकार का नृत्य-सा करने लगते हैं। पीत मस्तक, हरा मरकत-सा गला, सुनहले पर, एक अद्‌भुत् दृश्य उपस्थित करते है ।

यही समय है जब इस टापू के आदिम निवासियो को इनके पकडने का मौका मिलता है । दरख्त के नीचे वे एक छोटी-सी झोपडी बना कर उसी में जा छिपते हैं और जब पक्षी कामातुर होकर नृत्यरत होता है तो नीचे-से इस पर बाण मारते हैं । पक्षी नीचे आ गिरता हैं, और इस तरह दर्जनो पक्षियो को वे अपने अधिकार में कर

लेते है । उस समय ये कुछ ऐसे बेसुध रहते है कि बहेलिये के इस छलछद को उन्हें जरा भी टोह नही मिलती, चोट खाकर जो नीचे गिरा उसे छोडकर बाकी बजाय इसके कि भडक कर उड खडे हो, नृत्य-रत ही रहते है और इस प्रकार अपने को निर्दयी बहेलियो के हाथो का शिकार बना डालते है ।

ये बहेलिये इन्हें क्यो मारते है ? उत्तर स्पष्ट है । इनके सुन्दर परो के लिए । इनके पाव और डैनो को वे अलग कर डालते है, मास निकाल फेंकते है और इनके शरीर को परो के गुच्छो और पूछ के साथ सुखा-सुखा कर वे बाजारो में बेचते है । इन टापुओ में रहने वाली शौकीन औरते इनके परो को सर के मुकट में बडे गर्व से धारण करती है ।

शायद पाव और डैनो से रहित इन मृत पक्षियो को देखकर ही डच यात्रियो को यह भ्रान्ति हुई थी कि इनके पर और डैने नही होते ।

न्यूगिनी तथा आसपास के विभिन्न द्वीपो में ये पक्षी पाये जाते है । जैसा कि पहले कहा गया है, इनकी कई उपजातियाँ है, कोई बडी, कोई छोटी । किसी की पूछ के पर जालेदार होते है, किसी के सीधे । रग में भी काफी फर्क है, पर इसमें सन्देह नहीं कि ये सभी देखने में अत्यन्त सुन्दर और चित्ताकर्षक है । छोटे-छोटे पतिगे इनका आहार है । जमीन पर बिछी ओस की बूदो को ये बडे चाव से पीते है ।

भारतवर्ष में भी हिमालय पर्वत के कई स्थानो में इस जाति के पक्षी देखे गये हैं पर इनकी सख्या बहुत कम है । हमारे यहा की एक दूसरी चिडिया है जो स्वर्ग के इस पक्षी से बहुत कुछ मिलती-जुलती सी है । वह है मछरिया जिसे मछमरनी (चित्र सख्या १६) भी हकते है । यह भी अपनी पूछ के परो को उठाकर पंखा जैसा बना लेती है और थिरकती है । रगबिरगी होती है और देखने में बडी सुन्दर लगती है । स्वभाव की चचल है, एक स्थान पर अधिक देर तक नही ठहरती । पेडो पर रहना इसे ज्यादा पसन्द है, जमीन पर बहुत कम उतरती है । पूर्वोक्त स्वर्ग के पक्षी से कई बातो में इसकी काफी समानता है ।

इसकी भी कई उपजातिया है । इस देश में पायी जाने वाली तीन मुख्य उपजातिया है—सब से श्रेष्ठ वह है जिसे दूधराज तथा शाह बुलबुल के नाम से पुकारते है । शकल इसकी बुलबुल की जरूर है, पर दरअसल बुलबुल की जाति से इसका कोई सम्बन्ध नही है ।

इसे स्वर्ग की मछमरनी कहते है । इसके सम्बन्ध में एक रोचक कहानी भी है ।

कहते है, यह पहले स्वर्ग में रहनेवाली एक चिडिया थी, देखने में बडी सुन्दर; बर्फ जैसा उजला रग था इसका, तथा इसकी पूछ के बारह पर बडे खूबसूरत रेशम के पतले फीते जैसे थे । इन्हें पाकर यह फूली न समाती थी । भगवान के सामने भी इसने ऐसा ही अभिमान-युक्त आचरण किया । पर भगवान नही चाहते थे कि कोई अपनी सुन्दरता पर अथवा धन-दौलत पर या कि पुत्र-कलत्र पर, बुद्धि पर, गर्व करे । किसी ने वैसा किया नही कि इन गुणो से वचित हुआ । व्रजागनाओ तक को, कृष्ण-प्रेमिका होते हुए भी, गर्विता होने के कारण दड सहना

पड़ा । फिर इस छोटी-सी चिडिया की क्या हस्ती कि वह गर्वीली वन कर इठलाती चले ! सो भगवान ने उसकी पूछ के सारे सुन्दर पर छीन लिये । तव उसकी आखें खुलीं और वह पश्चाताप से विह्वल हो उठी । उनके सामने जाकर वह रो पडी और बारम्बार क्षमा-याचना करने लगी । भगवान आखिर दयालु तो है ही उन्हें इस पक्षी पर दया आ गई। किन्तु वह बिल्कुल दडित न हो यह कैसे हो सकता था अतएव बारह की जगह उसे पुच्छ के बीचवाले दो सुन्दर पर वापस मिले ज आज उसका सौंदर्य-वर्द्धन करते है । किन्तु भगवान ने इसका चेहरा काला क छोडा ताकि अपने अनुचित आचरण की इसे हमेशा याद आती रहे ।

कभी जो स्वर्ग में पीयूष-पान किया करती थी, यहा उसे अब पतिंगो पर ह जिन्दगी बसर करनी पडी क्योकि स्वर्ग से निपतित होकर वह अव भूमितल क चिडिया बनी ।

पता नही न्यूगिनी और उसके अडोस-पडोस में रहने वाले पक्षी स्वर्ग से क और कैसे निष्कासित हुए ।

शाह बुलबुल, मछमरनी जाति के पक्षियो में सबसे श्रेष्ठ है, पर इसके अलाव भी इसकी कई और उपजातिया है । सबसे सुन्दर वह है जिसके पेट का निचल हिस्सा बिल्कुल पीला होता है । नेपाल, सिक्किम, असम में यह वहुतायत पायी जाती है ।

इन सभी जाति की मछमरनिया (नेपाल की नीलतव आदि भी) घने जगल में रहना अधिक पसन्द करती है तथा जाडो में पहाड से नीचे उतर आती है गर्मियो के दिन ये पहाडो पर बिताती है । पर कई ऐसी भी हैं जो तीन हजार फु से नीचे नही उतरती ।

पीले पेट वाली मछमरनी, जिसका ऊपर उल्लेख है, एक हजार फुट से नीं नही आती है । गढ़वाल के इलाको में यह १२,००० फुट तक की ऊचाई पर देखं गई है । मई-जून इसके अडे देने के महीने है ।

यह एक असाधारण तौर पर सजीव तथा प्रसन्नचित्त छोटी सी चिडिया जो निरन्तर उडती-फिरती रहती है । कभी हवा में उडती है, कभी ऊचे वृक्षो क ऊची टहनियो पर जा बैठती है, पखो को कँपाती है, दुम को फैला क उछालती है । वडे-वडे वृक्ष और सघन झाडिया—दोनो ही इसके क्रीडा-क्षे है । घना जगल तथा बहते हुए जल का किनारा इसे विशेषरूप से प्रिय हो हुए भी मैंने इसे कई वार नरपत की क्यारियो तथा वसवाडियो में कीडे ढूढ पाया है । यह क्षीण पर मोठे स्वर में गाती भी है ।"

नाक के ऊपर कुछ लम्वे-से वाल, इसकी खास पहचान है ।

शाह वुलवुल नामक पक्षी (चित्र सख्या २२) जो इस देश में वसन्त-काल के आते आते आ पहुचता है, अधिकाशत एविसिनिया, सूदान, ब्रिटिश पूर्व-अफ्रीका आदि देशो से आता है तथा जाडो के आते ही पुन इन्ही देशो को लौट जाता है । साथ ही, कुछ ऐसे भी है जो जाडो में भारतवर्ष के भीतर ही स्थान-परिवर्तन कर लेते है—उत्तर से दक्षिण भारत की ओर चले जाते है जहा सर्दी कम पड़ती है । पर अधिकाश एविसिनिय को लौट जाते है ।

शाह बुलबुल के, जिसकी ऊपर चर्चा की गई है, और भी कई नाम हैं, जैसे हुसैनी बुलबुल, सुल्ताना बुलबुल, दूधराज इत्यादि । डीलडौल में, आकार-प्रकार में, यद्यपि यह बुलबुल से मिलता है, पर दरअसल यह उस जाति का पक्षी नही है । स्वभाव, खानपान आदि सारी बातो में इसका सादृश्य मछमरनी से है, बुलबुल से नही । देखने में यह एक बडा ही चित्ताकर्षक, रूपवान और शोभन पक्षी है । इसके भी सर पर एक तुर्रा होता है । शैशव-काल में इसके बदन का रग बादामी, चोटी का ऊपर से काला, नीचे सफेद होता है । पर द्वितीय वर्ष के आते आते नर की आकृति में फर्क आ जाता है । दुम के बीचोबीच के दो पर सत्रह इच लम्बे हो जाते है, शरीर से दूने । तीसरे वर्ष में वर्ण-परिवर्तन होता है, अर्थात् इसके बादामी पर सफेद हो जाते है । किन्तु सर और चोटी काली ही बनी रहती है । मादा के रग में परिवर्तन नही होता ।

शाह बुलबुल की खूबसूरती का सबसे बडा कारण उसकी लम्बी पूछ है । जब वह इसे फडफडाती हुई चलती है या उडती है तो ऐसा लगता है मानो वह विलायत के राजघराने की किसी विशिष्ट महिला की गाउन हो ।

इसमें चुलबुलाहट भी राज-महिषियो की-सी ही है । हमेशा खुश, स्फूर्तिपूर्ण, रह-रह कर गाना, यह इसके खास गुण है । पाव कमजोर होते है, अतएव ये उड-उड कर ही कीडे-पतिंगे पकड कर उन्हे अपना आहार बनाती है ।

जो यहा रह जाती है वे कटोरे के आकार के घोसले बना कर मई-जून-जुलाई में अडे देती है जिनकी सख्या तीन-चार होती है तथा रग गुलाबी होता है ।

दूसरी किस्म की मछमरनी, जो इस देश में बहुतायत से पायी जाती है, काली मछमरनी है जिसके ऊपर का रग बादामी या काला होता है, नीचे का सफेद । गले के ऊपर कुछ चित्तिया होती है, ललाट पर सफेदी तथा आख के ऊपर से गर्दन तक सफेद धारी होती है । डैनो के कुछ पर और पूछ का सिरा भी सफेद होते है ।

एक तीसरी जाति की मछमरनी भी जहा-तहा देखने में आती है जिसका सर और वक्षस्थल भूरे रग के होते है, बाकी शरीर, हरा मिश्रित पीले रग का होता है । पूछ का रग बादामी । यह कद में गौरैये जैसी होती है । और मछमरनियो की तरह यह अपनी दुम नही फैलाती । इसे गर्द-फुदकी भी कहते है ।

उपर्युक्त तीन किस्मो के अलावा भी मछमरनी की कई और उपजातिया इस देश में प्राप्य है । श्री फ्लेचर के कथनानुसार ये प्राय अस्सी है, पर इस देश में बहुतायत से पायी जानेवाली मछमरनिया इतनी ही है । हा, एक और किस्म है जिसे नीलतवा के नाम से पुकारते है और जो पहाडो से कभी नीचे नही उतरती, गर्मियो में ८,००० फुट तक की ऊचाई पर निवास करती है । जाडो में कभी-कभी पहाडो की जड तक आ जाती है । रग इसका खूब चमकीला होता है—ऊपर खूब गहरे रग का नीला, नीचे का हिस्सा, कपोल, सर के बगल के हिस्से तथा गला चमकदार काला । चीड के दरख्तो पर बहुधा आप इन्हे थिरकते, नाचते-गाते पायेंगे ।

मछमरनियो में पेट के रग की भिन्नता बहुत है, किसी का लाल, किसी का नीला, किसी का श्वेत, किसी का बादामी । स्वभाव सबो का एक जैसा होता है ।

पहली किस्म की मछमरनी को छोडकर शेष यहां की बारह्-मासी चिडियाँ हैं पर नजर तभी आती है जब वर्षा आने को होती है। दरअसल इनमें से यदि एक भी आपके बाग-बगीचो में नजर आए तो समझ लीजिए कि वर्षा-काल अब दूर नही है। १९५६ में बगाल, बिहार में बरसात और वर्षों की अपेक्षा पहले शुरू हो गयी और इसीलिये मछमरनी भी मई के समाप्त होते-न-होते कलकत्ते के समीपस्थ एक उद्यान में आ पहुची। इसकी सूचना एक सज्जन ने एक समाचारपत्र को लिख भेजी और तब दूसरे अखबारो ने यह समाचार बडे चाव से छापा कि कलकत्ते के समीप एक बाग में मछमरनी नजर आई है। इसके बाद कई और पत्र भी छपे जिनमें इसके अन्य स्थानो पर देखे जाने की सूचना थी। गर्मी से पीडित जनो के हृदय में तब एक भरोसा पैदा हुआ कि अब बरसात शुरू ही होने वाली है।

वर्षा का आरभ होते ही मछमरनी की बाछें खिल उठती है। बडे जोशो-खरोश के साथ यह वसन्त की बुलबुलो की तरह डाल-डाल पर अपनी पूछ उठा-उठा कर फुदकती है और गाती भी है। स्वभाव से चचल होने के कारण कभी एक स्थान पर अधिक काल तक नही ठहरती, कभी यहा चहकती है, कभी वहा।

सरिता के तट कभी, कभी बागों के भीतर,
कभी आम के कुज, कभी महुए के तरु पर।

स्टुअर्ट बेकर ने भारत में पाई जाने वाली स्वर्ग को मछमरनी की तारीफ में लिखा है—

"भारत में सुन्दर, लम्बी पूछ वाली, श्वेत, स्वर्ग की नर मछमरनी को आम्र कुजो की हरियाली और छाया में आगे-पीछे उडते-फुदकते देखकर जिस सुन्दरता के दर्शन होते हैं वह अद्वितीय है।"

श्री बेकर ने जिस पक्षी की प्रशसा इन सजीव शब्दो में की है उसका रूप आज न जानें और कितने गुणा अधिक चित्ताकर्षक होता यदि वह अहकार के चगल में न पडी होती।

पीलक

"शीतकाल के पक्षी"—शीर्षक अध्याय में उन पक्षियो की चर्चा है जो जाडे के शुरू होते-होते, या उसके कुछ पहले शरदकाल में ही, यहा उत्तर से आ पहुँचते हैं और वसन्त के आते ही पुन: अपने वतन को—पहाडो को लौट जाते हैं। पर कुछ ऐसे पक्षी भी है जो अधिक ठडक नही बर्दाश्त कर सकते, अतएव जाडो के पहले ही हमारे यहा से दक्षिण की ओर
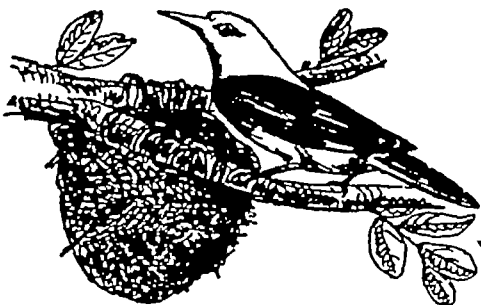
नीड-निर्माण करता है। नर और मादा दोनो मिलकर घोसला बनाते है। अधिकतर यह अपना घोसला उसी वृक्ष पर या उसके आस-पास बनाता है जहा भुजगे का घोसला होता है। कारण यह है, जैसा कि भुजगे के प्रकरण में कहा गया है, कि वह अपने लिए ही नही बल्कि अपने पडोसियो के लिए भी कोतवाल का काम करता है, कौओ जैसे चोर-डाकुओ को पास नही फटकने देता और यदि कभी वे आ भी पहुँचते है तो उन्हें ऐसी चोट देता है कि वे फिर आने का साहस नही करते, कान ऐंठ कर जाते है कि कभी भूल से भी फिर यहा आने का नाम न लेगे। मलयद्वीप-पुज में बादामी रग के पीलक भी पाये जाते है, पर भारतवर्ष के किसी हिस्से में नही।

पीलक तथा भुजगे का घनिष्ठ सम्बन्ध है। जहा दो-चार भुजगे वृक्ष पर शोर मचाते हुए नजर आये, ग़ौर से ढूढने पर दो-एक पीलक भी वहा अवश्य ही मिलेगे। कहा भी है—

रहते तरु पर संग,
पीलक और भुजंग।

●

हुदहुद

हुदहुदे रहबर चुनीं गुफ्तां जमां
कां के शुद आशिक नय देशद जे जां।

—तब पथ-प्रदर्शक हुदहुद ने कहा कि सच्चे प्रेमी अपनी प्राणो की चिन्ता से रहित होते है।

ग्रीष्मकाल का दिन था, बडे कडाके की गर्मी पड रही थी। ऐसा प्रतीत होता था कि सूर्य की किरणें पृथ्वी और आकाश दोनो को जला कर, भस्मीभूत कर के ही दम लेगी। लोग छाह ढूढते फिरते थे, पर जिनके ऊपर शासन की जिम्मेदारी है उन्हें चैन कहा! बादशाह सुलेमान किसी आवश्यक कार्य से अपने उडन खटोले* पर बैठे हुए आकाश मार्ग से कही जा रहे थे। सूर्य के ताप से बेचैन हो रहे थे, सर पर कोई साया न था, इतने में कुछ गीध नजर आये। उन्होने उन गीधो से कहा—"मैं धूप से जल रहा हू। जरा अपने पखो से सर पर साया कर दो और साथ-साथ चलो।" उन्होने बादशाह के इस अनुरोध पर कोई ध्यान न दिया, टाल-मटोल कर चलते बने। पर सुलेमान केवल बादशाह ही न थे, पैग़म्बर भी थे। उन्होने शाप दिया, 'आज से तुम्हारी गर्दन परो से खाली रहेगे तथा धूप की गर्मी तुम्हे सताया करेगी। यही नही,

---

*चकवस्त ने स्वर्गीय लाला लाजपतराय की गिरफ्तारी के समय लिखा था—

बन गई सरकार इन्दर के अखाड़े की परी,
ले उड़ी मोटर उन्हें तख्ते सुलेमा की तरह।

अतिम पक्ति में इसी तख्त की ओर इशारा है। कहते है, बादशाह के इस उडन-खटोला रूपी तख्त का यह गुण था कि उस पर बैठ कर वह जहां चाहें आ-जा सकते थे।

जन-समाज तुम्हें घृणा की दृष्टि से देखा करेगा।' यही हुआ और गृद्ध समाज आज-तक इस अभिशाप को भुगत रहा है।

सुलेमान आगे बढे। इतने में हुदहुदो का सरदार नजर आया। उससे भी उन्होने वही बात कही जो गीधो से कही थी। सरदार समझदार पक्षी था, फौरन बादशाह की मदद में अपनी बिरादरी के कुछ और पक्षियों को बुलाकर लग गया। सुलेमान की शेष यात्रा हुदहुदो के परो की छाया में बडे आराम से कटी। स्वभावत इस पक्षी-विशेष पर वह अतीव प्रसन्न हुए और बोले "सरदार! वर मागो।"

पर हुदहुद सरदार की समझ में यह न आया कि वह क्या मागे, अतएव उसने सरदारनी से जाकर सलाह-मशविरा किया। औरते मागने में तेज होती ही हैं, बुद्धि भी तीव्र होती है, सो सरदारनी ने सुनते ही कहा, "प्राणनाथ! इस मौके को हाथ से न जाने दें, बादशाह से फौरन जाकर कहे कि हमारे सरो पर आज से सोने का ताज हुआ करे।"

सारे परिवार को यह बात पसद आयी, और उत्साहित होकर सरदारे-हुदहुद बादशाह सुलेमान के पास पहुचा और सोने का ताज मागा। सुलेमान को उसकी मूर्खता पर हसी आ गयी। वे बोले, "सरदार, इसका परिणाम क्या होगा, इस पर सोच-विचार कर लिया है?" सरदार ने कहा, "जहापनाह! काफी सलाह-मशविरा करके मैंने यह माग पेश की है।" सुलेमान वचनबद्ध थे, कह दिया कि आज से हुदहुदों के सर पर सोने का ताज हुआ करे।

हुदहुदो ने देखा—सर पर एक सुन्दर सोने की कलँगी निकल आयी है। बस उस दिन से वे गर्व-भरे मस्तक के साथ पृथ्वी तल पर विचरने तथा अन्य पक्षियो को नीची निगाह से देखने लगे।

बादशाह सुलेमान जिस भवितव्य को सोच कर हँस रहे थे, वह सत्य प्रमाणित हुआ। मानव-समाज को जब यह मालूम हुआ कि हुदहुदो के सर का ताज सोने का है तो वे उनके पीछे पड गये और कुछ ही दिनो में अगणित हुदहुद उनके तीरो के शिकार बन गए। वश-सहार की नौबत आ गई। दु ख और क्षोभ से आपन्न हुदहुदो का सरदार पुन सुलेमान के पास उपस्थित हुआ और बोला, "सरकार! इस सोने के चलते तो अब ऐसा प्रतीत होता है कि हमारा वश ही नष्ट हो जायगा, कुछ दिनो में सिवाय हमारी स्मृति के कुछ भी शेष न रहेगा—

कहेंगे सबेई नैन नीर भरि-भरि पाछे,
हुदहुद की शेष बस कहानी रहि जायगी।"

सुलेमान ने कहा, "तभी तो मैंने तुझे चेतावनी दी थी। खैर, जाओ आज से तुम्हारा यह ताज सोने का नही, सुन्दर परो का होगा।"

तब से हुदहुद के सर पर परो का ताज शोभा पा रहा है (चित्र सख्या ३८) और तभी से उनके पैगम्बर सुलेमान द्वारा सम्मानित यह पक्षी यहूदियो की दृष्टि में पवित्र भी माना जाने लगा है। यही नही, यूनान, रोम, आदि प्राचीन देशो के साहित्य में भी इसने स्थान पाया है।

एक प्राचीन कथा के अनुसार, क्रीट के राजा जेरियस को दडरूप में, हुदहुद

बनना पडा था । बाइबिल में भी इसका जहां-तहां जिक्र आया है । मिस्र आदि देशो के चिकित्सा-ग्रन्थों में इसके शरीर के विभिन्न हिस्सो का विभिन्न रोगो के लिए प्रयोग बताया गया है, खास कर स्मरणशक्ति बढ़ाने तथा चक्षुरोगो के लिए ।

अंग्रेजी के प्रसिद्ध उपन्यासकार चार्ल्स किंग्सले ने अपनी पुस्तक 'वेस्टवर्ड हो'* में इसे स्थान देकर इसकी प्रसिद्धि बढायी है ।

प्राचीन यूनान तथा क्रीट के भीति-चित्रो में भी हुदहुद ने विशिष्ट स्थान पाया है।

गरज यह कि हुदहुद ससार के प्रसिद्ध पक्षियो में है । और इसमें शक नही कि यह देखने में अत्यन्त सुन्दर एव प्रभावशाली भी है । नर और मादा, दोनो के सर पर कलंगी होती है जो इनका सौंदर्य बढाती है । शरीर की पोशाक भी काफी भड़कीली होती है। देखने से ही प्रतीत होता है कि यह किसी ऊचे कुल का पक्षी है । इसके सारे बदन का रग एक जैसा नही होता । पर काले-काले होते है, जिन पर मोटी सफेद धारिया बनी होती है । गर्दन का अगला हिस्सा बादामी रग का होता है। चोटी भी बादामी होती है, पर उसके सिरे काले और सफेद होते है। दुम का भीतरी हिस्सा सफेद और बाहरी काले रग का होता है। चोच पतली, लम्बी तथा तीखी होती है जिसके द्वारा

---

*विलायत में बहुत दिनों से यह धारणा थी कि समुद्र के किसी टापू में अपरिमित धन, सोना-चादी गडा पडा है । इसकी खोज में प्राचीनकाल में, कई साहसी, धुन के पक्के लोगों के दल जहाज ले-लेकर, घर छोडकर निकल पडे थे और उन्होंने मार्ग में घोर सकट का सामना किया था : बहुतों ने सकट में पड़कर अपने प्राण तक गवा दिये थे । ऐसे ही एक साहसी व्यक्ति कैप्टेन आक्सेनहम की चर्चा इस पुस्तक में है । वह इस प्रकार है :

शाम का समय है । आक्सेनहम अपने एक मित्र के घर आता है और गडे हुए धन का तथा उसके अनुसन्धान में अपनी भावी यात्रा का जिक्र करता है । अचानक उसकी दृष्टि एक पक्षी पर पडती है और वह चाय के प्याले को मेज पर पटक देता है और कापता हुआ उद्विग्न चित्त से, कमरे में टहलने लगता है, और कहता है—वहा, वहा, देखते हो, पक्षी, वह पक्षी, सफेद पेटवाला !

उसका मित्र उसकी इस बात को बहला देता है। कहता है, छोड़ो इन नासमझी की बातों को, आदि आदि ।

आक्सेनहम होश में आता है, पुन इसकी चर्चा नहीं करता और चाय-पान कर चल देता है।

उसके चले जाने के बाद मिसेज ली ग्रेनभेले से कहती है—भगवान उसकी रक्षा करे !

ग्रेनभेले कहता है—मैडम, मैं इन शकुनों में विश्वास नहीं रखता। मिसेज ली कहती है—पर, सर रिचार्ड, उसके परिवार में भावी मृत्यु के पहले आज कई पुश्त से लोग इस पक्षी को देखते आये है । साउथ राटन में इस वश के जो व्यक्ति रहते थे उनकी मा की मृत्यु के पहले यह नजर आया था और उनके भाई की मृत्यु के पहले भी ।

कैप्टन आक्सेनहम अपने सकल्प पर दृढ़ रहता है, जहाज ले कर धन की खोज में निकलता है और यात्रा में अपने प्राण गवा बैठता है।

यह आसानी से जमीन के भीतर छिपे हुए कीडे-मकोडों को ढूढ निकालता है । इसे फल-फूलो से शौक नहीं, कीडे मकोडो से ही यह अपनी उदर-पूर्ति करता है, और उनकी तलाश में यह गाव के आसपास के बाग-बगीचो तथा खडहरो में घूमता हुआ चोच से गिरे हुए पत्तो को हटा-हटा कर इन्हें ढूढता फिरता है । मिट्टी तक खोद डालता है । पर आतमरक्षा के लिए पूरी तरह सतर्क भी रहता है । जरा-सी आवाज हुई और वह उडकर डाल पर जा बैठता है । ऐसे तो लगता है कि वह उडने में सुस्त-सा है, पर मौका आने पर इस तेजी से भागता है कि वाज या शिकरे के भी छक्के छुडा देता है ।

साधारणत· यह अपनी चोटी को समेटे रहता है पर जैसे ही किसी ने इसे भडकाया, किसी तरह की आवाज हुई और यह सशक हो उठा। तब यह परो को फैला डालता है और उस वक्त इसकी कलँगी की रूपरेखा हूवहू किसी सुन्दर पखी जैसी हो जाती है। उडता हुआ हुदहुद एक बडी तितली जैसा लगता है, चित्रित, सुन्दर ।

हुदहुद की भी कई उपजातिया हैं और कई उपनाम भी । इसकी दो उपजातिया उल्लेखनीय हैं । एक वह जिसे हम विलायती हुदहुद कह सकते है जिसे प्राचीन रोम में उपुपा तथा यूनान में इपौपस के नाम से पुकारते थे। यूरोप के तमाम देशो में यह पाया जाता है । भारतवर्ष के भी हिमप्रदेशो में मिलता है । जाडो में बगाल और बिहार के भी कई हिस्सो में यह देखा गया है। इसकी लम्बाई प्राय एक फुट होती है, पेट सफेद होता है ।

दूसरी उपजाति वह है जो भारतीय हुदहुद के नाम से विख्यात है । रग इसका भी बहुत कुछ विलायती हुदहुद जैसा ही होता है । फर्क इतना है कि जहा विलायती हुदहुद का रग चमडे का सा होता है, इसका दालचीनी का सा । सफेद धारिया कम होती है, पाखें छोटी, पर चोच विलायती हुदहुद की अपेक्षा अधिक लम्बी होती हैं । पश्चिमी पाकिस्तान को छोडकर भारत तथा पाकिस्तान के बाकी सभी हिस्सो में यह पाया जाता है, पूर्व में हैनान तक में। फरवरी से लेकर मई तक इसका अडे देने का समय है । प्रकृति दोनो की एक जैसी ही होती है ।

हुदहुद के कई उपनाम हैं। कीडो की खोज में घास और दूब खोजने के कारण इसे "दुबया" कहते हैं, सुन्दर पोशाक तथा सर पर की कलँगी, तुर्रा के कारण मुसलमान इसे "शाह सुलेमान" कह कर पुकारते हैं ।

मनुष्य की तरह पक्षियो को भी नहाने का बडा शौक है। कुछ तो चोच से अपने परो पर पानी छिडक-छिडक कर नहाते है, कुछ धूल से । हुदहुद धूल से नहाने वाले पक्षियो में हैं। पर धूल में नहाकर भी यह अपनी गन्दगी के लिए ही मशहूर ह। फ्रेन्च भाषा की एक लोकोक्ति है—"हुदहुद-सा गन्दा" और इसमें शक नही कि यदि आप किसी हुदहुद के पास जाय तो दुर्गन्धि से घबडा उठेंगे। कारण यह है कि इसे न तो घोसला बनाने की तमीज है, न उसे साफ रखने की। इसका घोसला बिल्कुल ही बेढगा बना होता है और जहा अन्य पक्षी प्रतिदिन घोसले को अपनी चोच से साफ कर लिया करते हैं, यह सारे गन्दे पदार्थ ज्यो-के त्यो छोडे रहता है । यही नही, मादा जो कि तीन से दस तक अडे देती है, अडो पर से तब तक नही हटती जब तक कि उन्हे फोडकर बच्चे बाहर नही

निकल आते। यह दिन-रात वही बैठी रहती है, नर बाहर से भोजन ला-ला कर उसे खिला जाता है। साल में वह दो बार अडे देती है। बोलते समय यह तीन बा 'उक-उक-उक' सा कुछ कहता है, जिसे विलायत के लोग हुप-हुप-हुप समझते हैं। इ ध्वनि के कारण अग्रेजी में इसका नाम हूपू पडा, फारसी में हुदहुद।

इस देश की नागर भाषा में यह अपने फारसी नाम से ही प्रसिद्ध है, पर ग्रामी भाषा में कही-कही इसे "हजामिन" चिडिया भी कहते है, शायद इसलिये कि इसक चोच नाखून काटने वाली "नहरनी" नामक औजार से मिलती-जुलती है। इस देश वे लोक-साहित्य में भी इसका जहा-तहा उल्लेख आता है। पश्चिमीय मिथिला के भाटं में प्रचलित एक लोक-गीत की एक पक्ति मशहूर है—

चैत मास बन मोजरन लागे,
हुदहुद को ब्याह रचा है,
साहब बन दूल्हा बैठा है।

इसी प्रकार अन्य प्रदेशो के लोक-साहित्य में भी इसने स्थान पाया है।

●

मुटरी या महलाठ

यदि गुलाबचश्च अपनी शरारतो और छेडखानियो के लिये प्रसिद्ध है तो मुटरी जिसके महलाठ, कोकैया, महताब, टाकाचोर आदि और भी कई नाम हैं—अपनी चौर प्रवृत्ति के लिए। यदि आपको चोरी की विद्या सीखनी हो तो मुटरी से सीखें।

यह कद में प्राय डेढ फुट लम्बी चिडिया है, जिसकी लम्बाई का एक फुट तो केवल दुम में चला जाता है। नर और मादा की शक्ल-सूरत में कोई भेद नही है। धूमिल काले रग का इसका सिर, गर्दन और सीना है, शरीर के बाकी हिस्से कत्थई रग के है। दुम और डैने कुछ स्याही लिए हुए सफेद होते हैं। पू छ के बीच के दो पर सबसे वडे और दोनो किनारो के सबसे छोटे होते हैं। शायद काली करतूतो के कारण ही इसकी चोच विल्कुल काली होती है। इसकी कई किस्में भारतवर्ष के विभिन्न प्रदेशो मे पाई जाती जाती है।
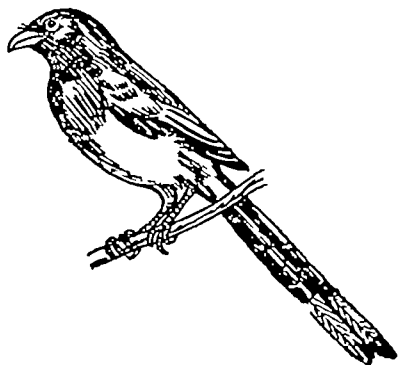
यह सर्वभक्षी है। नाज के दाने तथा फल से लेकर कीडे मकोडे, साप-छछूदर तक यह हजम कर जाता है। मानो इसकी ब्रह्मबुद्धि हो। इसके लिये सभी समान हैं, शुद्धाशुद्ध के विचार तो उनके लिये है, जो "सर्व खल्विद ब्रह्म" के तत्व तक नही पहुच पाये है।

अन्य पक्षियो के अडे चुराने में इसे कामयावी हासिल है । न जाने कितनी फाखताओ के अडे चुरा-चुराकर इसने हजम कर लिये होगे ! निस्सन्देह कौए भी इसके चौर-चातुर्य्य की वरावरी नही कर सकते ।

चोर तो यह है ही, पर सीनाजोर भी है । जव उत्तेजित होता है तो जोर-जोर से वोलने लगता है, "कोक-ली"-"कोक-ली" की धुन लगा डालता है तथा सीना तान कर लडने के लिये तैयार हो जाता है ।

साधारणत· फरवरी से जुलाई के बीच यह अपना वेढगा-सा घोसला आम अथवा इसी प्रकार के किसी वडे वृक्ष पर वनाता है । पडोसी इसे वर्दाश्त नही । यदि उसी वृक्ष पर कोई दूसरा पक्षी घोसला वनाने आये तो फौरन विगड खडा होता है और उसे ऐसी धता वताता है कि वह कान ऐंठ लेता है कि हम फिर कभी इस दरख्त पर न आयेंगे ।

इसके अडे पर तरह-तरह के रग होते हैं—कही लाल, कही गुलावी, कही सफेद, कही पीला, कही हरा, कही वादामी, कही वैंगनी । शायद ही कोई रग हो जिसकी छटा इस पर न हो । कहते है, इसके अडे का रग आवोहवा के मुताविक वदलता रहता है, अर्थात् वगाल में एक रग, सिन्ध में दूसरा, दक्षिण में तीसरा । पता नही इसमें कहा तक तथ्य है, और यह सम्भव नही कि इस विगडे-दिल से जाकर कोई इसके सम्वन्ध में जानकारी हासिल करने की चेष्टा करे, तुरन्त "कोक-ली"-"कोक-ली" कह कर लड पडेगा । फिर तो आपकी जान आफत में आ जायगी ।

इसके वच्चे भी मा-वाप की ही तरह शोर मचाने वाले होते है और शायद इनके पेट में वडवानल का कोई टुकडा है कि ये हर समय खाने के लिए हुडदग मचाये रहते है । मा-वाप कीडे-मकोडे ला-लाकर इनके पेट की ज्वाला शान्त करते है । वडे होकर भी ये वहुत दिनो तक मा-वाप के पीछे-पीछे घूमा करते है, पर अन्त में प्रकृति-नियमानुसार इन्हें अपने पावो पर खडा होना ही पडता है ।

●

किलकिला

नदी अथवा ताल-तलैयो के किनारे रहने वाले पक्षियों में किलकिला एक विशिष्ट पक्षी है। इसे अग्रेजी में "किंगफिशर" कहते है । इसकी कई उपजातियां है । लम्वी चोच, छोटे पैर वाले किसी पक्षी को यदि आप जल के किनारे के किसी वृक्ष की डाल पर वैठा हुआ देखें तो समझ ले कि यही वह पक्षी-धीवर किल-किला है, जो मछली की ताक में वैठा हुआ इस मौके का इतजार कर रहा है कि कोई छोटी-सी मछली नजर आए और यह चील की तरह झपट्टा मार कर उसे पकड ले । इसके शरीर का अधिकतर भाग कत्थई रग का होता है, केवल ऊपर का हिस्सा नीला तथा इसके डैने के सिरे काले रग के होते है । चोच और पाव धूमिल लाल रग के होते है ।

इसकी एक छोटी जाति भी है, जिसका स्वभाव विल्कुल इसके जैसा होता है,
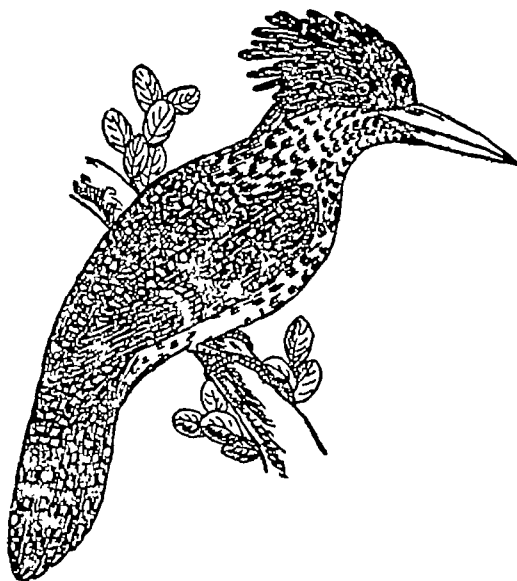
पर रंग में थोडा फर्क होता है। इसके सर पर काली-नीली धारिया होती है। पूछ, पीठ और डैने नीले होते है, निचला हिस्सा लाल, चोच काली, गाल श्वेत तथा पैर बिल्कुल लाल होते हैं।

बडे किलकिले मार्च से जुलाई तक और छोटे जनवरी से जून तक घोसले बनाते है। नदी के किनारे कगारो में ये घोसला बनाते है। इनके घोसलो में पहले तो एक सुरग होती है, फिर एक घर, जहा मछलियो के अस्थिपिंजर बिखरे रहते हैं। आखिर मछुए का घर जो ठहरा!

किलकिला की बिरादरी का ही पक्षी है कौडियाला, जिसका कद मैना-जैसा होता है तथा जिसके मछली पकडने के ढग में भिन्नता है। वह किसी दरख्त की शाख पर बैठ कर मछली की प्रतीक्षा नही करता बल्कि निरन्तर जल के ऊपर उडता रहता है। मछली को देखते ही अपने पख बद कर धडाम से गिर पडता है तथा पलक मारते चोंच से उसे दबाये किलकिल शब्द के साथ उडता हुआ नजर आता है। इसका निशाना शायद ही कभी गलत पडता हो। फिर किसी वृक्ष पर जा कर उसको खाने में जुट जाता है।

चोच इसकी खूब लम्बी तथा नुकीली होती है, पर पाव अत्यन्त छोटे होते है। रग दोनो का ही काला होता है। इसके सारे वदन में सफेद और काली धारिया रहती है, नीचे का हिस्सा सफेद होता है और सीने पर काली पट्टिया होती है।

कौडिल्ली इसी जाति का एक दूसरा पक्षी है, जिसका कद छ सात इच होता है तथा रग कौडिल्ले या कौडियाला से भिन्न होता है। इसका ऊपरी हिस्सा नीला, गर्दन सफेद तथा नीचे का हिस्सा बादामी रहता है। गालो पर तथा दुम के बगल में कत्थई की झलक रहती है, चोच काली, पैर लाल होते है।

इसके अडा देने का समय मार्च से जून तक है। इनकी सख्या ५ से ६ तक होती है।

ये सभी मछली पकडने में अत्यन्त तेज है। तभी तो कविवर रसनिधि ने कहा है—

मेरे कान सुजान तुव, नैन-किलकिला आइ,
हृदय-सिन्धु ते मीन-मन, तुरत पकरि लै जाइ!

सकल स्रिस्ट करता रची प्रम महंमव काज ।
तीन लौक को जान कहि दीनों ताको राज ॥
वाज जुरा बहरी कुही सब कौ एक विचार ।
औषद समझाऊ भलै सुनि-सुनि लेहु षिलार ॥
जे ओषद कहि-कहि गये पहिले मीर-सिकार ।
ते इनमें आने बहुत ग्रन्थ निहार विचार ॥

चौपाई

जानहु बड्डो हुनर षिलार ।
हाथ रैष पछी करि प्यार ॥
रात द्यौंस जो राषै हाथ ।
कबहूं ताकौ तजै न साथ ॥
यासौं होइ मेल जब मन कौ ।
तबहि भूलजै रहिबौ बन कौ ॥

यूरोपीय देशो में भी वाज की काफी पूछ थी तथा लोग इसे हाथों पर लिये फिरते थे । जर्मनी के प्रसिद्ध सम्राट फ्रेडरिक द्वितीय ने तो बाज के द्वारा पक्षी के शिकार की विद्या पर स्वय एक विस्तृत ग्रथ लिखा था जो इस विषय की एक बहुमूल्य पुस्तक है ।

इटली में प्राचीन काल में बाज पालने की प्रबल परिपाटी थी । बडे-बडे धनी-मानी, अमीर-उमरा हाथो पर बाज, शिकरा लिये फिरते थे । लार्ड टेनिसन ने अपने एक एकाकी नाटक में इसका बडा सुन्दर चित्र खीचा है। नाटक के शुरू में उस देश के एक प्रमुख सामन्त (काउन्ट) हाथ पर बाज विठाये उपस्थित होते है और कहते हैं—

Hear that, my bird ! Art
 thou not jealous of her ?
My Princess of the cloud, my plumed
 purveyor,
My far-eyed Queen of the Winds -

सुनो मेरी प्रिय !
क्या तुम्हें इस बाज से ईर्ष्या नहीं होती ?
यह—जो बादल-देश की राजकुमारी है
यह—जिसके शोभन पंख है
यह—जो दूर-दृष्टि वाली पवन-महिषी है ।

इटली ही नही सारे यूरोप के सामन्त परिवारो में बाज, बहरी या शिकरे को लोग उसी तरह प्यार करते थे जैसे कि आज अलसेशियन आदि विशिष्ट जाति के कुत्तों से करते हैं। इग्लड की प्रसिद्ध शासिका महारानी एलिजाबेथ प्रथम बाज के द्वारा शिकार करने में परम प्रसिद्ध थी । गरज यह है कि एक जमाना था जब कि ससार भर में इस पक्षी की तूती बोलती थी तथा राज-दरबार से लेकर साधारण जनता तक में इसे सम्मान प्राप्त था ।

स्वाभाविक था कि ऐसा पक्षी, जिसमें जोश है, उमग है, भागने की जगह आक्रमण करने की प्रवृत्ति है, जो निर्भय होकर झपटता है, जिसकी नसो में गर्म खून प्रवाहित है, जिसके पजो में ताकत है, वह कवि समाज का ध्यान भी अपनी ओर आकर्षित करता। ऐसा ही हुआ भी है तथा ससार के अनेक कवियो ने इसकी खूब ही प्रशसा की है। इकबाल ने, जो इसके उपर्युक्त गुणो पर आशिक थे, लिखा—

हमामो कबूतर का भूखा नहीं मैं,
कि है जिन्दगी बाज की जाहिदाना,
झपटना, पलटना, पलट कर झपटना,
लहू गर्म रखने का है इक बहाना ।
य पूरब य पच्छिम—चकोरों की दुनिया,
मेरा नीलगू आसमा बेकराना,
परिन्दो की दुनिया का दरवेश हूँ—मैं,
कि शाहीं बनाता नहीं आशियाना ।

राजस्थानी लोक-कवि राजिया ने कहा —

नभचर विहँग निरास, बिन हिम्मत लाखों बहै,
बाज झपट कर बास, रजपती सूँ राजिया ।

—आकाश में ऐसे तो अनेक पक्षी मंडराते फिरते है, पर वहा शासन तो बाज का ही रहता है । यही तो रजपूती शान है ।

बाज की कई श्रेणिया है । वैसे कुछ लोग बहरी और शिकरे को साधारणत भिन्न पक्षी मानते है, पर मेरे विचार में ये सभी एक ही जाति की विभिन्न उपजातिया हैं, इन्हें अलग मानना गलत है। एक ही प्रवृत्ति, समान काम-धन्धे, समान कार्य-प्रणाली, फिर इन्हें अलग क्यो माना जाए ? ये तीनो ही शिकारी पक्षी है, जिनमें जिसे हम बाज कहते हैं वह सबसे बडा है, सबसे बहादुर भी ।

बडे-बडे पक्षियो—तोता, कबूतर, तीतर, वनमुर्गी आदि—तथा छोटे-छोटे जानवरों तक का गला दबा कर यह क्षण मात्र में उनका काम तमाम कर डालता है। देखने में इसके शरीर के ऊपर का रग भूरा, नीचे का सफेद होता है जिसमें काली-भूरी लकीरें

पडी होती है । आंखे काली, डैने लम्बे और नुकीले होते हैं । इसकी चोंच मुडी हुई तथा खूब मजबूत होती है, जो मास चीरने-फाडने के लिए बडी उपयुक्त है ।

बाज़ की मादा 'जुर्रा' कहलाती है । शिकारी इसे शिकार पकडना आसानी से सिखा लेते हैं । यह कद में नर से लम्बी होती है । नर-मादा के रूप-रग में भी कुछ अतर होता है । आमतौर पर दोनो को ही बाज़ के नाम से पुकारा जाता है ।

बाज़ के बाद बहरी का नाम आता है (चित्र सख्या ४४) । यह बाज़ से कुछ छोटा होता है पर शिकार पकडने में किसी कदर कम नही । बहरियो में 'लगर' सबसे अधिक प्रसिद्ध है । रग में इसके शरीर का ऊपरी हिस्सा भूरा होता है, गर्दन तथा नीचे का हिस्सा सफेद, आख के ऊपर से गर्दन तक श्वेत रेखा, सीने से पेट तक छोटी-छोटी कत्थई लकीरें होती है । दुम भूरी होती है, आख की पुतलिया भूरी, पैर पीले, पजे काले होते है । चोच टेढी और झुकी हुई-सी, जिसमें एक दात होता है, डैने बडे एव मजबूत होते है ।

बहरी की ही एक किस्म है—खेरमुतिया । इसके रग में स्लेटी तथा हल्के बादामी रग प्रधान है । आदतें लगर जैसी ही होती है ।

तृतीय शिकारी पक्षी शिकरा है, जो कद में सबसे छोटा पर प्रसिद्धि में सबसे बढा-चढ़ा है । रग-रूप में हू-बहू पपीहे जैसा होता है । शरीर का ऊपरी हिस्सा राख के रग का, डैने भूरे, नीचे का हिस्सा हल्का बादामीपन लिए हुए सफेद, चोच तेज पर छोटी और आगे की ओर मुडी हुई होती है । आखें तथा पैर पीले होते हैं ।

इनका हमला ज्यादातर छोटी चिडियो, छिपकलियो तथा चूहो पर होता है । यह बिजली की तरह तेज होता है ।

इसकी बिरादरी का एक पक्षी "गौरैया-शिकरा" होता है, जो अधिकतर गौरैया का ही शिकार किया करता है ।

शिकरो के पालने का रिवाज़ इस देश में ज्यादा है । दो-चार दिनो में ही ये पालतू बन जाते है तथा हाथो से उड-उड कर शिकार पकडना आसानी से सीख लेते है ।

सक्षेप में भारतीय बाज़ की ये ही तीन उपजातिया है, पर इन उपजातियो में भी अनेक किस्मे है, तथा इनके रूप-रग भी अनेक हैं । कुछ क़िस्में तो इस देश में बारह मास रहती है और कुछ केवल जाडो में ही नजर आती है । इन सब की मादा, नर से ज्यादा लम्बी होती है तथा शिकार पकडने में तेज भी ।

शिकारी पक्षियो में बाज़ को वन अधिक प्रिय है, बहरी तथा शिकरे को गाव के अडोस-पडोस के खेत, अमराई आदि । ये अधिकतर शात भाव से पेडो पर छिपे

बैठे रहते हैं, शिकार को अकेला देखकर उस पर टूट पडते है और पलक मारते उसे परलोक पहुचा देते हैं। पर कुछ ऐसे भी हैं जो ज्यादातर उडते रहते है—कभी-कभी खूब ऊचे भी चले जाते हैं और अनुकूल अवसर देखकर शिकार पर आक्रमण करते है। कुछ को स्वय शिकार करने की अपेक्षा मरे हुए पक्षियो तथा छिपकिली आदि का भक्षण ज्यादा पसन्द है।

सस्कृत में इन सभी पक्षियो को 'श्येन' कहा है। ऋग्वेद के प्रथम अष्टक में लिखा है कि स्वराज्य का अधिकारी वही जनपद है जहा और चीजो के साथ-साथ श्येन आदि पक्षी काफी सख्या में हो जिनकी वजह से फसल को नुकसान पहुचाने वाली चिडिया निर्भय होकर न विचरे। बाज की इस उपयोगिता का उल्लेख सिवाय ऋग्वेद के इस सूक्त के सस्कृत के किसी अन्य ग्रन्थ में देखने को नही मिला है।

ये ग्रीष्म से लेकर शरद काल के आरम्भ तक अडे देते हैं। अडो की सख्या दो से अधिक होती है। इनके बनाए हुए घोसले देखने में कतई सुन्दर नही होते, बडे बेडौल होते हैं। ये पेडो की झुरमुट में घोसले बनाते हैं।

बाज, बहरी, शिकरा—इन तीनो में नर की अपेक्षा मादा शिकार पकडने में ज्यादा तेज होती है और इसलिए पालने वाले नर की अपेक्षा, मादा को अधिक पसन्द करते हैं जैसा कि लेख में उद्धृत लार्ड टैनिसन की पक्तियो से साफ-साफ परिलक्षित है।

●

गरुड़

भगवान विष्णु का वाहन होकर भी गरुड की प्रवृत्ति वैष्णवी न हुई। शिकारी पक्षियो में यह सब से बडा है, सब से भयकर भी। इसकी कई किस्में हैं तथा इसकी कोई न कोई किस्म ससार के हर देश में पाई जाती है। कलगीदार, सर्पवत्, श्वेत नेत्र, मत्स्य मारक आदि इसकी कई श्रेणिया हैं। भारतवर्ष में प्राय ये सभी पाई जाती है। सफेद आखो वाला गरुड, जिसकी टागें औरो की अपेक्षा अधिक लम्बी होती हैं, केवल जाड़ो में आता है। बाकी इस देश की बारहमासी चिड़ियो में है।

श्वेतनेत्र गरुड देखने में अत्यन्त भद्दा होता है तथा इसका रग हल्का पीला, भूरा या गाढा काला होता है। इसकी दुम गोल होती है तथा नीचे से देखने से इसके डैने पारदर्शक प्रतीत होते है। कलगीदार गरुड के चेहरे पर मछली के चोइटे के किस्म के हल्के पर होते हैं, तथा इसकी टागें भी बहुत दूर तक परों से आच्छादित रहती हैं।

पर सब में भयानक व्यक्तित्व रखने वाला उस जाति का गरुड है, जिसे उकाब कहते है। यह ससार भर में पाया जाता है तथा अपनं भयानकता के कारण पक्षियो में शेर माना जाता है। सबसे प्रसिद्ध और जबर्दस् "सुनहला उकाब" है। इसका सर चिपटा और अत्यन्त डरावना होता है। चो तेज, टागे परो से ढकी हुई, पजे अत्यन्त तीक्ष्ण होते है। दुम लम्बी होती जिसके द्वारा यह आसानी से पहचाना जा सकता है। इसकी आखें सबसे अधिक तें है। इसकी ताकत का अन्दाजा लगाना हो तो एक विदेशी दर्शक की आखों देखं घटना का वर्णन पढ़िये—

"सुदूर आकाश में एक उकाब मडरा रहा था, नीचे मैदान-चरागाह में भे चर रही थी। अचानक उसकी दृष्टि उन पर पडी और वह धीरे-धीरे नीचे उतरत हुआ-सा प्रतीत हुआ। और फिर क्षणो में यह बडी तेज गति से एक मेमने पर झपट और उसे तीक्ष्ण पजों में पकड कर बात की बात में उसे ऊपर ले उडा। पास के ए पर्वत की चोटी पर उसकी मादा बैठी मानो उसका इतजार कर रही थी। वह वह पहुचा और कुछ काल में उन्होने मिलकर अभागे मेमने का सफाया कर दिया!"

जिस वक्त यह अपने शिकार को खाता रहता है, अपने डैनो से उसे ढं रहता है। उकाबो की यह एक खास रीति है। जबर्दस्त और भयकर शिकारी है यह कहते है, कभी-कभी मौका पा कर यह मनुष्य के छोटे-छोटे शिशुओ तक को उठा जाता है। इसके घोसले अस्थिपजरो से भरे होते है। उकाब के एक घोसले एक बार ५० खरगोशो की ठठरिया मिली थी और ३०० बतखो तथा भेडो अस्थिपजर।

समुद्री उकाब तथा उष्ण प्रान्तो में पाये जाने वाले छोटी दुम के उकाब भी को कम खतरनाक नही होते। बडी-बडी भेडो तक को ये उठा ले जाते है तथा छोटे-छोटे जीवि बन्दरो तक को खा डालते हैं। कद में मादा नर से बडी होती है, पर रग-रू एक जैसे ही होते हैं।

निस्सन्देह उकाब बडा बहादुर पक्षी है। अपनी तेज गति तथा वीरता

कारण ही तो उसे भगवान विष्णु का वाहन बनने का सौभाग्य प्राप्त है।

हमारे पडोसी देश इडोनेशिया की राज्याधीन हवाई सेवा का नाम भी गरुड इडोनेशियन एयरवेज है। इडोनेशिया के राष्ट्रपति के हवाई जहाज को "गरुड" की सज्ञा प्राप्त है।

आज से बहुत दिन पहले, ईस्ट इण्डिया कम्पनी के समय में, कलकत्ते के एक एग्लो इण्डियन कवि "डिरोजिओ" ने, जिसे अपने भारतीय होने पर गर्व था तथा जिसके हृदय में देश-प्रेम की हिलोरें उठा करती थी, भारत के दुर्दिन की चर्चा करते हुए लिखा था—

And Eagle pinion is chained at last
And grovelling in the dust liest thou!

अर्थात् गरुड के पंख अन्त में जजीरो से बध गये और तुम भूमि पर हीन अवस्था में पडे हुए हो।

गरुड को शक्तिशाली भारतवर्ष का उपमान बनाकर कवि डिरोजियो ने भी इसकी कद्र की है—इसकी बहादुरी का सिजदा किया है। अफसोस है कि डाक्टर इकबाल, जो कि झपट्टा मारने वाले बाज पर इतने फिदा थे, उकाब की बहादुरी से प्रभावित न हुए।
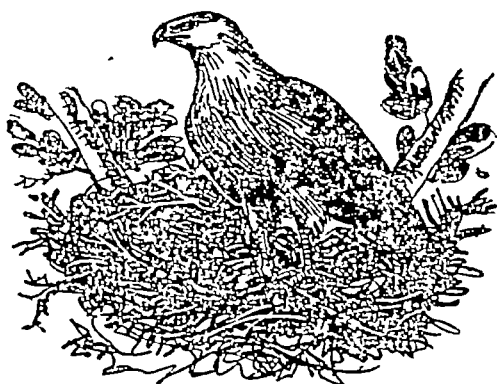
दक्षिण भारत में एक प्रसिद्ध तीर्थस्थान है जिसे "पक्षीतीर्थम्" (चित्र सख्या ४६) के नाम से पुकारते है। वहाँ शताब्दियो से लगभग दोपहर के समय गरुड का एक जोडा सुदूर आकाश से उतर कर आता है और फिर मदिर के पुजारी द्वारा दिये गये खाद्यान्न को ग्रहण करके अतरिक्ष को लौट जाता है। सैकडो आदमी उस समय उसके दर्शन के लिए वहाँ पहले से उपस्थित रहते है तथा उन्हे पूजा चढा कर अपनी गरुड-भक्ति का परिचय देते है।

किसी कवि ने लिखा है—

बडे काम जो करने हों तो
जा पहाड़ से टक्कर ले,
व्यर्थ गली का धक्कम-धक्का
इसका प्रेम मनुज तज दे।

मनुष्य गली-कूचो, छोटी-छोटी वस्तुओ का प्रेम भले ही न तजे, उनकी माया में पडा रहे, पर गरुड नीचे की ओर दृष्टिपात तभी करता है जब उसे कोई शिकार पकडना होता है, वर्ना ऊपर से ही मोहब्बत है उसे। धरती तल पर नही, वह पहाडो की चोटियो अथवा उच्च तरुशिखरो पर बैठता है, ताल-तलैयो के तट पर नही।

स्वाभाविक है कि वह अपना घोंसला भी किसी बड़े वृक्ष के ऊंचे शिखर पर ही बनाता है, नीचे की डालियो पर नहीं ।
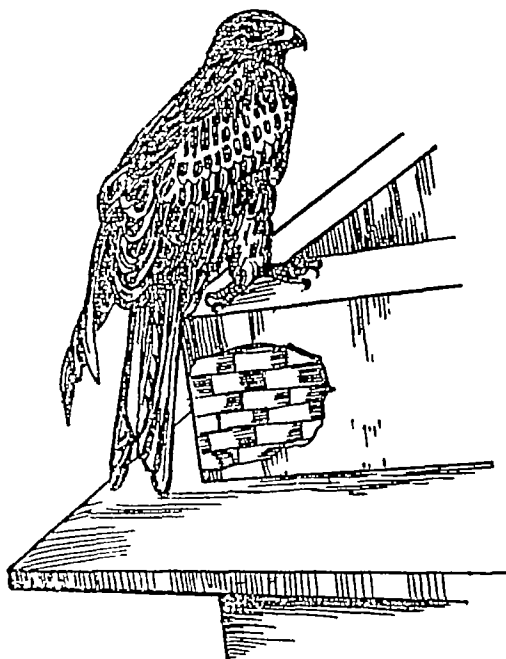
●

चील

झपट्टा मारने में चील मशहूर है । यह अक्सर मनुष्य के गृह-प्रांगण के ऊपर आकाश में मडराती रहती है और किसी खाद्य वस्तु को देखते ही उस पर बिजली की तरह टूटती है और क्षणो में उसे ले उडती है। मनुष्य के हाथ से चीज छीन ले जाना तो उसके बाए हाथ का खेल है, कभी-कभी हाथ को अपने पजो की चोट से घायल भी कर जाती है । खाद्य-पदार्थ ही नही, हाथ से जेवर तक ले जाते हुए उसे देखा गया है ।

मास-मछली की दुकानो के पास चीले हमेशा मडराती रहती है तथा उनके अडोस-पडोस में रहनेवाले लोगो की जान आफत म किए रहती हैं । झपट्टा मारने के इनके कौशल ने ही "चील-झपट्टा" कहावत को जन्म दिया है ।

चीलो को गोश्त तथा मछली अत्यधिक प्रिय है । कविवर बिहारी ने ठीक ही लिखा है—

" वच न बड़ी सवील हूँ, चील्ह घोंसुवा मांस ।"

ये कभी-कभी दूसरे पक्षी के वच्चो को भी चुरा ले जाती है । गिरगिट, चूहे आदि भी इन्हे काफी स्वादिष्ट लगते है । पैनी दृष्टि तो इनकी है ही, हजारों फुट की ऊंचाई से ये खेतो में विचरते हुए चूहे, गिरगिट आदि को देख लेती हैं, विद्युत्-गति से नीचे उतरती है और फिर उन्हें पजो में दबोच कर किसी वृक्ष पर जा बैठती है और क्षणो में चट कर जाती है । चील चोच से शिकार नही पकडती । यही कारण है कि जब वह कोई खाद्यपदार्थ ले कर उडती है तो कौए उससे रास्ते में उसे छीनने का यत्न करते है । यदि वह चीज चोच में होती तो कौए को निस्सन्देह ऐसा करने का साहस न होता । चील

तीतर

चित्र सख्या ५४

चित्र सख्या ५५

चकोर

स्वाभाविक है कि वह अपना घोंसला भी किसी बड़े वृक्ष के ऊँचे शिखर पर ही बनाते हैं, नीचे की डालियो पर नही ।

३३

चील

झपट्टा मारने में चील मशहूर है । यह अक्सर मनुष्य के गृह प्रागण के ऊपर आकाश में मडराती रहती है और किसी खाद्य वस्तु को देखते ही उस पर बिजली की तरह टूटती है और क्षणो मे उसे ले उडती है । मनुष्य के हाथ से चीज छीन ले जाना तो उसके बाए हाथ का खेल है, कभी-कभी हाथ को अपने पजो की चोट से घायल भी कर जाती है । खाद्य-पदार्थ ही नही, हाथ से जेवर तक ले जाते हुए उसे देखा गया है ।

मास-मछली की दुकानो के पास चीले हमेशा मडराती रहती है तथा उनके अडोस-पडोस मे रहनेवाले लोगो की जान आफत म किए रहती हैं । झपट्टा मारने के इनके कौशल ने ही "चील-झपट्टा" कहावत को जन्म दिया है ।

चीलो को गोश्त तथा मछली अत्यधिक प्रिय है । कविवर बिहारी ने ठीक ही लिखा है—

" बच न बड़ी सबील हूँ, चील्ह घोंसुवा माँस ।"

ये कभी-कभी दूसरे पक्षी के बच्चो को भी चुरा ले जाती है । गिरगिट, चूहे आदि भी इन्हें काफी स्वादिष्ट लगते है । पैनी दृष्टि तो इनकी है ही, हजारों फुट की ऊचाई से ये खेतो में विचरते हुए चूहे, गिरगिट आदि को देख लेती हैं, विद्युत्-गति से नीचे उतरती है और फिर उन्हे पजो में दबोच कर किसी वृक्ष पर जा बैठती है और क्षणो में चट कर जाती है । चील चोच से शिकार नही पकडती । यही कारण है कि जब वह कोई खाद्यपदार्थ ले कर उडती है तो कौए उससे रास्ते में उसे छीनने का यत्न करते है । यदि वह चीज चोच में होती तो कौए को निस्सन्देह ऐसा करने का साहस न होता । चील

चित्र
सख्या : ५६

उडते वक्त अपने डैनों को हिलाती नही, उन्हें फैला कर स्थिर रखती है और हवा के सहारे आगे बढती है, मानो आकाश मार्ग से वायुयान जा रहा हो। सभव है कि उडती हुई चील को देख कर ही वायुयान के आविष्कर्ता ने इसकी सृष्टि की हो, र्थात् चील से ही उसे प्रेरणा मिली हो।

कौओ से इसकी दुश्मनी है, डाह है, जैसा कि एक पेशे के लोगो में आपस में आ करता है। कौए इसे बडा तग करते है। काश! वे उकाब के साथ छेडखानिया रते! तो उन्हें मालूम होता कि इन छेड़खानियों का क्या नतीजा होता है।

चील की भी कई उपजातिया है, पर दो मुख्य है भूरी या काली और ामकरी। पहली क़िस्म दूसरी से कुछ बडी होती है, प्राय दो फुट की। नर ौर मादा में कोई अन्तर नही होता। रग भूरा होता है। नेत्रो के पीछे एक ाढा चित्ता-सा रहता है। चोच काली होती है, पैर पीले होते है।

खेमकरी के कई और भी नाम है, जैसे खैरी, शकर, धोबिया, चील आदि। से चिल्होर भी कहते है। इसका सर, गर्दन, सीना सफेद होता है, वाकी सारा बदन ारे रग का। डैने का कुछ हिस्सा काला और दुम का शीर्ष-भाग भी सफेद ही होता है।

इसकी चोच टेढी तथा पीलापन लिये हुए सीग के रग की होती है तथा पैर पीले ोते है। इसे पानी का किनारा अधिक पसन्द है जहा यह आसानी से मछलिया पकड कती है। घोसला भी जल के समीपस्थ किसी पेड पर बनाती है। इसकी बाकी भी आदते भूरी चील जैसी होती है।

चील को घोसला बनाने के लिए निर्जन स्थान की तलाश नही है। बहुधा ाजार के बीचो-बीच ताड के ऊचे दरख्तो पर इसके घोसले आप देखेंगे जहा सुभीते से ाजार से गोश्त और मछली के टुकड़े ला कर यह खाया करती है। यह प्रबल मासाहारी क्षी है और ग़ालिब का यह कहना कि 'चील के घोसले में मास कहा' सोलहों आने त्य है।

●

उल्लू

उल्लू उन पक्षियो में है, जिसके प्रति युग-युग से ससार अन्याययुक्त व्यवहार रता आया है। उसकी तरह-तरह से शिकायतें की गई है, मजाक उडाया गया है, ख़ंता का प्रतिरूप माना गया है। जहा देखिए उसके प्रति व्यगात्मक शब्दो का प्रयोग आ है, उसे नीचा दिखाने की ही चेष्टा हुई है, उसकी प्रशसा में दो शब्द भी ही लिखे गये है। रहीम जैसे करुण-हृदय, न्याय-परायण कवि तक ने, देखिए, स बेरहमी के साथ कहा है—

> **शीत हरत, तम हरत नित, भुवन भरत, नहि चूक,**
> **'रहिमन' तेहि रवि को कहा, जो घटि लखे उलूक?**

और तुलसी जैसे सत-कवि तक ने कहा है—

होंहि उलूक सन्त निन्दा-रत,
मोहनिशाप्रिय, ज्ञानभानु मत ।

सस्कृत के एक कवि महोदय ने तो उसके पूर्वजीवन पर भी छींटे उछालने की चेष्टा की है । लिखा है—

यद्यपि तरणे. किरणैः सकलमिद विश्वमुज्ज्वल विदधे,
तदपि न पश्यति घूकः पुराकृतं भुज्यते कर्म।

—यद्यपि सूर्य की किरणो से सारा ससार उज्ज्वल हो जाता है, पर उल्लू फिर भी देख नहीं पाता है । यह उसके पूर्व-कृत कर्म का ही तो दोष है । और उर्दू के शायर क्यो चुप रहने लगे ! सो उन्होंने भी हा में हा मिलाई। कहा—

कद्रदानों की तबीअत का अजब रग है आज,
बुलबुलो को ये हसरत है कि वो उल्लू न हुए !

किन्तु यदि निरपेक्ष, न्यायपूर्ण दृष्टि से देखा जाए तो उल्लू मजाक अथवा शिकायत का नही, प्रशसा का पात्र है । कोयल भले ही गाए, पपीहा पी-पी की रट लगाए, मोर नाचे, बुलबुले गुलो पर अपने प्राण निछावर करती फिरें, पर चिड़ियो में यदि किसी ने कुलीनो जैसा व्यक्तित्व प्राप्त किया है, जिसके समस्त आचारण से, चाल-ढाल से, मुद्राओ से, बड़प्पन टपकता है तो वह उल्लू ही है । कौन दूसरा पक्षी है जिसमें इतना अग-सौष्ठव, शारीरिक सतुलन विद्यमान है, और वह भी इतनी प्रचुर मात्रा में ? खाद्य पदार्थों को देखकर जिस तरह दूसरी चिड़िया उस तरफ दौड़ती है, अथवा वृक्षो पर, बाग-बगीचो में अकारण फुदकती है, जहा-तहा फिरती रहती है, भयावह परिस्थिति के उत्पन्न होते ही कापती है, चिल्लाती है, उड कर भाग खडी होती है, क्या इसे भी आपने कभी वैसा करते देखा है ? चचलता, आमोद-प्रियता, दुम, डैने आदि हिला कर आन्तरिक भाव-प्रदर्शन, जो नीचे कुल के लक्षण है, आप इसमें कदापि न पायेंगे । किसी भी परिस्थिति में, चाहे वह आनन्द की हो या रोष की, भय की हो या निर्भयता की, इसे आप गाम्भीर्य त्यागते न पायेंगे और न इसके मुह पर बदलते हुए भाव ही (चित्र सख्या २५, ४७) । शात भाव से बैठे हुए उल्लू पर आप ईंट-पत्थर फेंके या उसके सामने भोजन का कोई रुचिकर पदार्थ रखें, वह दोनो ही हालत में स्थिर, अविचलित-सा, बैठा रहेगा । दर असल उल्लू का आचरण अन्य पक्षियो के आचरण से बिल्कुल भिन्न है। प्रसिद्ध वैज्ञानिक डाक्टर बर्टन के शब्दो में, उल्लू अपने व्यवहार में अन्य पक्षियो से बिल्कुल ही नही मिलता है । अक्सर दो उल्लू एक साथ देर तक बैठे रहेंगे पर एक-दूसरे के प्रति उदासीन ही रहेंगे ।

खेद है कि ससार की पैनी दृष्टि से उलूक पक्षी के ये महान गुण आज तक ओझल ही रहे ! निस्सन्देह पक्षियो में स्थितप्रज्ञ है यह !

उल्लू तथा अन्य पक्षियो में स्वभाव का ही नही वरन् बनावट का भी काफी फर्क है ।

साधारणत उल्लू दिन में पेडो के किसी झुरमुट में जा बैठते है, शाम होते ही बाहर निकल आते है तथा एक वृक्ष से दूसरे वृक्ष पर प्रेतो की तरह उड़ने

लगते हैं। पर इनमें कुछ ऐसे भी है जो सूर्य की प्रखर ज्योति से घवडाते नही, वल्कि उसमें वडे आनन्द के साथ उडते फिरते हैं। विलायत के एक प्रसिद्ध साप्ताहिक पत्र "फील्ड" में अभी पिछले दिनों प्रकाशित एक पत्र मुझे देखने को मिला जिससे इस कथन की पुष्टि होती है। उस पत्र में एक सज्जन ने आक्सफोर्ड से लिखा था कि वह पिछले दिनो मोटर से किसी सरिता-तट से गुजर रहे थे जव कि उन्होने एक वार्न उल्लू को धूप में इधर-उधर उडते हुए, वह भी वडी स्वच्छन्दता से, देखा था।

जो यह कहते हैं कि उल्लू सूर्य का प्रकाश सहन नही कर सकता, उन्हे इस पत्र पर ध्यान देना चाहिए।

दूसरा अन्तर इसकी शक्ल-सूरत में हैं। इसकी आखें अन्य पक्षियो की तरह बगल में न होकर मनुष्य की भाति सामने होती हैं। आखें काफी वडी, गोल होती हैं तथा पीछे देखने के लिए यह वडी आसानी से अपनी गर्दन घुमा सकता हैं जवकि दूसरी चिडिया ऐसा करने में असमर्थ होती है।

तीसरी विभिन्नता इसके परो में है। ये अत्यन्त मुलायम होते है, मानो पशमीने के वने हुए हो। और इसी कारण जव यह उडता है तो कतई आवाज नही होती। रात में जव यह अपने शिकार पर हमला करता है, तो उसे जव तक कि यह दवोच न ले उसे इसका जरा भी पूर्वाभास नही मिलता।

चौथा अन्तर इसके कानो की वनावट में है। इसके कान काफी वडे और खुले होते है जव कि और पक्षियों के छोटे तथा वालो से ढके होते है। वडे और खुले कान होने के कारण धीमी से धीमी आवाज भी उन तक वडी आसानी से जा पहुँचती है।

उल्लू अपने शिकार को नोच-नोच कर नही खाता, सीधे निगल जाता है। इसके पैर परो से ढके होते है, अतएव जिस समय यह चूहे जैसे शिकार को पकडता है, उसके आघात व काट खाने की चेष्टा का पैरों पर कुछ असर नहीं पडता।

उल्लू का सर विल्ली के सर की तरह ही गोल होता है। इस देश में उल्लू की प्राय: ४०-४५ किस्में है, जिनमें तीन-चार मुख्य हैं

१ एक वह है जो कि अधिकतर पुराने मकान के खडहरो—प्राचीन किला, कब्र आदि में निवास करता है। अंग्रेजी में इसे "वार्न आउल" (अन्न सग्रहालय के उल्लू) के नाम से पुकारते है। कहते है कि यह प्रकाश को सहन नहीं कर सकता, अतएव दिन में मकान के किसी अवेरे कोने में जा वैठता है, शाम होते ही एक मनहूस-सी आवाज करता हुआ वाहर निकलता है तथा मकान की एक छत से दूसरी छत पर, एक हिस्से से दूसरे हिस्से तक उडता रहता है।

विचित्र आवाज तथा आधी रात में वारम्वार इधर से उधर उडते रहने के कारण ही यह अघविश्वास है कि मकान में इसका रहना अथवा आना-जाना किसी भावी दुर्घटना का सूचक है—अशुभ है। पर हमें यह न भूलना चाहिए कि एक दृष्टि से इसका निवास, खासकर ऐसे मकान में जहा अन्न का भण्डार हो, अत्यन्त उपादेय भी है क्योकि चूहे आदि जन्तुओ को खा कर यह सगृहीत अन्न की वडी रक्षा करता है। इसकी इसी उपादेयता के कारण कई देशो में लोग इसे अन्न भडार-गृहो में

खास तौर पर पालते है। शायद यही वजह है कि हमारे देश में यह लक्ष्मी का वाहन भी माना गया है। भारत जैसे कृषि-प्रधान देश में, पूर्वकाल में, लक्ष्मी का शुभागमन नाज के रूप में ही तो हुआ करता था।

इस जाति के उल्लू की यह एक खास विशेषता है कि वह घर के जिस कोने में दिन भर बैठता है, साल-ब-साल वही बैठा करता है, स्थान-परिवर्तन उसे कतई पसन्द नही है। और यदि वहा बैठने वाला उल्लू काल-कवलित हो जाए, तो फौरन कोई दूसरा उल्लू आकर वही आसन जमा लेता है, स्थान खाली नही रह पाता—किसी साधु की धूनी की तरह, जहा धूनी रिक्त होने पर कोई-न-कोई साधु अवश्य ही आ बैठता है।

मकान के आस-पास के पेडो पर इसका बोलना इस देश में बडा अशुभ मानते है, क्योकि सर्वसाधारण में यह धारणा है कि उल्लू को आदमी की मृत्यु का पूर्वाभास मिल जाता है और तभी यह घर के पास आकर मनहूस आवाज करता है।

कद इसका जगली कौए के समान होता है। रग—ऊपर सुनहला बादामी, नीचे सफेद होता है। अडे पूरे साल भर देता है। मादा चार से सात अडे तक एक बार में देती है। नर और मादा के रूप-रग में कोई अन्तर नही है।

२ दूसरी जाति का उल्लू वह है जो अधिकतर जल के किनारे किसी खडहर या पेड की झुकी हुई डाल पर निवास करता है। यह जल की मछलियो को खाता है और चूहे, मेंढक, पक्षी भी इसे स्वादिष्ट लगते है। मछलियो को यह बडी तेजी से पकडता है।

इसका सर काफी बडा, तथा ऊपर के पर गहरे कत्थई रग के, डैने तथा दुम भूरे, गला सफेद होता है। जहा-तहा भूरी धारी भी होती है। सर के ऊपर उठे हुए पर के गुच्छे होते है, जो लम्बे कान के सदृश लगते है। इसे मत्स्य-उलूक के नाम से भी पुकारते है। मुखाकृति बिल्ली से मिलती-जुलती-सी होती है। इसकी एडी और घुटनो के बीच का भाग पर-रहित होता है और पर के बजाय एक प्रकार के कटीले चोइटे होते है, पाव के तलवो में भी, तथा इसके बडे पजो में नुकीले काटे होते है, ताकि यह मछलियो को आसानी से पकड सके, वे इसके पजो से फिसल कर निकल न भागे।

इसके अडा देने का समय दिसम्बर से मार्च तक है। अडो की सख्या दो होती है। अक्सर यह दूसरे पक्षी, गीध आदि के घोसले पर अपना अधिकार जमा लेता है।

प्रकाश इसे भी असह्य है, अतएव यह वृक्षो के घने अन्धकार में दिन बिताता है, सन्ध्या होते ही बाहर निकल कर किसी ऐसे स्थान पर जा बैठता है जहा से मछलियो का जल के ऊपर तैरना नजर आए। कभी-कभी जल के ऊपर भी यह उडता हुआ मछली की खोज करता फिरता है।

३ तीसरा वह उल्लू है जिसे सीगदार उल्लू के नाम से पुकारते है। गहरे बादामी तथा काले रगो के धब्बो से चिह्नित इस उल्लू के सर पर दो काली-काली कलगिया होती है, जो सीग जैसी लगती है। और जातियो की अपेक्षा इस जाति के उल्लू दिन में अधिक देखते है, बिल्कुल अधे नही होते, तथा शाम से ही किसी ऊची जगह पर शिकार की टोह मे जा बैठते है। चूहे आदि के अलावा,

गिरगिट, छिपकली आदि रेंगने वाले जन्तुओ को भी यह बडे चाव से पकड कर खाते है ।

अडा देने का समय नवम्बर से अप्रैल तक है । अडो की सख्या तीन से चार तक होती है ।

४ चौथी जाति का उल्लू वह है जिसे "चितकवरा", "खूसटिया" आदि नामो से पुकारते है । कद में यह मैना के बराबर होता है । इस देश में इस जाति का उल्लू बहुतायत से पाया जाता है । यह हर प्रकार की जगहो में जोडा बाध कर रहता है, कभी-कभी एक से अधिक जोडे भी साथ-साथ रहते है । अधिकतर गावों में अथवा गाव और शहर के आसपास रहना इसे पसन्द है, घना जगल नही । आप यदि अपने घर के पास किसी वट, पीपल अथवा आम के वृक्ष पर तलाश करेंगे, तो अवश्य ही दो-चार ऐसे उल्लुओ को बैठा पाएँगे । कहते है दिन में इसे और प्रकार के उल्लुओ की अपेक्षा अधिक सूझता है और यह कभी-कभी दिन में भी उडता नजर आता है, परन्तु इस भय से कि कही और पक्षी इसका पीछा न करे—तग करने की चेष्टा न करे—यह पत्तो की झुरमुट में ही दिन बिताना श्रेयस्कर समझता है ।

शाम हुई और यह बाहर निकल कर खभो अथवा टेलिग्राफ के तारो पर या खुले वृक्षो पर जा बैठता है । फिर तो यह बडे आनन्द के साथ कीडे-मकोडो अथवा छोटे-छोटे चूहो का शिकार भी शुरू कर देता है । रात भर अपनी कर्णकटु आवाज में ठहर-ठहर कर बोलता भी है । कई उल्लू एक साथ बोलते है। एक बोलता है, दूसरा समीप के ही किसी स्थान से उत्तर देता है, और इस तरह इनके सवाल-जवाब चलते रहते है ।

आम तौर पर यह छेडने पर भी शात बैठा रहता है। पर कभी कभी ऐसा भी होता है कि यह अपना धैर्य खो बैठता है और उस समय यदि आपने भूल से समीप जा कर इस पर नजर डाली, तो यह बडे ही क्रोधापन्न भाव से आपकी ओर देखेगा, मानो आपकी इस हरकत से इसे सख्त नाराजगी है, और फिर उडकर अन्यत्र चल देगा । उस समय की इसकी भयकर दृष्टि देखने ही लायक होती है ।

दरअसल चाहे किसी भी जाति का उल्लू हो, मनुष्य का उसकी ओर एकटक देखना उसे जरा भी पसन्द नही है । एक सज्जन श्री मोर्टिमर बैटन को पक्षियो की फोटोग्राफी का अत्यन्त शौक है । एक बार सुनसान रात मे उन्होने दो सीगदार उल्लूओ की, जो उनके एक मित्र के अहाते में रोज रात को आकर उनके पालतू पक्षियो पर आक्रमण किया करते थे, तस्वीर उतारने की चेष्टा की । उस वृक्ष पर, जिस पर वे आधी रात में चुपचाप आ कर बैठा करते थे, उन्होने कैमरा लगाया और उनकी प्रतीक्षा में जा बैठे । निश्चित समय पर दो खूब मोटे-ताजे उल्लू वहा आ पहुँचे । श्री मोर्टिमर बैटन ने टार्च जलायी और फोटो लेना चाहा । उस समय की अवस्था का जिक्र अपने एक लेख मे करते हुए उन्होने लिखा है "मेरे 'टार्च' जलाते ही नर-उल्लू ने तेज आखो से डैने फैला कर मेरी ओर देखा तो मुझे ऐसा प्रतीत हुआ कि वह मुझ पर आक्रमण करने ही वाला है। मैने भयभीत हो कर, अपना शिकारी चाकू सभाला, पर चाकू के इस्तेमाल की जरूरत न पडी।" उल्लुओ ने शायद अपना विचार बदल डाला था तथा बैटन साहब कुशलपूर्वक दरख्त से नीचे उतर सके थे । सुबह

मुर्दों के भक्षण के कारण गीध के बदन से बडी दुर्गन्ध निकलती रहती है । इसे हम इन्ही कारणो से घृणा की दृष्टि से देखते है, अशुभ मानते है । यदि किसी मकान पर इसकी चरण-रज पड जाए, तो उसे त्याग देते है या पूजा-पाठ के द्वारा उसकी शुद्धि कराते है । फिर भी भगवान रामचन्द्र ने इसके पूर्वज जटायु को छाती से लगाया था, क्योंकि उसने रावण से सीता को छुडाने में अपने प्राण दे दिये थे । ऐसी है परोपकार की महिमा !

गीध के द्वारा आज भी मानव-जाति का जो उपकार हो रहा है वह अपरिमेय है । सडे-गले मुर्दे, जो जहा-तहा पडे हुए दुर्गन्धि फैलाते रहते है, यदि इसके द्वारा उदरस्थ न कर लिये जाए तो चारो ओर भयकर रोग—महामारी आदि—फैल जाए और न जाने कितने व्यक्तियो को अपने प्राणो से हाथ धोना पडे । इस देश में यदि कोई पशु मर जाता है तो अधिकाशत लोग उसे मिट्टी में गाडने के बजाय इधर-उधर फेंक देते है । गीध इन्हें खाकर वही काम करते है जो कूडा-करकट की सफाई करने वाले किया करते है । ऐसी दशा मे हम उन्हे भगवान राम की तरह छाती से भले ही न लगायें, पर कम से कम उनसे नफरत तो नही करनी चाहिए।

गृद्ध या गीध की भी कई उपजातिया है। बडे-छोटे हर कद के गीध पाये जाते है । सबसे प्रसिद्ध वे है जिन्हे राजगीध कहते है । ये प्राय एक गज के होते है । गर्दन के दोनो ओर चमडा लटका रहता है, मानो "काकर स्पेनियल" कुत्ते के कान हो, कन्धो तथा वक्षस्थल पर सफेदी होती है, बाकी सारे अग में कालापन होता है ।

राजगीध से कुछ बडे चमर-गीध होते है। इनका रग अधिकाशत भूरा होता है, जहा-तहा सफेदी भी होती है। पीठ पर एक बडा-सा सफेद चिह्न होता है। जहा राजगीध जोडा बाध कर रहता है, ये गोल बाधकर रहने वाले गीध है जो गावो और शहरो के अडोस-पडोस के ऊचे वृक्षो पर डेरा डाले रहते है । इनकी बाकी आदतें राजगीध जैसी ही होती है ।

एक तीसरे प्रकार के गीध होते है "गोबर-गिद्धा," जो आकार-प्रकार में चील से बहुत कुछ मिलते है । रग इनका सफेद होता है । और गीधो की तरह ये मुर्दा नही खाते, मल-मूत्र का भक्षण करते है, और इसीलिए अग्रेजी में इन्हे मेहतर कहते है। स्वभाव से ये धृष्ट होते है तथा अक्सर हमारे मकानो की छत पर बैठ जाते है । कद में २०-२१ इच के होते है ।

गीध की दृष्टि, जैसा कि कहा जा चुका है, बडी तीक्ष्ण होती है । इसके पख भी बड मजबूत होते है । सुदूर आकाश में यह उनके सहारे घटो उडता हुआ दूर-दूर तक मुर्दे की तलाश में नजर दौडाता है । मुर्दे पर दृष्टि पडते ही फौरन वहा जा पहुचता है और उसे इतना भरपेट खाता है कि कभी-कभी उसके बाद तीन-चार दिन तक बैठा ऊघता रहता है, खाने का नाम नही लेता ।

यह न तो जल में नहाता है न धूल में । सूर्य-स्नान इसे अवश्य प्रिय है, धूप म अपने डैनो को फैलाकर घटो बैठा रहता है ।

यह जाडो में घोसला बनाकर अडे देता है जिनकी सख्या एक से दो तक होती है । ऊचे वृक्षो पर अधिकाशत ताल के वृक्ष पर यह घोसले बनाता है ।

●

चित्र सर

स्थानान्तरण के पहले एक पडाव पर समूह में बैठे हुए पक्षी

सहेली
(एक प्राचीन
चित्र)

चित्र
सख्या ६०
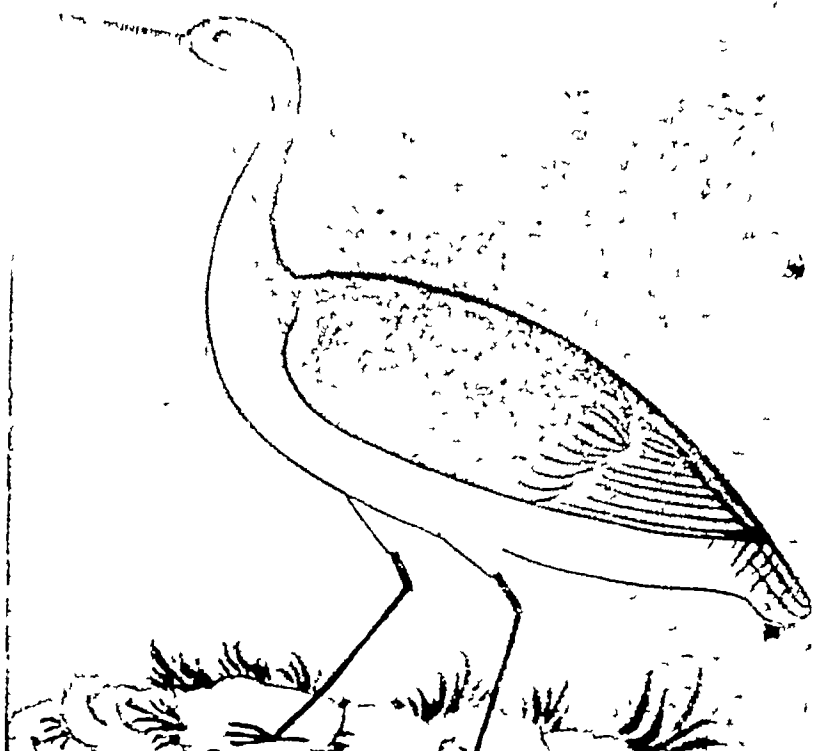
धनेश

आयुर्वेद की दृष्टि से धनेश एक बडे महत्व का पक्षी है । उसमें इसके तेल का कई कठिन रोगो में व्यवहार लिखा हुआ है । सस्कृत में इसे वाघ्रीणस, अग्रेजी में हार्नबिल, तथा हिन्दी में धनेश और वनराव के नामो से पुकारते हैं । इसकी कई किस्में है । सोलह किस्में केवल भारतवर्ष में ही प्राप्य हैं । पर इनमें प्रमुख दो हैं—एक साधारण भूरे रग का, दूसरा वह जिसके सर पर एक तुर्रा-सा होता है तथा जिसे अग्रेजी में मलाबार पायड हार्नबिल, हिन्दी में धानचुरी तथा बगाल में 'बगमा धनेश'
के नाम से पुकारते हैं ।
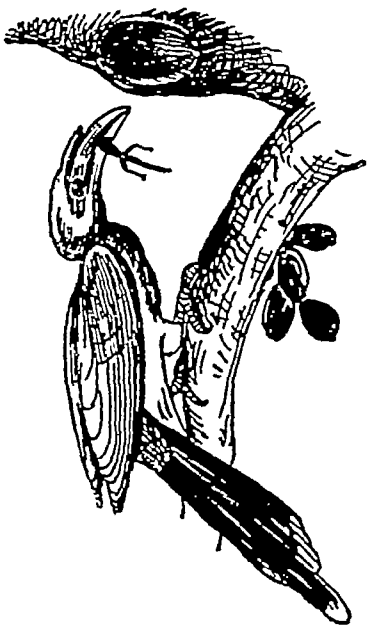
साधारण धनेश पजाब के कुछ हिस्सो को छोड़कर इस देश के बाकी सभी राज्यो में उपलब्ध है । कद में यह प्राय. दो फुट लम्बा, रग में गाढ़ा भूरा होता है । इसकी पूछ काफी लम्बी होती हैं जिसके छोर पर सफेदी होती है । पेट, जाघ तथा दुम का निचला हिस्सा सफेद होता है । चोच एव सर की टोपी काले रग की होती है । चोच की बनावट सीग की सी होने के कारण ही अग्रेजी में इसे हार्न (सीग) बिल (चोच) के नाम से पुकारते हैं (चित्र सख्या . २६) । अन्य जाति के धनेश जहा वनो में रहना अधिक पसन्द करते हैं, इसे खुले मैदान में, गाव के अड़ोस-पड़ोस में तथा बाग-बगीचो में रहना अधिक रुचिकर है । ग्राम्य-वृक्ष के कोटरो में यह बहुधा प्रजनन-क्रिया सम्पन्न करता हुआ पाया जाता है ।

धानचुरी का कद भूरे धनेश से प्राय एक फुट बड़ा होता है; सर, गला, पीठ, डैनें तथा दुम के बीच के दो पर काले होते ह जिसमे हरेपन की झलक आती रहती है । बाकी पर बिल्कुल सफेद होते हैं और ठोड़ी पर एक हल्का-सा पीला धब्बा होता है । मादा की आखो के चारों ओर एक सफेद कठी होती है । चोच तथा सिर के तुर्रे के निचले हिस्से में पीलापन होता है, तुर्रे के बाकी हिस्सो में काला-पन । यह पहाड़ी प्रान्तर में, वन मे, रहना अधिक पसन्द करता है ।

प्रत्येक किस्म के धनेश पक्षी की एक खास विशेषता है जो कि और पक्षियो में नही पायी जाती । वह यह कि उसकी आखो के ऊपर भौंहें होती हैं । डैनो के नीचे मुलायम पर, जो और पक्षियो में होते हैं, धनेश में नही होते । सर पर टोपी होती है . धानचुरी की टोपी औरों से बड़ी—प्राय. ८ इच लम्बी । इसकी उपयोगिता क्या है, यह आज तक किसी की समझ में न आ सका ।

धनेश घोसले नही बनाते । पेडो के प्राचीन कोटरो में ही मादा अडे देती है। इसके सम्बन्ध में सबसे दिलचस्प बात तो यह है कि अडा देने के समय से जब तक कि बच्चे इस लायक नही हो जाते कि वे प्रसूति-गृह से निकल कर अपने पावो पर खडे हो सके, मादा पर्दानशीन बनी रहती है । प्रसव-काल निकट आते ही वह किसी वृक्ष-कोटर में जा बैठती है तथा उसके मुह को एक दीवार से बद कर लेती है, केवल एक सूराख छोड देती है जिससे वह अपनी चोच बाहर निकाल कर नर के द्वारा लाये हुए खाद्यपदार्थों को ग्रहण कर सके । हफ्तो उसे इस दशा में रहना पडता है और नर नित्य प्रति अपनी चोच में खाने की चीजें—कीडे-मकोडे, गिरगिट और छिपकली तक—ला-लाकर उसे खिलाया करता है । असूर्यम्पश्या रानियो तथा बेगमो की तरह वह पर्दे की ओट से ही उस पर हुक्म जमाया करती है। पर्दे के भीतर ही उसके पुराने पर झड पडते है तथा उनकी जगह नये पर उग आते है । अत जब वह बाहर निकलती है तो उसका सौन्दर्य पहले से कही अधिक निखरा हुआ नजर आता है, रूप में कही अधिक आकर्षण रहता है ।

धनेश के पर देखने में अत्यन्त सुन्दर होते है और इसके सब से बडे कद्रदान हमारे उत्तर-पूर्व सीमा क्षेत्र में रहने वाले नागा है, जो अपने नृत्य-शृगार में इसको विशिष्ट स्थान देते है । वे अपनी पोशाक इनके परो से सजाते है ।

पक्षि-शास्त्र के पडितो के बीच इस बात को लेकर बडा मतान्तर है कि प्रसूति-गृह के द्वारावरोध में केवल मादा का ही हाथ रहता है या मादा-नर दोनो का । कइयो का मत है कि केवल मादा ही उस कार्य को सम्पन्न करती है । कई नर का भी इस काम में हाथ बटाना बताते है। पर श्री लोथर का, जिन्होने छोटा नागपुर के जगलो में रह कर धनेश पक्षी के जीवन तथा प्रवृत्तियो का खास अध्ययन किया था, कहना है कि यद्यपि इस कार्य में मुख्य हिस्सा मादा का ही रहता है, नर चोच में बाहर से मिट्टी ला-लाकर उसे सहायता देता है, अर्थात् नर के सहयोग से ही वह इस काम को पूरा करती है । लोथर महोदय का ही यह भी कहना है कि द्वार के इस प्लास्टरिंग या पलस्तर के काम में मादा अधिकाशत अपनी बीट का प्रयोग करती है, हा नर के द्वारा लायी हुई मिट्टी भी मजबूती के लिए उसमें मिला दी जाती है । फिर तो वह ऐसी कडी हो जाती है मानो सीमेण्ट की बनी हुई दीवार हो ।

जब पर्दे से बाहर होने का वक्त आता है, तो मादा अपनी चोच रूपी हथौडी से वृक्ष-कोटर के इस द्वार पर आघात करना शुरू करती है । नर भी आ कर जब-तब सहयोग देता है और कुछ काल में दीवार तोड कर वह बाहर निकलती है । नर उसकी प्रतीक्षा में मिलनातुर बाहर बैठा होता है, और फिर दोनो एक साथ मिलकर सैर-सपाट को चल देते है । पर्दे से बाहर होते ही मादा पहले अपनी चोच खूब साफ कर लेती है, नये परो को देर तक फडफड़ाती रहती है, मानो उनकी ताकत को आजमाइश कर रही हो ।

जिन दिनो वह पर्दे के भीतर रहती है, दुबली-पतली और असुन्दर-सी लगती है जैसा कि उन पक्षी-विशेषज्ञो का कथन है जिन्होने समय के पूर्व ही घोसले के अवरुद्ध

द्वार को तोड कर इस बात की परीक्षा ली है । पर जब वह बाहर निकलती है तो बजाय इसके कि वह हफ्तो-महीनो घर में बन्द रहने के कारण क्षीण एव अपरिष्कृत नज़र आये, काफी साफ-सुथरी, मोटी-ताजी, नज़र आती है ।

घोसले की इस टूटी हुई दीवार की मरम्मत करके धनेश के नवजात शिशु कुछ काल तक उसमें निवास करते हैं, फिर पखो में ताकत आने पर उड कर देश-देशान्तर को चल देते है । मादा की पर्दानशीन अवस्था में—या यो कहिये कि बन्दी जीवन-काल में—उसके खाने-पीने की व्यवस्था का सारा भार नर के ऊपर रहता है और वह जिस कुशलता से इस काम को अजाम देता है, वह अतिशय प्रशसनीय है । यही नही, इसके गहरे दाम्पत्य-प्रेम का परिचायक भी है ।

दिन भर में एक नही दर्जनों बार नर गले के भीतर खाद्यवस्तुए रख कर लाता है और उन्हें नरेटी से बाहर निकाल-निकाल कर उसे खिलाता है । नर का आभास पाते ही मादा सूराख के भीतर से अपनी चोंच बाहर निकाल देती है और तब नर गले को पीछे की ओर करके एक झोका देता है और फिर लाई हुई वस्तु को मुह के रास्ते निकाल कर उसकी चोच में रखता है और इस प्रकार अन्दर की सारी चीजो को वह एक-एक कर उसे खिला डालता है।

इन चीजो में बट, पीपल, नीम आदि के छोटे-छोटे फल तो होते ही है, टिड्डी, गिरगिट आदि जीव-जन्तु भी रहते है, जिन्हे मादा बडे चाव से ग्रहण करती है । ये चीजें वह अपने गले की थैली में भर लाता है, पर कभी-कभी उदरस्थ चीजो को भी वह उगल-उगल कर प्रेमिका को खिलाता है । इसके उदर में एक ऐसा पदार्थ होता है जिसके स्पर्श से उदरस्थ वस्तुओ की गोली, झिल्ली-दार पतली थैली या बीजकोष, तैयार हो जाता है । बहुधा ऐसी थैलियों को भी वह पेट से निकाल कर प्रेयसी के मुख में डालते देखा गया है ।

एक सज्जन का, जिन्होने पक्षी-जीवन का गम्भीर अध्ययन किया है, कहना है—

"धनेश के हर कौर में दो से चार तक फूल-बीज की गोलिया रहती हैं, जिनमें कीडे-मकोडे तथा रेगने वाले जन्तुओ के शरीर के टुकडे भी रहते है । प्रेमी नर इन्हें गले से निकाल-निकाल कर अपनी बन्दिनी प्रेमिका के उत्सुकता-भरे मुंह में डालता है ।"

इस तरह प्राय डेढ-दो महीने, और कभी-कभी ज्यादा समय तक भी, मादा पर्दा-नशीन बनी हुई अपने दिन वृक्ष-कोटर में व्यतीत करती है जहा, जैसा कि पहले कहा गया है, वह केवल अडे ही नही सेती, उसका पूरी तरह काया-कल्प भी हो जाता है । उसके पुराने पर झड जाते है और नये निकलते है, यहा तक कि उसकी चोच भी नई हो जाती है। यदि आप समय के पहले किसी धनेश के नीड-द्वार को तोडकर उसके भीतर उसे देखें, तो मादा के शरीर को एक अजीब दशा में पायेंगे—झडे हुए पर, छोटी-सी चोच, अत्यन्त कुरूपिनी, पर वही जब समय पूरा होने पर बाहर निकलती है तो उसके शरीर से सौंदर्य टपकता रहता है ।

पक्षियो में शायद ही कोई दूसरा हो जो धनेश की तरह अपने वास-स्थान

को साफ-सुथरा रखता हो। मादा इतने दिनो तक घर के भीतर बन्द रहती है, फिर भी उसे गन्दा नहीं होने देती। गन्दी चीजो को सूराख के रास्ते हमेशा बाहर फेंकती रहती है। छोटा नागपुर के जगल में धनेश अधिक सख्या में पाये जाते है। उनके रहन-सहन का अध्ययन करने वाले एक अग्रेज लेखक का कहना है—

"धनेश की मादा जब घोसले में रहती है तो सफाई पर उसका अत्यधिक ध्यान रहता है। वह अपनी विष्टा को या तो बाहर फेंक देती है या घोसले के बाहर सूराख के रास्ते से बीट करती है। उसके बच्चो तक को मैंने इस सम्बन्ध में बड़ा चौकस पाया है। उन्हें हमेशा नीड-द्वार के सूराख के द्वारा बाहर की ओर बीट करते देखा है। उनके द्वारा खाली किये गये नीड देखने में बडे साफ-सुथरे नजर आते हैं। मक्खी, चीटी या दुर्गन्धि का कही नामोनिशान भी नही।"

धनेश से हमें स्वच्छता का सबक सीखना चाहिए।

●

चिप्पक

चिप्पक, जिसके कई और नाम भी है, यथा चप्पा, दाब-चुरी, दबनक, अधी चिड़िया आदि, तथा सस्कृत में जिसे नप्तृका कहते हैं, एक ऐसा पक्षी है जो दिन में शायद ही नजर आये, पर शाम होते ही उडना और चहकना आरम्भ कर देता है। इसकी दूसरी विशेषता यह है कि इसकी चोंच नही होती बल्कि पशुओ की तरह चौडा मुंह होता है।

इसके कई भेद है, पर चार मुख्य हैं—१ भारतीय लम्बी दुम वाला चिप्पक, २ भारतीय जगली चिप्पक, ३ फ्रैंकलिन चिप्पक तथा ४. साधारण भारतीय चिप्पक। पर इस देश के वनो में ये सभी पाये जाते हैं। साधारणतया देहात के वृक्षो तथा शहर के बाग-बगीचो में भी मिलते है। पहली किस्म का चिप्पक सबसे बडा है—प्राय. १२॥ इच लम्बा, अतिम किस्म का सबसे छोटा होता है—करीब ६॥ इच का शेष इनके बीच के हैं।

इनकी बोलिया भिन्न होती है तथा इनके बोलने से ही हम समझ सकते हैं कि कौन किस जाति का चिप्पक है। सन्ध्या-समय जब धरती पर घना अधियारा छा जाता है, आकाश में तारे उग आते है, मद-मद पवन बहने लगता है, तो यह पत्तो की ओट में से बाहर निकल कर किसी खुली डाल अथवा खम्भे पर आ बैठता है तथा बोलना शुरू कर देता है—पहले एक, फिर दूसरा, फिर तीसरा—इस तरह कई एक साथ बोल उठते है और फिर तो क्षणो में इनका सामूहिक गान छिड़ जाता है। इनकी बोली सुहावनी होती है, कर्णकटु नही। अत

अनेक पक्षी-प्रेमी इन्हें सुनने को सन्ध्या-काल से ही बाग-बगीचों में जा बैठते हैं। साधारण श्रेणी के चिप्पक अधिकतर बाग-बगीचो में पेडों के नीचे सूखी पत्तियो पर बैठकर सुर अलापते हैं, बाकी पेड की डालों से। इनकी आवाज में भी भिन्नता होती ह। इनकी बोलियां ज्यादातर फरवरी से लेकर जुलाई के महीने तक सुनी जाती हैं। इन्हीं दिनो ये जोडा भी बाधते और अडे देते है।

चिप्पक स्वभाव से ही बडा शर्मीला पक्षी है। मानव-दृष्टि से वह अपने को दूर ही रखना चाहता है। एक सज्जन का, जिन्हे पक्षियो का फोटो उतारने का खास शौक है, कहना है कि उन्हें एक बार घोंसले में बैठे हुए चिप्पक की तस्वीर उतारने की इच्छा हुई। ढूढ-ढाढ कर एक चिप्पक के घोसले पर पहुँचे। घोंसले में चिप्पक के नवजात शिशु तो थे, पर मादा न थी। फिर दूसरे रोज पहुँचे। मादा उन्हें देखते ही उड चली। तीसरे दिन भी कुछ ऐसा ही हुआ। चौथे दिन उन्होने देखा कि घोसले में न मादा है न उसके शिशु। वह उन्हें लेकर अन्यत्र चली गयी थी।

●

तीतर

पवन थक्यो, तीतर लवै
गुरु सदेवै नेह,
कहत भड्डरी जोर से,
ता दिन बरसै मेह।

वहुत दिन हुए बच्चो की एक पत्रिका में तीतर पर एक तुकबन्दी थी जिसकी प्रथम दो पंक्तियां इस प्रकार थी—

लड़को, इस झाड़ी के भीतर
छिपा हुआ है जोड़ा तीतर,

और यह ठीक ही है कि तीतर अधिकतर झाडियो में ही छिपा रहता है। खुली जगहो पर कभी-कभी ही नजर आता है। अपने मटमैले रग के कारण यह आसानी से पहचाना भी नही जाता (चित्र सख्या : ५४)।

"तीन उडान में तीतर पकडाता है"—यह कहावत मशहूर है और इसमें सचाई भी है। तीतर में उडने की शक्ति कम है। ज्यादातर यह पावो पर दौडता चलता है। अतएव यदि आप इसे उडायें, तो दो-तीन बार उड कर यह शीघ्र ही थक कर कही छिप जायेगा। यही वक्त है जब पकडने वाले इस पर जाल फेंक कर इसे आसानी से पकड लेते हैं।

यूरोप और एशिया के प्राय सभी देशों में यह पाया जाता है : इसकी कई उप-जातिया हैं, जिनमें इस देश में प्राप्य दो मुख्य हैं—एक चितकबरा, दूसरा काला : अधिक सख्या में चितकबरा तीतर ही पाया जाता है। इसका रग मुख्यत बादामी होता है, पर शरीर पर कुछ स्याह और सफेद धारिया बनी होती है, और इसीलिए

यह चितकवरा कहा जाता है । सिर का रग कत्थई जैसा होता है, डैने के कुछ परो का भी । पैर लाल होते है । नर और मादा की रूप-रेखा में अन्तर केवल इतना ही है कि नर के पजो में ऊपर एक काटा रहता है, जिसका उपयोग यह लडते वक्त ही करता है । यह लडाकू पक्षियो में है और यही कारण है कि मानव-समाज में इसका लालन-पालन बडे आदर के साथ होता रहा है । पालतू तीतर बडे निडर होते है तथा पालने वाले के पीछे-पीछे खूब दौडते फिरते है । अक्सर आप देखेंगे कि तीतर पालने वाला हाथ में पिंजडा लिये घूम रहा है और उसके पीछे तीतर दौड रहा है । बिहार के देवघर नामक एक शहर में तीतर पालने की परिपाटी प्राचीन काल से चली आ रही है । सडको पर वहा बहुधा दर्जनो आदमियो को आप तीतर का पिंजडा हाथ में लिये घूमते पायेंगे ।

बुलबुल और बटेर की तरह ही तीतर खूब लडते है । लडते-लडते प्राण देने और लेने तक को तैयार हो जाते है । आप इन्हे लाख पचशील के सिद्धात बताय, ये सुनने से रहे । सारे मसले लडकर ही तय करना चाहते है, बातचीत से, किसी गोल मेज के चारो ओर बैठकर नहीं ।

जमीन के किसी गड्ढे में घास-फूस रख कर मादा अडे देती है जिनकी सख्या ६ से ९ तक होती है । अडा देने का समय फरवरी से जून तक है । तीतर में एक विशेषता है जो अन्य पक्षियो में नही होती। वह अपनी सन्तान के सग जोडा नही बाधता । नर और मादा में यदि एक मर गया तो दूसरा अविवाहित रहेगा पर अपनी सन्तति को जोडा न बनायगा । हा, यदि किसी दूसरे वश का नर या मादा मिल जाए तो जोडा बाधेगा, अन्यथा जीवन-यात्रा में एकाकी ही चलता रहेगा । भाई-बहन के बीच भी जोडा बाधने का रिवाज इस पक्षी में नही है । इस सम्बन्ध में इनका नियम बडा कडा है और इस पर ये बडी सख्ती के साथ अमल करते है । इनके झुड होते है । एक झुड वाले दूसरे झुड वालो के साथ ही जोडा बाधते है, आपस में नही । बहुधा ऐसा देखा गया है कि मादा न मिलने के कारण नर आजन्म अविवाहित रह गया है पर उसने "समगोत्री" के सग जोडा नही बाधा है । इनके जोडे स्थायी होते है ।

काला तीतर ज्यादातर नदी के कछारो में पाया जाता है । इसके नर और मादा में थोडा-सा अन्तर है । नर का ऊपरी हिस्सा काला होता है जिस पर सफेद सीधी धारिया और चित्ते पडे होते है, गले में कत्थई रग का कठा होता है, सीना काला तथा नीचे का भाग गहरा भूरा होता है जिसमें सफेद धारिया बनी होती है । डैने कत्थई रग के होते है । मादा के ऊपरी हिस्से में काले की जगह कत्थई रग होता है, गले का कठा भूरा तथा निचला हिस्सा बादामी होता है ।

स्वभाव में पूर्वोक्त दोनो किस्मो में कोई खास फर्क नही है । बोली दोनो की बडी तेज होती है, पर आवाज में भिन्नता है । जहा चितकवरा "पतीला", "पतीला" चिल्लाया करता है, वहा काला कहता है—'सुभान तेरी कुदरत', पर यथार्थ में ये क्या कहते है यह वे ही बता सकेंगे जो खग-भाषा के पडित है ।

शकुन विद्या के पडितो का कहना है कि यात्रा-समाप्ति के समय तीतर किस ओर उडता है, इस पर यात्रा की सफलता-असफलता निर्भर करती है । डाक कहते है—

पुर पैठत जो वाम ते, तीतर दक्षिण जाय,
कहयि 'डाक' शुभ शकुन यह, मिलतौ सब मन भाय ।

नगर में प्रवेश करते समय यदि तीतर वाम पार्श्व से दक्षिण पार्श्व की ओर उडता हुआ दृष्टिगोचर हो, तो समझिये कि निश्चय ही अभिलषित वस्तु की प्राप्ति होगी ।

भटतीतर तथा लवा

भटतीतर, जिसे अग्रेजी में सेंडग्राउज़ कहते है, तीतर और फाखता की मिलावट से वना हुआ एक पक्षी है जो एकान्त मैदान में गोल वाध कर अक्सर चरता हुआ नजर आता है (चित्र सख्या : २८) । जगल-झाडियो की अपेक्षा उसे खुला मैदान अधिक प्रिय है, शायद इसलिए कि खुले मैदान में शिकारियो को यह दूर ही से देख लेता है और उन्हे देखते ही उड जाता है ।

इसके नर और मादा के रग में कुछ अन्तर है । नर का रग वालू जैसा होता है तथा दुम के कुछ पर लम्बे होते है । गले पर हल्का पीलापन होता है । पेट कत्यई रग का होता है । दुम और डैनो का वाहरी हिस्सा वादामी होता है । मादा वादामी रग की होती है तथा नर की अपेक्षा अधिक चितकवरी । भटतीतर अपने वसेरे मैदान में वनाते है जहा छिछले गड्ढो मे मादा अडे देती है । वे गोल वाधकर रहते है ।

छोटे भटतीतर तो यहा के वारहमासी पक्षी है, पर वडे भटतीतर शीतकाल में ही आते है और फिर जाडो के समाप्त होते-न-होते पहाडो की ओर लौट जाते है । भूरा गला, पेट के नीचे कालापन, पीठ पर पीले चिह्न, इनकी ये पहचान है ।

शिकारी पक्षियो में लवा सवसे छोटे है, छोटे तीतर के समान है । कद में प्राय छ इच के होते है । इनके वास-स्थान खेत के पास की झाडिया होती है जहा से निकल कर ये सुविधापूर्वक नाज के दाने चुग सकते है । धान के खेतो में ये जाल की सहायता से पकड़े जाते है ।

रग इनका भूरा होता है और नीचे के हिस्से में छोटी-छोटी काली विन्दिया होती है ।

मादा कद में नर से छोटी होती है तथा इसके माथे पर सफेद-काली धारी नही होती और न सोने पर काली विन्दिया ही ।

झाडी के किसी छिछले गढे में मादा साल मे दो वार अडे देती है जिनकी सख्या १०-११ तक होती है । 'भारत-भारती' के कवि ने लिखा था—

तीतर, लवे, भेड़े, पतगे, वे लड़ाते है कभी,
वे दूसरो के व्यर्थ झगड़े मोल लाते है कभी ।

पता नही राष्ट्रकवि की उपर्युक्त भर्त्सना से या कि जमाने की पलट से, तीतर और लवा के कद्रदान आज इस देश में से विदा हो रहे हैं ।

सोहन चिड़िया

भारतीय शिकार के पक्षियो में हम उस पक्षी को नही भूल सकते है जिसे अग्रेजी में ग्रेट इडियन बस्टार्ड, पजाब में तुगपर, दक्षिण में मालघोक तथा बुन्देलखड के इलाकों में हुकना अथवा 'सोहन चिडिया' के नाम से पुकारते है (चित्र सख्या : २६) । यह पहाडो पर नही बल्कि समतल क्षेत्रो के खुले मैदान की झाडियो में पाया जाता है। दकन, मैसूर, राजस्थान, हरियाना, बुन्देलखड के जगलो में यह खास तौर पर मिलता है ।
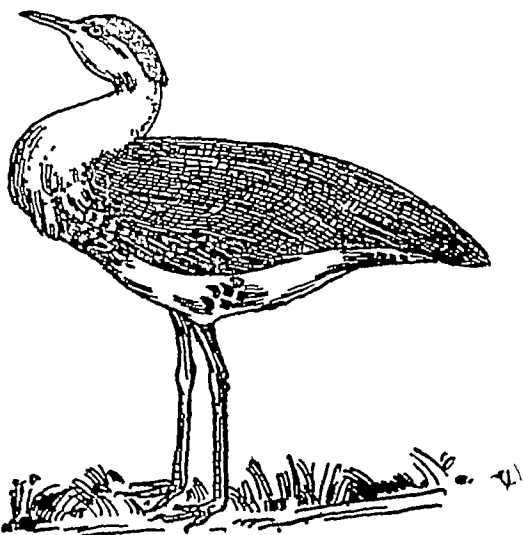
कद में यह बहुत छोटे शुतुरमुर्ग जैसा और लगभग उतने ही वजन का, रग मे बदन का ऊपरी हिस्सा काली लकीरो से आच्छन्न बादामी तथा नीचे का सफेद होता है । सर के ऊपर काले रग का तुर्रा इसका सौन्दर्य-वर्द्धन करता है। दात काफी लम्बे होते है । उडने में यह तेज होता है, दौडने में और भी अधिक ।

नर और मादा की रूप-रेखा में कोई अन्तर नही है । हा, नर की अपेक्षा मादा कद में कुछ छोटी होती है ।

जोडा बाधने के समय नर गला फुला-फुला कर, पख फैला कर ज़ोर से आवाज़ करता है और शायद इसी कारण से बुन्देलखड के लोग इसे हुकना नाम से पुकारते है । नर का बहुपत्नीत्व विख्यात है ।

घोसला बनाना, अडे देना आदि, सभी कामो में उसकी बटेर से बड़ी समानता है ।

खेद है कि शिकार का इतना सुन्दर पक्षी इस देश से क्रमश अन्तर्हित होता जा रहा है । मास-भक्षियो को इसका गोश्त अतिशय रुचिकर है और इनके वश-विनाश का निस्सन्देह यही मुख्य कारण है ।

●

चकोर

ऐ बुलबुले गोइदा व ए फक्के खिरामाँ,
मं खुर कि ज़े मं बाव हमेशा परो बालत ।

—सूफी कवि सनाई ।

—ऐ सुन्दर राग अलापने वाली बुलबुल और तेज चलने वाला कवक (चकोर), तू प्रेम में मस्त बना रह। प्रेम की यह मदिरा तेरे परो को हमेशा शक्ति देती रहेगी।

औरों की क्या कहिए, निज रुचि ही एकता नहीं रखती,
चन्द्रामृत पी कर तू चकोरि, अंगार है चखती।

जिसके सम्बन्ध में "साकेत" के कवि की यह उक्ति है वह एक अद्भुत पक्षी है जो शीतल चन्द्रमयूष का भी प्रेमी है, और जलते हुए अगारे का भी। कहते हैं, आकाश में जब चाद उग आता है और उसकी धवल किरणें धरातल पर विकीर्ण हो जाती हैं, तो यह निर्निमेष नेत्रो से देर तक उसकी ओर देखता रहता है, मानो उसकी शीतलता का पान कर रहा हो। और प्रकृति की विडम्बना तो देखिए, दूसरी ओर जलते हुए अगारो को भी यदि पा जाता है तो फौरन गले के नीचे उतार डालता है। इस देश के प्राचीन साहित्य में इसने अपनी इसी अनोखी प्रवृत्ति के कारण प्रमुख स्थान प्राप्त किया है। सस्कृत भाषा का शायद ही कोई कवि होगा जिसने अपने काव्य में चकोर की चर्चा न की हो। देखिए, महाकवि जयदेव ने, किस सुन्दर ढग से इसकी चर्चा की है। भगवान कृष्ण राधा से कहते हैं—

वदसि यदि किंचिदपि दन्तरुचि कौमुदी
हरति दरतिमिरमति घोरम्।
स्फुरदधरसीधवे तव वदनचन्द्रमा
रोचयतु लोचनचकोरम्।

—हे चारुशीले! जरा बोलो तो सही, ताकि यह दन्तज्योत्स्ना खिल उठे तथा मेरे मन के तिमिर को मिटा दे, और—

सुधा-सम अधर-मधु, वदन-चन्द्रमा से
लगे लोल लोचन चकोरक बने से।

लोक गीतो में भी चकोर ने स्थान पाया है, यथा—

आसिन शरद जनावत जोर,
उगय चांदनी दुख बर जोर,
बोलल हे सखि, कीर-चकोर,
कहमा गेल मोरा नन्दकिशोर

चन्द्र-ज्योत्स्ना से यह अपनी प्यास बुझाता है कि नही, इसका मुझे ज्ञान नहीं। पर आग के छोटे-छोटे टुकडो को तो खाते मैंने स्वय देखा है। एक अर्सा हुआ, मेरे एक मित्र ने एक चकोर पाल रखा था। मुझे विश्वास न था कि चकोर सचमुच ही अगारो को खाता है, और मैंने एक बार उनसे अपने इस अविश्वास का जिक्र किया। उन्होने मुझे विश्वास दिलाने को फौरन आग के कुछ टुकडे मगवाये और उसके सामने

रख दिए । मै यह देख कर दग रह गया कि वह उन टुकडो को क्षणो में ही गले के नीचे उतार गया ।

खैर, तो यह चकोर पक्षी है किस जाति का ?

आकार-प्रकार में यह बहुत कुछ तीतर से मिलता है । यह उसी जाति का एक पक्षी है, पर रग में यह उससे भिन्न है । तीतर की तरह यह चितकबरा नही होता और न इसकी प्रकृति ही उसकी तरह लडाकू है । ससार के अधिकाश देशो—यूरोप, पश्चिमी तथा मध्य एशिया आदि—में इसकी चार उपजातिया पाई जाती है जिनके रग-रूप में थोडी भिन्नता है । यूरोप में यह "ग्रीक-पार्ट्रिज" के नाम से मशहूर है ।

फारस तथा उसके पडोसी देशो में तो ये झुड के झुड पाये जाते हैं । डा० हेन्डरसन ने लिखा है—" यारकन्द में प्राय दस-पन्द्रह मील चौडा एक क्षेत्र है जहा झुड के झुड चकोर रहते है । इन्हें पकडने में यारकन्द वाले बन्दूको का इस्तेमाल पसन्द नही करते (अर्थात् हाथ से या जाल के सहारे पकडना ज्यादा पसन्द करते हैं ।)"

मेजर जॉन कहते हैं—"फारस का यह सबसे परिचित 'पार्ट्रिज' जाति का पक्षी है ।"

तिब्बत में १६,००० फुट की ऊचाई तक यह प्राप्य है । चकोर की एक यह विशेषता है कि यह गर्म से गर्म इलाको मे भी रहता है और शीतप्रधान देशो में भी । इस देश के उन घने जगलो में, जहा काफी गर्मी पडती है, यह पाया जाता है, साथ ही, हिमालय के ठडे प्रान्तरों में भी । जम्मू से श्रीनगर के रास्ते में आज से प्राय: तीस वर्ष पूर्व मैंने इनके अनेक झुड देखे थे ।

चकोर के रग में राख और बादाम के रगो का सुखद सम्मिश्रण है, चेहरे पर कपोल से लेकर कठ तक, आखो को लेते हुए, एक गाढ़ा काला चक्कर होता है, पाख का अधिकाश हिस्सा बादामी होता है, पार्श्व-भागो पर काले तथा अखरोट के रग की लकीरे रहती हैं । चक्कर के अन्दर का हिस्सा सफेद होता है और ठोडी पर एक काला बिन्दु रहता है । चोच तथा पैर लाल रग के तथा चगुल बादामी होते है । नर के पाव की पिछली अगुली के ऊपर का हिस्सा उभडा हुआ-सा होता है (चित्र सख्या ३०; ५५) ।

ऐसे तो ये दल बाधकर—गिरोह में—रहा करते है, पर जब प्रजनन-काल आता है तो इनके अलग-अलग जोडे हो जाते हैं । अडे देने का समय नीचे के प्रदेशो में अप्रैल से अगस्त तक और पहाडो पर अगस्त के बाद है । जमीन पर किसी पत्थर अथवा घास-फूस की आड में ये अडे देते है जिनकी सख्या ८ से १२ तक होती है । अडो के चारो ओर घास-फूस का एक घेरा डाल लेते है । इनकी उड्डीयन-शक्ति कमजोर होती है, अतएव थोडी दूर उडते हैं, बैठ जाते है, फिर उडते ह—यही इनका नियम है ।

उत्तर-पश्चिम भारत में ये विशेष रूप से पाए जाते है । नेपाल तथा कश्मीर में भी ।

चकोर आसानी के साथ पाले जाते हैं तथा पालतू होकर ये उसी तरह पालने

वाले के साथ-साथ विचरते हैं जैसे कि पालतू कुत्ते। तब इन्हें पिंजड़े में रखने की आवश्यकता नहीं रह जाती।

यात्रा-काल में चकोर का वोलना शुभ माना गया है। डाक कहते हैं—

वाम भाग में बोल चकोर,
सन्मुख दाहिन वोले मोर,
कहथि "डाक" शकुन वर जोर,
वैसने लइ धनधाम बटोर।

अर्थात्, वायीं ओर यदि चकोर और सामने तथा दाए मोर वोले, तो 'डाक' कहते है कि यात्रा का योग प्रवल है, वैठे-वैठे ही अपरिमित धन की प्राप्ति होगी। पता नही, हमारे देश के व्यापारी डाक के इस कथन का कहा तक उपयोग करते है, चकोर और मोर पाल-पाल कर रखते हैं या नही।

चकोर इस वात की शिक्षा देते है कि हमें सुख तथा दु:ख-ताप को समभाव से स्वीकार करना चाहिए, चकोर-सा ही हमें भी स्थितप्रज्ञ होना चाहिए। चन्द्रमयूष हुए तो क्या, और अगार हुए तो क्या—हमारे लिए ये दोनो ही समान होने चाहिए।

पर जहा प्रेम का प्रश्न है, वह अपने प्रियतम के सामने वाकी सभी चीजो को तुच्छ मानता है—आज एक से, कल दूसरे से नेह लगाने वाला नही है। आखिर चन्द्र और सूर्य दोनो ही तो व्योम-मडल के दीप्तिमान नक्षत्र हैं, पर चाद से प्रेम करके वह जाज्वल्यमान सूर्य की ओर नही दौडता। चकोर के लिए चन्द्रमा ही जीवन-प्राण है, रवि को वह शत्रु के समान ही समझता है—

ऊधौ तुम अति चतुर सुजान,
जे पहले रँगो स्याम रंग तिन्हुं न चढ़ै रग आन।
बे लोचन जो विरद किए स्रुति गावत एक समान,
भेद चकोर कियो तिनहूं में विधु प्रीतम, रिपु भान।

●

मोर

शरत्काल का समय है। जल, थल, आकाश सभी स्वच्छ हो गए हैं। सहसा वृन्दारण्य में वशी की ध्वनि जाग उठती है, गोपिया सुनती है और सोचती हैं—

वर्हापीड़ नटवर वपुः कर्णयोः कर्णिकारम्
विभ्रद्वास. कनककपिशं वैजयन्तीं च मालाम्,
रन्ध्रान्वेणोरंधरसुधया पूरयन्गोपवृन्दं—
वृन्दारण्यं स्वपदरमणं प्राविशद्गीतकीर्तिः

—मोर मुकुट धारण किए, कानो में कनेर का फूल लगाए, सुवर्ण के समान प्रकाशमान पीताम्बर पहने और गले में वैजयन्ती माला धारण किए हुए नटवर वेश-धारी श्री कृष्ण ने वासुरी के छिद्रो को अपने अवरामृत से पूर्ण करते हुए निज

चरण-चिन्हो से सुशोभित वृन्दावन में ग्वालवालों के साथ उनके मुख से अपना सुयश सुनते हुए मालूम होता है कि प्रवेश किया है ।

(श्री मद्भागवत, १०।२६)

जिस पक्षी के पुच्छ को स्वय भगवान श्री कृष्ण सर पर धारण करे वह अमरता क्यो न पाए ? तभी तो भारतीय भक्ति–साहित्य में जो स्थान इसे प्राप्त हुआ वह किसी अन्य पक्षी को नसीब न हो सका । कृष्ण साहित्य तो इससे भरा-पूरा है ही, अन्य साहित्यो में भी इसने उच्च स्थान पाया है ।

और सुनिए, एक अन्य जिज्ञासु कवि मोर से उसके अनुपम सौन्दर्य के तथा भाग्य के सम्वन्ध में क्या पूछता है—

> **केका कर्णामृत ते सकुसुमकबरीकान्तिहारा. कलापा.**
> **कठच्छाया पुरारेर्गलरुचिरुचिरा सौहृदं मेघसघैः**
> **विश्वद्वेषिद्विजिह्वस्फुरदुरुपिशितैर्नित्यमाहारवृत्ति**
> **कै·पुण्यै· प्राप्तमेतत्सकलमपि सखे चित्रवृत्त मयूर ।**

—तेरी कूक कानो को अमृत के समान लगती है, कामिनी के जूडापाश में लगे हुए सुन्दर पुष्प-जाल की कान्ति उपहरण करने वाली तो तेरी पूछ है, महादेव के कण्ठ के समान तेरी नीलिमा है, मेघो के साथ तेरी मैत्री है, सर्प, जिसका ससार मात्र से विद्वेष है, तेरे नित्य के आहार है। मित्र मयूर ! वता तो सही, किस पुण्य से तूने इन्हे प्राप्त किया ?

गरज यह कि इस देश के काव्य-कानन में क्रीडा करने वाले कवियो ने किसी-न-किसी प्रसग में इस पक्षी की अवश्य ही चर्चा की है । काव्य में, उर्मिला की भाति, यह उपेक्षित न हुआ ।

कहने की आवश्यकता नही कि इसका सौन्दर्य-गुण ही इसका मुख्य कारण है । भगवान श्रीकृष्ण से लेकर छोटे-वडे कवियो तक ने यदि इसकी कद्र की—इसे सर-आखो पर चढ़ाया—तो कोई आश्चर्य नही और न यह कोई अनौचित्य अथवा पक्षपात की ही वात है । सौन्दर्य की पूजा कहा नही होती ! वकौल कीट्स के, सौन्दर्य में ही तो शाश्वत आनन्द है । सौन्दर्यपूर्ण वस्तुए कभी शून्यता को प्राप्त नही हो सकती है—

> A thing of beauty is a joy forever
> Its loveliness increases, it will never
> Perish into nothingness

महाकवि माघ के शब्दो में, हम जितनी वार देखें, उतनी ही वार इनमें नवीनता का ही अनुभव करेंगे ।

> **क्षणे क्षणे यन्नवतामुपैति**
> **तदेव रूप रमणीयताया. ।**

तभी तो मोर के पख ने एक वार वडे गर्व-भरे शब्दो में उससे कहा था—हे मोर! तू भले ही हमे छोड दे, इसकी चिन्ता नही, क्योकि इससे तेरा ही नुक्सान होगा—तेरी शोभा नष्ट होगी । हमारे लिए तो फिर भी राजा के मुकुट में ही स्थान रहेगा । जो क्षति होगी, तेरी—

लिखा था—"इस इलाके के गावो में मोर भरे पडे है । मैंने सडक के किनारे की एक झोपडी के पास ४६ मोर एक साथ दाना चुगते हुए देखे थे । ऐसा प्रतीत होता था मानो यहा के निवासियो के सग, इनकी वडी मैत्री है ।"

भगवान कृष्ण की लीलाभूमि व्रज तथा अडोस-पडोस के प्रदेश राजस्थान में मोरो का इतनी वडी सख्या में होना आश्चर्य की वात नही है, पर चित्रकूट में पता नही इनकी इतनी सख्या क्योकर हुई । श्री रामचन्द्र की जीवन-लीला में इन्होने कोई प्रमुख हिस्सा नही वँटाया, फिर भी चित्रकूट के पहाड और वन इन्हे सदा से प्यारे लगते रहे है । वनवास के दिनो में चित्रकूट पर निवास करते हुए श्री रामचन्द्र ने वर्षारम्भ होते ही लक्ष्मण से कहा था—

'लछिमन देखहु मोरगन नाचत वारिद पेखि ।'

नदी और झील के इलाके मोर को ज्यादा पसद है और सन्ध्या होने के पहले झुड के झुड मोर इनके किनारो पर पानी पीने को आ जुटते हैं ।

पहाडो पर ये कम नजर आते हैं, खासकर उन पहाडो पर जहा सर्दी अधिक पडती है । पाच-छ हजार फुट से ऊपर तो ये कतई नजर नही आते । श्रीलका, वर्मा और अफ्रीका में भी ये वहुतायत से पाए जाते है । अफ्रीका का श्वेत-मयूर जगद्विख्यात है । इसका रग विल्कुल सफेद होता है, मानो इसके पर ढाका के मलमल के वने हुए हो या चमकदार रेशम के । पश्चिम भारत में भी कही-कही ये पाये गए है ।

हर देश के मोर एक-से नही होते। मसलन विएत नाम में पाये जाने वाले मोरो की गर्दन काली होती है । यह जापान में उपलब्ध न होकर भी "जापानी मोर" के नाम से मशहूर है ।

जावा के मोर की चोटी औरो से भिन्न होती है, रग में भी फर्क है । असम के मोर में नीलापन कम, हरापन और सुनहलापन अधिक होता है ।

यूरोप में मोर का प्रवेश सिकन्दर वादशाह के जमाने में हुआ । ऐसे तो ईसा से ५०० वर्ष पूर्व प्राचीन यूनान के एक कवि अरिस्टोफेन के काव्य में मोर का उल्लेख आता है, पर विद्वानो का मत है कि भारत से लौटते समय सिकन्दर कुछ मोर साथ लेता गया और उनसे ही मोर-वश का विस्तार समस्त यूरोप में हुआ । फिर तो मध्ययुगीन यूरोप के देशो में कोई भी वह दावत सफल नही मानी जाने लगी जिसमें मोर का मास न हो । मानव-क्रूरता को तो देखिए, मोर जैसे सुन्दर, कलापूर्ण पक्षी को भी उसने अपने आहार की सामग्री वना डाला ।

मोरो का पूर्व से व्यापारियो के द्वारा पश्चिम ले जाया जाना वाइविल (ओल्ड टेस्टामेंट) से भी सिद्ध होता है । उसमें लिखा है, कि वादशाह सुलेमान के शासनकाल में प्रति तीसरे वर्ष पूर्व के जहाज सोना, चादी, हाथी दात, वन्दर तथा मोर लाया करते थे ।

११वी सदी में ईराक आदि देशो में भी भारत से मोर ला कर मोर की नसल तैयार करने की चेष्टा हुई, पर ये मोर भारत के मोरो जैसे सुन्दर न हो सके ।

सक्षेप में मोर की यही कहानी है । हमें इस वात का गौरव है कि उसके जैसा सुन्दर पक्षी मुख्यत हमारे देश का निवासी है ।

मृदु झरने हैं रचे रुचिर सरिताओं के हित,
हाय, अन्त में किया उन्हें तीखा दे सागर !

अन्य पक्षियों की भांति मोर न तो पेड़ पर घोंसला बनाता है और न मोर औ मोरनी का कोई जोड़ा ही होता है। अक्सर एक मोर के साथ-साथ अनेक मोरनिय उसके इर्द-गिर्द नजर आती हैं और वह उनके बीच उसी तरह शोभायमान होता है जैं कि हथनियों के बीच कोई विशाल हाथी।

वर्षाकाल में मोर का मोरनियों के साथ विचरना एक ऐसा दृश्य है जो आंखों क बड़ा भला लगता है। पर, जैसा कि हम पहले कह आए है, नाचता मोर ही है, मोरनी नही और न मयूरी देखने में ही नर की तरह खूबसूरत होती है, फिर भी कल्पना के आधार प हिन्दी साहित्य में मयूरी के नाचने का भी अनेक स्थलों पर उल्लेख आया है।

मोरनी झाड़ियों के बीच, जमीन पर (कभी-कभी टूटे-फूटे मकानों की छत प भी) अंडे देती है जो संख्या में दो से छ तक होते हैं। ये हाथीदांत जैसे सफेद होते है इन्हें केवल मादा ही सेती है। एक महीने के बाद बच्चे निकलते होते हैं। अंडा दे का समय जनवरी से अक्तूबर तक है।

अपने बच्चों के प्रति मोरनी के हृदय में अगाध स्नेह होता है जिसकी मिसा और किसी पक्षी में नहीं मिलती। मोर के बच्चों के सर पर की कलगी का निकलन घोर कष्टप्रद है—मानव-शिशु के दांत निकलने की तरह—तथा बहुतेरे इस पीड़ा के सह में असमर्थ होकर प्राण तक छोड़ देते है।

कबूतर की तरह मोर भी बहुत जल्द पालतू हो जाता है। आपने दो-चा बार दाने चुगाए, फिर तो यह हर रोज आपके पास आकर दाने की प्रतीक्षा कर लगेगा तथा जब-तब अपने नृत्यों से आपका मनोरंजन भी करेगा। आपके घर आंगन में विचरता फिरेगा।

मोर की एक जबर्दस्त उपयोगिता भी है। यह सांपों का दुश्मन है। कीड़े मकोड़े तो खाता ही है, सांप तक को निगल जाता है। अतएव जहां मोर होते हैं, सा मुश्किल से नजर आते है। कहा भी है, 'अहि-कराल केकी भकै, मधुर अलापनि हारि। इस दृष्टि से मोर का पालना उपयोगी है, पर बाग के फूलों का—खास कर कलियों का— भी यह जबर्दस्त दुश्मन है। यह उनका संहार कर डालता है, उन्हे बड़े चाव से खात है और वह भी भर-पेट। तार की जालियों से घिरे हुए किसी घर में इन्हे पालना ह इससे बचाव का उपाय है।

भारतवर्ष के अधिकांश भागों में ये पाये जाते है। सिन्ध, उत्तर-पश्चिमीय सीमाप्रान्त तथा उत्तर-पूर्वीय असम में मोर के दर्शन दुर्लभ है। पर दूसरी तरफ राजस्थान, व्रज तथा चित्रकूट के इलाकों में इनका बाहुल्य है, जहां जाइए, गिरोह के गिरोह नजर आएंगे। व्रज के जंगलों का जैसे-जैसे संहार होता गया, मोरों की संख्या मे भी कमी आती गई। फिर भी वृन्दावन में सवेरा होते ही हजारों मोर एक साथ बोलना शुरू कर देते है तथा नगर-निवासियों की नींद हराम हो जाती है, उन्हे बरबस ब्राह्ममुहूर्त मे उठना पड़ जाता है।

आज से लगभग सवा सौ साल पहले मेजर स्लिमन ने व्रज की यात्रा की थी और

लिखा था—"इस इलाके के गावों में मोर भरे पडे है । मैंने सडक के किनारे की एक झोपडी के पास ४६ मोर एक साथ दाना चुगते हुए देखे थे । ऐसा प्रतीत होता था मानो यहा के निवासियो के सग, इनकी बडी मैत्री है ।"

भगवान कृष्ण की लीलाभूमि व्रज तथा अडोस-पडोस के प्रदेश राजस्थान में मोरो का इतनी बडी सख्या में होना आश्चर्य की वात नही है, पर चित्रकूट में पता नहीं इनकी इतनी सख्या क्योकर हुई । श्री रामचन्द्र की जीवन-लीला में इन्होंने कोई प्रमुख हिस्सा नही वँटाया, फिर भी चित्रकूट के पहाड और वन इन्हे सदा से प्यारे लगते रहे हैं । वनवास के दिनो में चित्रकूट पर निवास करते हुए श्री रामचन्द्र ने वर्षारम्भ होते ही लक्ष्मण से कहा था—

'लछिमन देखहु मोरगन नाचत वारिद पेखि ।'

नदी और झील के इलाके मोर को ज्यादा पसद है और सन्ध्या होने के पहले झुड के झुड मोर इनके किनारो पर पानी पीने को आ जुटते हैं ।

पहाडो पर ये कम नजर आते हैं, खासकर उन पहाडो पर जहा सर्दी अधिक पडती है । पाच-छ हजार फुट से ऊपर तो ये कतई नजर नही आते । श्रीलका, वर्मा और अफ्रीका में भी ये वहुतायत से पाए जाते हैं । अफ्रीका का श्वेत-मयूर जगद्विख्यात है । इसका रग विल्कुल सफेद होता है, मानो इसके पर ढाका के मलमल के वने हुए हो या चमकदार रेशम के । पश्चिम भारत में भी कही-कही ये पाये गए हैं ।

हर देश के मोर एक-से नही होते । मसलन विएत नाम में पाये जाने वाले मोरो की गर्दन काली होती है । यह जापान में उपलब्ध न होकर भी "जापानी मोर" के नाम से मशहूर है ।

जावा के मोर की चोटी औरों से भिन्न होती है, रग में भी फर्क है । असम के मोर में नीलापन कम, हरापन और सुनहलापन अधिक होता है ।

यूरोप में मोर का प्रवेश सिकन्दर वादशाह के जमाने में हुआ । ऐसे तो ईसा से ५०० वर्ष पूर्व प्राचीन यूनान के एक कवि अरिस्टोफेन के काव्य में मोर का उल्लेख आता है, पर विद्वानो का मत है कि भारत से लौटते समय सिकन्दर कुछ मोर साथ लेता गया और उनसे ही मोर-वश का विस्तार समस्त यूरोप में हुआ । फिर तो मध्ययुगीन यूरोप के देशो में कोई भी वह दावत सफल नही मानी जाने लगी जिसमें मोर का मास न हो । मानव-क्रूरता को तो देखिए, मोर जैसे सुन्दर, कलापूर्ण पक्षी को भी उसने अपने आहार की सामग्री वना डाला ।

मोरो का पूर्व से व्यापारियो के द्वारा पश्चिम ले जाया जाना वाइविल (ओल्ड टेस्टामेंट) से भी सिद्ध होता है । उसमें लिखा है, कि वादशाह सुलेमान के शासनकाल में प्रति तीसरे वर्ष पूर्व के जहाज सोना, चादी, हाथी दात, वन्दर तथा मोर लाया करते थे ।

११वी सदी में ईराक आदि देशो में भी भारत से मोर ला कर मोर की नसल तैयार करने की चेष्टा हुई, पर ये मोर भारत के मोरो जैसे सुन्दर न हो सके ।

सक्षेप में मोर की यही कहानी है । हमें इस वात का गौरव है कि उसके जैसा सुन्दर पक्षी मुख्यत हमारे देश का निवासी है ।

शीतकाल के पक्षी

कहा, कहो, आवास तुम्हारा, किस सुदूर पर्वत के पार—
कैसे सर, कैसी सरिताएं, करते जिनमें विहग विहार ?
प्रणय-भावयुत क्रीडाओ में, रहते खग क्या रत, लवलीन,
क्या न विचरते वधिक वहा है छद्म-कार्य में परम प्रवीण ?
मानसरोवर-सा तज कर सर, तजकर वह स्वर्गीय प्रदेश,
ताल-तलैयों का आकर्षण खींच तुम्हें लाया इस देश !
क्यो ? बोलो, पावन विहंगवर ! हिम पर्वत के वासी, धीर,
उपजाये उर कौन भाव ये, शारदीय सर, सरित समीर ?
किसके नयन-किलकिले-से यह, हुआ ग्रसित मन का तव मीन,
किस विहगी की मिलन-प्रतीक्षा के विहग, तुम हुए अधीन ?

शरद्काल के कुछ दिन वीतते-न-वीतते शीतकाल का पूर्वाभास मिलने लगता है। पश्चिम पवन में एक अजीव स्फूर्तिदायिनी ठडक आ जाती है, सूर्य की किरणें प्रिय लगने लगती हैं। सुवह दूर्वादलो पर मोती की विछी हुई झालरे चमकने लगती है और आधी रात के व्यतीत होते ही चादर ओढने की आवश्यकता प्रतीत होने लगती है, हल्का-सा जाडा लगने लगता है। तभी हम समझ जाते हैं कि अव शीतकाल का प्रादुर्भाव निकट है तथा उसके स्वागत के गीत गाने लगते हैं। महाकवि रवीन्द्रनाथ के शब्दों में जब हम कहते हैं—

आमरा वेधेछि काशेर गुच्छ,
आमरा गेथेछि शेफालिमाला,
नवीन धानेर मंजरी दिये साजिये एनेछि डाला।
एसो गो शारद लक्खी,
तोमार शुभ्र मेघेर रथे,
एसो निर्मल नील पथे,

एसो धौत श्यामल आलो, झलमल,
वन, गिरि, पर्वते,
ऐसो मुकुट परिया श्वेत शतदल
शीतल शिशिर डाला !
झरा मालतीर फूले,
आसन विछानो निभृत कुजे,
भरा गगार कूले।

तो मानो इस स्वागत-गान को सुनकर शरद् काल के आते ही नवीन धान की मजरियो से सुसज्जित डालो से आकर्पित होकर सर्वप्रथम दो-चार छोटे पक्षी पहाडो से यहा उतर आते है और हमारे वाग-वगीचो मे पश्चिम समीर की पहली लहर के साथ-साथ ही एकाएक दृष्टिगोचर होने लगते है ।

लहतोरा—इनमें लहतोरा मुख्य है (चित्र सख्या ४१) जिसके सम्वन्ध में पक्षी-विज्ञान के अनुभवी ज्ञाता कर्नल कनिंघम ने 'कुछ भारतीय मित्र और परिचित' नामक अपनी एक पुस्तक (१९०३) में वडे सुन्दर ढग से लिखा है कि लहतोरो की परिचित ध्वनि कानो में पडते ही मनुष्य यह समझ जाता है कि वे आ पहुँचे, अव दुख-ताप की जगह शीघ्र ही उत्तरी शीतल पवन हमारे शरीर को स्फूर्ति प्रदान करेगी और मह उस गर्मी से परित्राण पायेगे जिसने सावन-भादो में हमें परेशान कर रक्खा था ।

पर यह लहतोरा, जिसे कुछ लोग लहटोरा भी कहते है, खजन जैसा कोई प्रिय पक्षी नही है । यह शिकारी चिडिया है जिसे अग्रेजी में 'कसाई चिडिया' के नाम से भी पुकारते है, क्योकि यह झीगुर आदि छोटे-छोटे कीड-मकोडो को तो खाता ही है छोटे-छोटे पक्षियो को भी वडी वेरहमी के साथ छापा मार कर पकड लेता है तथा उन्हें चीर-फाड कर हजम कर जाता है, और सख्त वदन होने पर उसे पेड के काटो में फँसा कर उसके टुकडे-टुकडे कर डालता है । यही नही, अपने घोसले के पास काटेदार झाडी में यह वहुतेरे कीडे-मकोडो को पकड कर काटो में भोजन के लिए टाग कर रखे रहता है जो एक खासे वूचडखाने का दृश्य उपस्थित करता है (चित्र सख्या . ३९) । कीडे-मकोडे ही नहा, छोटे-छोटे पक्षियो के शिशु भी वहुधा काटो से टँगे दृष्टिगोचर होते है । निस्सन्देह क्रूरता की पराकाष्ठा है इस पक्षी में ।

उत्तर भारत में इसकी तीन उपजातिया पायी जाती हैं जिनमें दुधिया सवसे अधिक प्रसिद्ध है । कद मे औरो की अपेक्षा यह वडा, मैना-जैसा, होता है तथा रग में भूरा, पर नीचे का हिस्सा और डैनो के अनेक पर सफेद होने के कारण, दूर से, खासकर उड्डीयमान अवस्था में, यह श्वेत प्रतीत होता है और शायद इसलिए लोग इसे दुधिया कहते ह ।

दूसरी उपजाति—पचनक—का कद वुलवुल जैसा, रग सफ़ेद, पीठ पर कत्यई होता है । तीसरी उपजाति—मटिया या कजला—की पीठ भी कत्यई रग की होती है, पर पूछ पर सफेदी नही होती । चोच तीनो की अत्यन्त कठोर, मजवूत तथा शकरे की तरह टेढी होती है ।

ववूल के काटेदार वृक्ष इसे ज्यादा पसन्द है । कारण स्पष्ट है ।

रामगंगरा—हवा में शीतलता के आते ही एक दूसरे प्रकार के पक्षी, झुड के झुड, पहाडो से उतर कर हमारे वाग-वगीचो, मैदानो में छा जाते हैं। वे हैं 'रामगंगरा', जिनका दूसरा नाम फुदकी भी है। यह चार-पाच इच की एक छोटी-सी चिडिया है जो पेडो पर रहना अधिक पसन्द करती है। हा, कीडे-मकोडो की तलाश मे जमीन पर भी अक्सर घूमती रहती है। इसका सर, गर्दन और छाती चमकीलो, काले रग की, होती है। गाल और नीचे का हिस्सा सफेद होता है, ऊपर का कजई। चोच कालो और पैर स्लेटी रग के होते हैं। नर और मादा का रूपरखा म कोई अन्तर नही होता। रामगंगरा उन चिडियो में है जिन्हे सुन्दरता का वरदान प्राप्त है। बोली भी इसकी प्यारी है। ग्रीष्म-काल का आभास पाते हा यह उत्तर का ओर, पहाडो को, चल देती है, हमारे बाग-बगीचो को सूना कर जाता है।

सहेली—सहेली भी हमारे शीतकाल के अतिथि-पक्षियो में है (चित्र सख्या . ६०)। जाडा आया नही कि सहेली आ पहुँची। यह अधिकतर गोल बना कर रहती है जिनमे एक-दो नर, वाकी मादाए हुआ करती हैं। इसीलिए लोगो ने इनका एक नाम सहेली आर दूसरा नाम 'सातसखो' रखा है। कद में यह गौरैया जैसी होती है। नर की आधा पीठ का ऊपरी हिस्सा और गले तक का निचला हिस्सा काला, डैनो को छाड़कर वदन का वाका हिस्सा चटक लाल और डैने काले होते हैं। मादा का रूप अधिकाशत नर जैसा होता है, सिवाय इसके कि नर के वदन पर का लाल स्थल मादा म पीत वण का हा जाता है। कीड़-मकोडे इसके भी आहार हैं।

सहला का हा एक छोटी उपजाति है—राजालाल। इसके शरीर का अधिकाश हिस्सा मटमले रग का हाता है, सिफ छाती पर एक लाल धारी होती है, पूछ आर डैना क ज्यादा पर लाल होत हैं। मादा की ठोड़ी काली होती है और परो में से कुछ जद रग के हात ह। यह झुड वाध कर रहती है और अपने सौन्दर्य पर इतराती फिरती है। कहा जमकर नहा वठता . आज यहा, कल वहा, आज इस वाग में, कल उस वाग में। यहा इसका किस्सा ह आर यहा इसका प्रणाला है।

थिरथिरा—'थर-थर कँपनी' या 'थिरथिरा' भी हमारे यहा जाडो के साथ-साथ हो आती है और वसन्त में पुन पवतो के उस पार चल देती है। 'कातिक की रात, थाडी-थोडी सियरात', ऐसे हा दिनो मे इसका आगमन हमारे वाग-वगीचो में होता है। कद मे यह छ इच से ज्यादा नहा, नर धूमिल, काले वर्ण का होता है। जिस समय आश्विन के अन्त और कातिक के शुरू मे यह इस देश में आती है, इसका रग मटमैला रहता

है, पर कुछ ही दिनो के वाद इसकी काया पलट हो जाती है और इसके नये-नये काले रग के पर उग आते हैं। पर मादा का रग वादामी ही वना रहता है। दुम को यह हमेशा हिलाती रहती है और शायद इसी कारण इसका नाम थिरथिरा पडा है।

शरद् ऋतु में जव जल, थल और आकाश स्वच्छ हो जाते हैं, हमारी नदिया और सरोवर भी एक अद्भुत शोभा को प्राप्त होते हैं। पावस की उन्मत्त तरंगों के स्थान पर मन्द-मन्द धाराए मन्थर गति से प्रवाहित होने लगती हैं। जल पंकहीन होकर श्याम रूप धारण कर लेता है और स्वच्छ दर्पण के समान हो जाता है जिसमें नीलाकाश और तटवर्ती वृक्ष और उनकी टहनिया प्रतिविम्वित रहती हैं। नव-विकसित पद्मपुष्पो से उसका तट भी अतिशय शोभाशाली हो जाता है। महाकवि वाल्मीकि के शब्दों में शारदीया सरिता क्षीणकाय होकर भी एक अपर्व प्रभा विस्तारित करती है, ऐसी लगती है मानो नव वस्त्राभूषणो से सुसज्जित, तन्वगी कोई नवप्रसूतिका हो!

सर-सरिताओ के तट भी पक-विहीन, स्वच्छ, हो जाते हैं। सूर्य की किरणो में सिकता के लघु कण चमकते है मानो हीरा के छोटे-छोटे कण हो।

वडी-वडी झीलो के उभय कूलो पर हरे धान के पौधे लहराने लगते हैं तथा नाना प्रकार के कतकी, गजकेसर, तुलसी-फल, कान्हर, लालसर, ललदेइया, वासमती धान[1] फूट पडते हैं, जिन्हें देखकर ग्राम्य वालाए उमग-भरे मन से कहने लगती हैं—

अगहन हे सखि, सारि लुबुधि गेल,
फुटि गेल सभ रंग धानू,

तथा पवन उनके दानो की सुरभि चतुर्दिक फैलाने लगता है, तो ये (झील, सर-सरित, आदि) जल-पक्षियो को वारम्वार अपनी ओर आकर्षित करने लगते है। कविवर पत की यह उक्ति कि—

न जाने सौरभ के मिस कौन,
सदेशा मुझे भेजता मौन,

इन पक्षियो पर पूरी तरह चरितार्थ होने लगती है। और तव ये पक्षी हिमालय के विविध प्रान्तो से दक्षिण दिशा की ओर चल पडते है—

कातिक के आवत ही धानन के डारन पै,
लाख-लाख फूटि आये फूल रात भर मै,

१—मिथिला में उत्पन्न होने वाले विविध प्रकार के धान।

सुन्दर सुवास जाको पवन चुराय चल्यो,
खवर जनायो जाय पछिन के घर मैं ।
दक्खिन दिशा को घाये पातिन रचाय खग,
आये गगन वीच गावत एक स्वर मैं,
छाये चहु ओर मच्यो शोर कल-कूजन सो,
चोच दै खवावै कोक कोकिन अधर मैं ।

गरज यह कि हिमालय की गोद, यानी कश्मीर, तिब्बत, चीन के पहाडी प्रदेशो से ये चिडिया फौरन दक्षिण की ओर उड चलती है और रातोरात भारतवर्ष के विभिन्न प्रातो में, सर, सरिताओ, झीलो के बीच या तटवर्ती खेतो में, छा जाती है और वहाँ उनके अविराम कल-कूजन से एक शोर-सा मच जाता है । सब से पहले तटवर्ती चहा तथा चुपका पक्षियो का आगमन होता है ।

चहा—चहा एक छोटी-सी चिडिया है (चित्र सख्या ६१) जिसकी विभिन्न किस्में है और जो पानी के किनारे रहना पसन्द करती है । यह बडी शर्मीली होती है और हमारी आहट पाकर फौरन उडकर किसी झाडी में जा छिपती है । फिर भी शिकारी इसे अपना निशाना वना ही डालते हैं और वहेलिये इसे अपने जाल में फँसा कर शहरो में बेंचते है । कहते हैं, खाने में इसका गोश्त बडा स्वादिष्ट होता है, यही नही, यूरोप के अनेक देशो में यह अधविश्वास प्रचलित है कि चहा के मास-भक्षण से मनुष्य के दात सोने के हो जाते हैं ।

कहते है, सूर्य की तेज धूप इसे पसन्द नही, इसी से दोपहर मे यह धान के खेतो अथवा पौधो की छाया में छिप जाती है, और गोधूली के समय बाहर निकल कर कीचड वाले स्थानो में आ वैठती है । चाँदनी इसे अतिशय प्रिय है, चाँदनी से उजले खेतो अथवा जलाशय के समीपवर्ती स्थानो में यह आनन्द के साथ आहार-विहार करती है । शिकारी को देखकर वजाय इसके कि यह दूसरे पक्षी की भाति भाग खडी हो, दृढता से जमीन से चिपक जाती है । यदि उडती भी है तो थोडी देर में पुन वही लौट आती है ।

यह १०-११ इच की छोटी-सी चितकवरी चिडिया है जिसके नर और मादा में कोई भेद नही है । इसकी पीठ सफेद पट्टियो तथा धारियो से चित्रित काले रग की होती है। डैने सफेद धारियो से युक्त गाढे भूरे रग के होते हैं । नीचे का समस्त हिस्सा सफेद, और दुम काली होती है । कद और वर्ण भेद से, इसकी भी कई श्रेणिया या उप-जातिया है, पर स्वभाव प्राय सवका एक जैसा ही है ।

इसे आप अक्सर जल के किनारे छिछली जगहो पर वैठी हुई देखेंगे । इसकी चोच की एक खास वनावट है जिसके द्वारा यह कीचड से छोटे-मोटे कीडो को तो पकड लेती है, पर कीच छन कर अलग निकल जाता है । गर्मियो के शुरू होते ही ये चहा पहाडो की ओर चल देती है, पर कुछ रुक भी जाती है जो ग्रीष्म-ताप के वढने पर ही उत्तर की यात्रा करती है । कई वर्ष हुए हमारे एक मित्र के वगीचे में गर्मी के दिनो में भी इनका एक जोडा एक झाडी के पास हमेशा वैठा या उडता हुआ नजर आता था। अन्वेषण से पता चला कि झाडियो की ओट में मादा ने दो अडे—जो छोटे और धारीदार हुआ करते है—दे रक्खे थे । अडो से वच्चो के निकलने तथा उनके पर जम जाने के वाद एक दिन वडे सवेरे उन चारो ने उत्तर की राह पकडी ।

चुपका—चहे से मिलती-जुलती एक छोटी चिडिया है जिसे अग्रेजी में 'सैंडपाइपर' और हिन्दी में 'चुपका' कहते हैं। यह भी जल के किनारे का पक्षी है। कद इसका प्राय आठ इच होता है, ऊपरी हिस्सा सफेद चित्तियो से भरा, भूरे रग का होता है और नीचे का सफेद। इसकी चोच चहे से भिन्न, नुकीली होती है। कीचड की अपेक्षा जलाशयो—ताल-तलैयो—का साफ-सुथरा किनारा इसे अधिक रुचिकर है जहा के शान्त वातावरण में एकाकी विचरता हुआ यह कीडो-मकोडो को ढूढता फिरता है। आगन्तुक की आहट पाकर उड खडा होता है, पर फिर लौटकर अपने पुराने स्थान पर ही आ बैठता है।

वटेर—मास-भक्षियो को चहा बहुत प्रिय है पर उससे भी अधिक प्रिय वह छोटा-सा पक्षी है जो जाडो में हजारो की सख्या में उत्तर-पश्चिम दिशा से यहा आ पहुँचता है और फसल से लदे हुए खेतो तथा छोटी झाडियो में आनन्द के साथ उछलता फिरता है। धूप इसे बर्दाश्त नही, अतएव पौधो की छाया में, झुरमुटो में, अधिक काल व्यतीत कर वसन्त के आते ही पुन अपने प्यारे वतन को लौट जाता है। यह है वटेर जिसकी कई उपजातिया है और वर्ण-भेद भी। रूप-रग में तीतर से इसकी काफी समानता है। यही नही, दोनो का गोश्त भी सफेद रग का ही होता है—पर जहा तीतर गर्मिया भी हमारे देश में ही विताता है, चहा ग्रीष्मकाल के शुरू होते ही पुन पहाडी इलाको की ओर चल देती है।

वडे कद के वटेर को घाघस वटेर कहते हैं जिसके नर और मादा में किंचित् अन्तर है। इसके ऊपर का भाग भूरा होता है, डैनें पर कत्थई धारिया, गले पर सफेदी दुम गाढे कत्थई रग की। मादा के गले पर लगरनुमा काला चिह्न नही रहता जो नर के होता है, पर उसकी छाती पर काली चित्तिया अवश्य होती है। चोच इसकी स्लेटी भूरे रग की तथा पाव पीले होते है।

छोटे कद के वटेर को चिनिग वटेर कहते है जिसका सीना सफेद न होकर काले रग का होता है।

वटेर हिन्दुस्तान से अरब तक मिलते हैं। स्वभाव से ये डरपोक होते हैं तथा आदमी की नजर से हमेशा ओझल रहना चाहते हैं। धान के खेत इन्हें अत्यधिक प्रिय हैं और इन खेतो मे लगाये गये जालो में ये सैकडो की सख्या में फँसते रहते है। खाने के काम में तो ये आते ही हैं, लडाने के काम में भी आते है। शौकीन लोग वुलवुल की तरह ही इन्हे पालते हैं और लडाया करते है। लडाने के काम में लाये जाने वाले वटेरो को ब्राह्ममुहूर्त में ही गर्म जल से नहलाया जाता है, फिर इनके वदन की मालिश की जाती है। इन्हें साहसी वनाने और इनमें स्फूर्ति लाने के लिए अनेक तरीके करने होते है। महीने-दो महीने में ये काफी लडाके वन जाते है और फिर तो ऐसे लडते है मानो दो पहलवानो की कुश्ती हो रही हो। लखनऊ आदि शहरो में एक समय था जव कि इनके दगल हुआ करते थे तथा लोग इन पर हजारो की वाजिया लगाते थे। आज से प्राय ४०-४५ वर्ष पहले हमारे यहा भी घर-घर में वटेर पाले जाते थे और उनकी लडाइया हुआ करती थी। पर आज के परिवर्तित समय में वटेर लडाने की यह प्रथा खतम-सी हो चली है।

देखने में गौरैये से इसका काफी समानता है।

वटेर से भी छोटी एक चिडिया है जिसे बिहार में बगेडी (बटेरी ?) कहते ह। कद में यह गौरैये से छोटी तथा भूरे रग की होती है जिसके पखो पर काले चित्ते, पेट पर सफेदी होती है। यह एक ऐसी चिडिया है जो सैकडो-हजारो की तादाद में खेतो तथा सरपत की झाडियो में उडती फिरती है। बहेलिये इसे जाल में फँसा कर वजारो में वेंचते है। यह भोज्य पक्षी है। जाडो के समाप्त होते ही यह झुड-का-झुड पहाडो की ओर चल देता है।

वटेर उन पक्षियो में है जिनके वच्चे अडो से निकलते ही चलना शुरू कर देते हैं तथा जिनके शरीर पर जन्म-काल से ही पर उगे होते हैं। मोर, मुर्गी, तीतर, बटेर आदि के पक्षी-शिशुओ की यह एक विशेषता है। थल पर रहने वाली चिड्यो की तरह वटेर भी अडे जमीन पर ही, किसी झुरमुट की ओट मे देतो है।

वतख—इन तटवर्ती पक्षियो के वाद जल में रहने वाली उन वतखो का आगमन होता है जो गर्मियो में मानसरोवर आदि पहाडी झीलो में निवास करती हैं, पर शीत-काल के आते ही हमारे देश की झीलो अथवा नदियो में आ पहुँचती हैं।

इनकी यात्रा विशेषत· रात में होती है। गोधूली अथवा अर्धनिशा में यदि आप गौर से देखेंगे तो सुदूर आकाश मे आपको इनकी कतारे दिखाई देंगी, मानो कोई कारवा जा रहा हो। ये जलपक्षी हजारो की सख्या में कलरव करते हुए उडते नजर आते हैं। कभी-कभी तो ये इतनी ऊचाई से जाते है कि इनका कूजन ही कर्ण-गोचर होता है, ये दिखाई नही देते। यही समय है जब कि इन झीलो के समीपवर्ती धान के खेत दानो से लद जाते है। इनसे आकर्षित होकर बतखें इन झीलो में उतर पडती है और तमाम जाडा यही विताती है। बहुधा इनकी सख्या लाखो तक होती है। वहेलियो के जालो में फँसकर इनमें से वहुतेरी वाजारो में विकती भी है और वहुतेरी वन्दूक का निशाना भी बनती है, फिर भी ये इन झीलो में डटी रहती है। हाँ, जव-तव समीपवर्ती झीलो में सैर को चली जाती है, पर पुन लौटकर अपनी झील में आ पहुँचती है। कुछ ऐसी भी है—जिनकी सख्या अधिक नही होती—जो गर्मियाँ भी इन्ही झीलो मे विता डालती है। इन मे मुख्य वे है जिन्हे हम चैती, तिदारी, वुडार, सवन, सीखपर, सुरखाव, हसावर आदि नामो से पुकारते है।

जव इनके दल कलरव करते हुए आकाश-मार्ग से हिमालय की ओर से विभिन्न झीलो की ओर अग्रसर होते है तो इनका कूजन कानो को अत्यन्त प्रिय लगता है। एक अग्रेज पक्षी-प्रेमी ह्यूम के शब्दो में—

"झुड के झुड इन पक्षियो का आकाश में उडते हुए कूजन करना अत्यन्त कर्णप्रिय प्रतीत होता है। वहुत कम शिकारी ऐसे होगे जो उनके सगीत से आह्लादित न हो उठें।"

विहार राज्य में, खासकर हिमालय के समीपवर्ती उत्तर विहार में ऐसी झीलो की वहुतायत है, पर अफसोस! कि इन झीलो से नहर निकाल कर जलपक्षियो के इन क्रीडास्थलो का खात्मा किया जा रहा है।

चैती—यह कद में प्राय: १५ इच की होती है (चित्र सख्या ५३)। नर और मादा के रगो में अन्तर होता है। नर का सर और गर्दन का ऊपरी हिस्सा कत्थई रग का होता है। गर्दन के पिछले हिस्से तथा पीठ में काली और सफेद धारिया होती है। डैने भूरे होते हैं और उन पर चमकीली, हरी तथा काली धारिया बनी होती हैं। पेट और सीना सफेद होते हैं।

मादा की पीठ का ऊपरी भाग, दुम तथा सारे ऊपरी हिस्से गहरे भूरे रग के होते हैं। सीने पर चित्तिया काली न होकर भूरी होती है। अन्य बतखो की भाति ही चैती के पैर के अँगूठे भी जुडे हुए होते है। पानी में यह डुबकिया भी लगाती है, खासकर जख्मी होने पर।

तिदारी—चैती से बडा होता है (चित्र सख्या ४६)। नर की गर्दन और सर का रग चमकीला हरा, पीठ का चित्रित भूरा, दुम काली और भूरी होती है। डैने का रग मिश्रित भूरा, स्लेटी, नीला और सफेद होता है तथा सीने पर सफेद, पेट पर कत्थई रग होते है। इसकी चोच और बतखो से अधिक लम्बी और चिपटी हुई होती है।

मादा का रग धूमिल होता है : बदन का भूरा चितकबरा, पेट का कत्थई।

बहुधा ताल-तलैयो की कीचड में यह कीडो-मकोडो की तलाश में घूमा करता है।

बुड़ार—इस जाति की बतखें ज्यादा मशहूर है। इनकी तीन किस्में है—बुडार (चित्र सख्या ५०) नर, लालसर (चित्र सख्या ५१) और करछिया।

बुडार ज्यादातर गहरे और साफ जल में रहता है तथा निपुण पनडुब्बा है। इसका आहार मुख्यत पानी में उगे हुए पौधो की जडें होती है। यह तिदारी से कद में छोटा होता है और सुस्त भी। अधिकतर रात में यह खाने की तलाश मे घूमता रहता है। इसके नर का सर तथा गर्दन खैरे रग की, सीना और दुम के ऊपर-नीचे के हिस्से काले होते है। अग के शेष हिस्से पीलापन लिए हुए स्लेटी रग के होते है। पेट सफेद होता है। डैने भूरे होते है।

मादा के रग में थोडा-सा फर्क रहता है।

लालसर का सर लाल होता है, करछिया का पेट सफेद।

उत्तर विहार की झीलो में ये बहुतायत से पाये जाते है।

सवन—यह हस की श्रेणी की एक बतख है जो देखने में काफी सुन्दर होती है। कद में प्राय ३० इच की होती है, सर सफेद होता है, गरदन भूरी होती है, ऊपरी हिस्सा राख के रग का, पीठ और कन्धो पर पीलापन युक्त खडी धारिया, डैने भूरे जिनके किनारे काले, दुम हलकी स्लेटी, सीना सफेद, चोच पीली, पैर गुलाबी—मोटे तौर पर इसकी यही रूपरेखा है।

तालाब और झील की अपेक्षा नदी का किनारा इसे अधिक प्रिय है।

सीखपर—यह देखने में सबसे अधिक सुन्दर होता है तथा दुम के बीच के दो पर सीख जैसे लम्बे होने के कारण इसका नाम सीखपर पड गया है।

कद म यह (चित्र सख्या ५२) प्राय दो फुट का होता है, दुम काफी लम्बी होती है। नर का सर और गला गाढे भूरे रग का, बदन पर तरह-तरह की काली, सफेद और हरी धारिया, दुम भूरी और बादामी होती है। पैर स्लेटी रग के होते हैं। मादा की गर्दन पर भूरी चित्तिया होती है, बदन के नीचे के सभी हिस्से सफेद होते है, पीठ और डैने स्लेटी लिए हुए भूरे रग के होते हैं।

अधिकाशत ये पानी में ही रहते है। सूखी जमीन पर शायद ही कभी आते हो। ये एक साथ लाखो की तादाद में आकाश-मार्ग से चलते है तथा इनकी रफ्तार बडी तेज होती है।

सुरखाब—ये पात बाध कर नहीं चलते। अधिकतर जोडा बाध कर नदी या तालाब के किनारे रहते हैं (चित्र सख्या ४३)। कद में प्राय २६ इच के होते है। नर का सारा बदन सुनहला या नारगी भूरे रग का होता है, सर और गर्दन बादामी रग की। गले के चारो ओर एक काली कठी होती है। पीठ का पिछला भाग और दुम का रग काला होता है। डैने पर काले, हरे, सफेद-आदि कई रग हुआ करते हैं। मादा के गले में कठी नही होती। चोच दोनो की काली होती है।

सुरखाब के प्रति कविवर राकेश की ये पक्तिया इस पक्षी के वास्तविक स्वरूप को अकित करती है—

हे प्रफुल्ल चम्पक प्रसून-से प्रिय विहग, हे कृष्ण-चंचु नत,
सिक्त सलिल-से, पद्म-रेणु से सिंदूरित सर्वांग कांतिमत्!

सुरखाब के पर कई रगो से चित्रित होने के कारण स्वभावत बडे सुन्दर लगते है और कई देशो मे लोग इन्हें सर पर धारण भी करते हैं—'सुरखाब का पर लगाना' कहावत मशहूर है। यह बडप्पन का चिह्न माना जाता है।

सुरखाब को चकई-चकवा या कोक-कोको भी कहते है। साहित्य में इनके दाम्पत्य-प्रेम का बार-बार जिक्र आया है। महाकवि बाल्मीकि ने इन्हे 'स्मर-प्रिय' कहा है—

अभ्यागतैश्चारुविशालपक्षै.
स्मरप्रियै. पद्मरजावकीर्णै:
महानदीना पुलिनोपयात.
क्रीडन्ति हसा. सहचक्रवाकै:।

—बडी पाखवाले, गुहागत, कामी, कमल की धूल से भरे हुए, महानदी के तट पर आए हुए चक्रवाको के साथ हस क्रीडा कर रहे हैं।

रात में इनके नर और मादा एक-दूसरे से विलग हो जाते है, क्रन्दन करते हैं मानो भगवान भास्कर से प्रार्थना करते हो कि वह उदित होकर इनका पुनर्मिलन करायें।

काव्य में इनके निशाकालीन विरह-क्रन्दन की चर्चा स्थान-स्थान पर आई है। सूर्य को अस्ताचलगामी होते देखकर एक करुण-हृदय कवि ने उसके आने वाली विरह-वेदना का ध्यान करके उन्हे पूर्व से ही इन शब्दो में ढाढस बँधाया है—
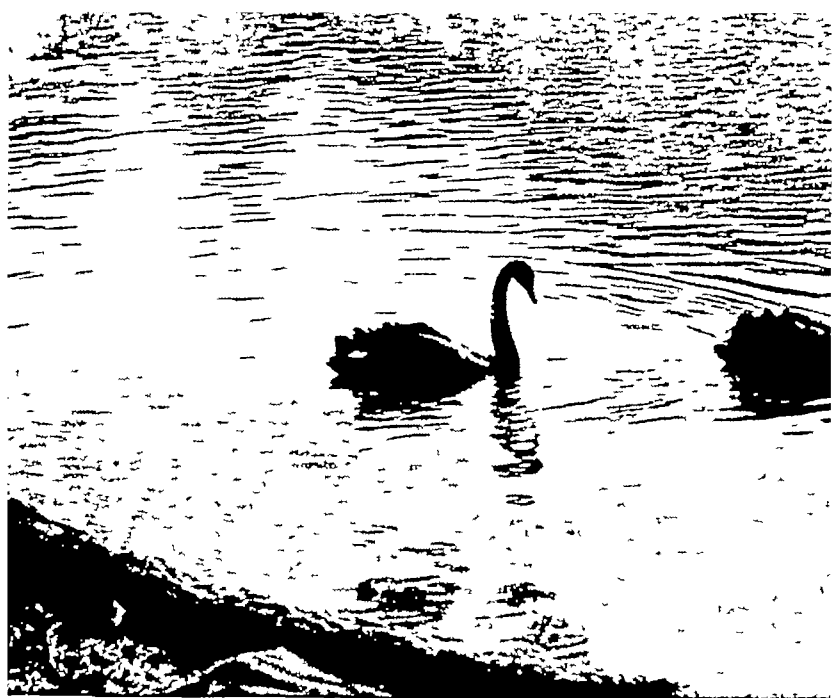
हस युगल काश्मीर की एक झील में
चित्र सख्या ७३

चित्र सख्या :
हसो की जल

विशेष रूप से दृष्टिगोचर होते हैं—कामक्रीडा में सलग्न पाये जाते हैं। महाकवि वाल्मीकि के देखते हुए एक बहेलिये ने काम-क्रीडा-रत एक क्रौंच को अपने बाण का शिकार वना डाला था जिसके परिणाम-स्वरूप महर्षि के मुख से आप-से-आप शाप-सूचक 'मा निषाद' वाला श्लोक निकल पडा था जो परम विख्यात है।

चक्रवाक के सम्बन्ध में गोस्वामी तुलसीदास जी ने लिखा है—

चक्रवाक, वक, खग समुदाई, देखत बनइ बरनि नहिं जाई।

और इसमें सन्देह नही कि यह एक अतिशय श्रेष्ठ सुन्दर पक्षियो में है। शार दीय सरिता-तट के चक्रवाक और क्रौंच शोभा बढाने वाले पक्षियो में है—

कूजत कहुं कलहस, कहूं मज्जत पारावत,
कहुं कारडव उड़त, कहूं जल-कुक्कुट धावत,
चक्रवाक कहुं वसत, कहूं बक ध्यान लगावत,
शुक, पिक, जल कहुं पियत, कहूं भ्रमरावलि गावत,
कहुं तट पै नाचत मोर, वहु शोर विविध पछी करत,
जलपान न्हान करि सुखभरे, तट सोभा सब जिय धरत।

(भारतेन्दु यमुना-छवि)

गल—यह मुख्यत समुद्र का पक्षी है (चित्र सख्या ६८, ६९, ७०)—अग्रेजी में इसे "गल" और हिन्दी में गगाचील कहते है। यह अधिकाशत विलायत में पाया जाता है, पर जाडे के दिनो में हमारे यहा की नदियो, झीलं और तालावो के किनारे भी झुड का झुड आ पहुँचता है और ग्रीष्म ऋतु के आरभ काल तक रहता है। भारत में इसे 'घोमरा' भी कहते है, पर इसका सामुद्रिक नाम 'गल' ही सर्वत्र, देहातो में भी, प्रचलित है। इसकी पीठ और डैने राख के रग के, सर गर्दन और दुम सफेद रग की होती है। डैनो के कुछ पखो की नोक पर कालापन रहत है। गर्मियो में सर और गर्दन का रग कत्थई में परिवर्तित हो जाता है। चोच और पै गाढे लाल रग के होते है। दक्षिण भारत के समुद्री इलाको में, खासकर समुद्र-तट पर, यह वहुतायत से पाया जाता है। देखने में सुन्दर होता है।

हसावर—यह भी हमारे यहा शरद्काल के साथ-साथ आने वाले पक्षी है (चित्र सख्या ७१) तथा जाडे भर रहते है। देखने में अत्यन्त सुन्दर होते है। सर, गर्दन बदन और दुम के कुछ भाग सफेद रहते है जिनमें गुलाबी झलक रहती है, डैने लाल होते है, चोच गुलाबी होती है, पैर भी लाल ही होते है। टागें बडी और लम्बी होती है। अधिकतर गहरे पानी में कीडे-मकोडे तथा काई की तलाश करते रहते है जिन्हे ये अपना आहार बनाते है।

कविवर राकेश ने निम्न पक्तियो में बडे सुन्दर ढग पर इनका भी वर्णन किया है—

छिछले पानी में एक चरण के वल पर,
लम्वी ग्रीवा को मोड़ खड़े वलवल पर,
पखों के नरम लवादे श्वेत, अबीरी,
आखो की पुतली भरनि सुमन-सी पोली,

* * *

हंसावर नहीं, खिले सरसी में पंकज ।

'हसावर नही, खिले सरसी में पकज'—जलस्थित हसावर वास्तव में दूर से खिले हुए गुलाबी कमलो की याद दिलाते हैं । हस, जिसके सम्बन्ध में श्रुति ने कहा है—"हस के समान जल में निर्लेप रहकर विहार करने वाला योगी प्राण के सयमन में कुशल है", तथा जो मुक्ता और दूध को ही अपना आहार बनाता है तथा जिसमें जल से दूध को विलग करने की क्षमता है—'हसैर्यथाक्षीरमिवाम्बुमध्यात्,'—वह, आर्या है कि, कश्मीर तक ही आता है, आगे नही बढता[1] । पर उसकी बिरादरी का यह पक्षी—हसावर—शरद्काल के आते ही हमारा अतिथि होता है और हम इसे देखकर ही मराल के उस अमित सौन्दर्य की कल्पना कर लेते है जिसकी हमारे भारतीय साहित्यकारो ने भूरि-भूरि प्रशसा की है तथा जिसके सम्बन्ध में महाकवि कालिदास ने 'ऋतुसहार' में लिखा है—

संपन्नशालिनिचयावृतभूतलानि
स्वस्थस्थितप्रचुरगोकुलशोभितानि ।

---

१ पक्षिशास्त्र के कई पडितों का कहना है कि जिसे हम राजहंस के नाम से पुकारते हैं तथा जिसके सम्बन्ध में महाकवि कालिदास ने लिखा है—

कर्तुं यच्च प्रभवति महीमुच्छिलिन्ध्रामवन्ध्यम्
तच्छ्रुत्वा ते श्रवणसुभग गर्जितं मानसोत्काः
आ कैलासाद्बिसकिसलयच्छेदपाथेयवन्तः
सपत्स्यन्ते नभसि भवतो राजहसाः सहायाः ।

वह बिल्कुल सफेद नहीं धूसर-मिश्रित है । अमरकोश में राजहस का परिचय इस प्रकार दिया है—राजहस वे हैं जिनका शरीर 'सित' तथा चरण और नेत्र 'लोहितवर्ण' के होते हैं—'राजहसास्तु ते चञ्चुचरणैर्लोहितै सिता.' । अब प्रश्न यह है कि 'सित वर्ण' किसे कहते हैं ।

शब्दार्णव में लिखा है कि 'सित' रग कदली कुसुम के सदृश है । कदली कुसुम—केले का फूल—स्पष्ट है कि सम्पूर्ण स्वच्छ, धवल-श्वेत नहीं होता, सफेदी के साथ-साथ अन्य रगो का भी इसमें सम्मिश्रण है । अतएव 'सित' से यहा तात्पर्य दूध जैसी सफेदी से नहीं है, वरन् उस सफेदी से है जिसमें और रगो की भी झलक होती है । हा, अधिकांशतः सफेदी अवश्य होती है ।

गरज यह कि उस पक्षी को ही, जिसकी सफेदी धूसर-पिंगल-मिश्रित है, तथा जिसके मस्तक, कंठ, शरीर और पूछ का निचला हिस्सा बिल्कुल श्वेत, पर मस्तक के नीचे जिसके दो काली चौड़ी धारिया हैं, उसे ही कुछ लोग राजहस मानते हैं । इसकी आंखें कमल जैसी लाल तथा पाव भी लाल ही होते है । तिब्बत तथा लदाख के आसपास की झीलो के किनारे ये एक बडी सख्या में अडा देते पाये गये हैं । अन्यत्र दिये गये एक चित्र में (चित्र सख्या : ६२) तिब्बत-स्थित एक झील के आसपास इन्हीं का झुंड है ।

पर इसमें मतान्तर है और दृढ़तापूर्वक यह कहना, कि यही वह क्षीर-नीर-विवेकी हस है जिसका मेघदूत में उल्लेख है, कठिन है ।

हंसैः ससारसकुलैः प्रतिनादितानि
सीमान्तराणि जनयन्ति नृणां प्रमोदम् ॥

अर्थात्, धरती धान के खेतो से सम्पन्न है; गायें शान्तिपूर्वक विचर रही हैं, हस और सारस बोल रहे हैं, सभी कुछ जन-मन को मुग्ध करने वाला है ।

कौन वताये कि मानसरोवर के वे हस, जो मुक्ता चुग-चुग कर ही अपना पेट भरते हैं—

हंस, छोड आये कहां मुक्ताओं का देश ?—

(साकेत)

रक्त-मास के वने हुए वास्तविक पक्षी हैं या कवि की कोरी कल्पना ही ?

*   *   *   *

जाडे के मौसम में हमारे यहा उत्तर अर्थात् पहाडी प्रदेशो से आने वाले पक्षियो में जिनकी ऊपर चर्चा की गयी है, वे ही मुख्य हैं। इनके अलावा भी कुछ हैं, पर वे नगण्य हैं । खजन का जिक्र एक स्वतन्त्र लेख में किया गया है, अतएव उसका यहा उल्लेख नही है ।

वहुधा पूर्वोक्त जल-पक्षियो को देखकर हमारे हृदय में इनके रोमानी जीवन का ध्यान हो आता है, और मन में ये प्रश्न आप-से-आप आ जाते हैं—

शीतकाल के अतिथि हमारे !
जल-विहार-रत हे सुपर्ण-खग,
रहते जो नित पख पसारे,
चक्रवाक हे ! हंसावर हे !
युग्म लालसर ! वेश सँवारे,
हिम पर्वत के वीच, दिव्यतम,
कौन झील आवास तुम्हारे ?

पक्षियो का ऋतुविशेष में स्थान-परिवर्तन भी एक दिलचस्प विषय है। ऋतु-परिवर्तन-काल में एक से दूसरे देश को जाते समय ये पक्षी जिस रफ्तार से रोज उडा करते हैं उससे कही ज्यादा रफ्तार से उडते हैं । इसके कई कारण हैं । एक तो उन्हें दूर की यात्रा करनी पडती है जिसे वे कम से कम समय में तय करना चाहते हैं, दूसरे, वे आकाश में काफी ऊँचाई पर उडते हैं जहा हवा का वेग नीचे की अपेक्षा ज्यादा तेज रहता है और उसके साथ उडने में आप-से-आप तेज होती जाती है । नीचे तथा ऊपर की हवा के वेग में कितना अन्तर है, यह देखिए—

ऊंचाई (फुट)	वायु-वेग (मील प्रति घंटा)
जमीन के ऊपर	११
३००	२५
१,०००	३०
१०,०००	६५
३०,०००	१००

स्पष्ट है कि एक पक्षी यदि १,००० फुट पर उडता है तो जमीन की ऊचाई से अपनी उडान में वह १० मील प्रति घटा अधिक की रफ्तार हासिल कर लेता है ।

तात्पर्य यह कि दूर देश का यात्री-पक्षी साधारण, नित्य-प्रति की उडान से काफी अधिक तेजी से उडता है। मसलन, आमतौर पर २६ से ३५ मील प्रति घंटा के वेग से उडने वाला अबाबील स्थानान्तरित होते हुए ३८-४० मील तथा टिट्टिभ, जिसकी साधारण रफ्तार ३० से ४० मील प्रति घटा है, ३७ से ४५ मील प्रति घटे के हिसाब से रास्ता तय करता है ।

आश्चर्य की बात है कि ये पक्षी एक निश्चित समय पर एक जगह से दूसरी जगह—कभी-कभी हजारो मील दूर—आ पहुँचते है, मानो उनकी यात्रा का समय और पहुँचने का दिन पहले से तय हो । यही नही, यह भी देखा गया है कि अमुक पक्षी साल-बसाल अमुक स्थान पर ही, शीतकाल के आते-न-आते, आ पहुँचता है। पहचान के लिए गले में किसी वस्तु—छल्ले आदि को पहनाकर पक्षि-शास्त्र के विशेषज्ञो ने इस बात की जाच की है ।

इनकी यात्राए ज्यादातर उत्तर से दक्षिण तथा दक्षिण से उत्तर की ओर हुआ करती हैं। इनमें इन्हे हजारो मील तक की दूरी तय करनी पडती है। कहते हैं, सबसे लम्बी यात्रा वह है जो आर्कटिक इलाको के कुररी पक्षी को जाडो में अन्टार्टिक प्रदेशों को—जहा उन दिनो ग्रीष्मऋतु बनी होती है—और फिर गर्मियो में अन्टार्टिक से वापस आर्कटिक इलाको को करनी पडती है । ११,००० मील के इस सफर को वह बहुत थोडे समय में तय कर लेता है ।

भोजन की सुविधा ही इन पक्षियों के स्थानान्तरण का मूल कारण है। यह भी देखा गया है कि ऐसे पक्षी वही पर घर बनाना और अडे देना अधिक पसन्द करते है जहा ठडक ज्यादा होती है। इसीलिए हमारे यहां जो पक्षी शीतकाल में हिमालय की ओर से उड़कर आते हैं वे घोसले यहा नही बनाते, बल्कि लौटकर हिमालय के किसी भाग में ही बनाते तथा जनन-क्रिया सम्पन्न करते हैं। हिमालय की झीलो—लदाख की पेंगोंग, कराकोरम के दक्षिण रावण तथा मानसरोवर, ल्हासा के समीपवर्ती पालती आदि—के आस-पास यात्रियो ने लाखो की सख्या में ऐसे जल-पक्षियो को ग्रीष्मकाल में एकत्र पाया है । एशियाटिक रिसर्चेज़, खड १२ (१८१६) के पृष्ठ ४६६ पर एक सज्जन का बयान है—

"जल के चारो ओर जंगली भूरी बतखों के छोटे-बडे पर बिखरे हुए थे। ये बतखें सयानी तथा कम उम्र की, दोनो—मुझे देखते ही झील के भीतर चली गयी । इनकी सख्या तथा इनकी बीट की मात्रा से मुझे लगा कि ये यहा काफी बडी सख्या में प्रति वर्ष आती तथा अडोस-पडोस की चट्टानो के बीच अडे दिया करती हैं ।"

अत्यधिक सर्दी तथा बर्फ गिरने के कारण वे दक्षिण की ओर भले ही चली आयें, पर तीन चार महीने यहा रह कर, धान के खेतो में जी भर दाना चुग कर अन्त में देह में वासन्ती हवा के लगते ही उन्हें अपने पुराने घर की याद आ जाती है और तब वे हिमालय की ओर लौट चलती हैं । जब इनके चलने के दिन आते है तो इनमें एक खलबली-सी मच जाती है, किसी अज्ञात प्रेरणा से ये बेचैन-सी हो उठती हैं । डा० टामसन् के शब्दो में—

"जब तक वे चल नही पडती, उनमें बेचैनी फैली रहती है । हेमत में वापस जाने से पहले उनमें बेचैनी का होना इस देश में सर्वविदित है ।"

जब दल के दल ये पक्षी हिमालय से दक्षिण की ओर रवाना होते हैं, तो ऐसा देखा गया है कि इनके दल का नेतृत्व नवजात—दो तीन मास की उम्रवाले—पक्षी करते हैं, बडी उम्रवाले इनका अनुसरण करते है, पर लौटती वार इसके ठीक विपरीत, जो उम्र में वडे होते है, वे अपने निर्वाचित स्थल पर पहले पहुँचते है, बाकी पीछे, शायद इसलिए कि उन्हें आगे पहुँच कर घर तैयार करना रहता है ताकि निश्चित समय पर मादा अडे देने में समर्थ हो सके ।

दल की नेतागिरी करते हुए जब विहग-कुमार दक्षिण देश की ओर आते है तो पथ के अज्ञात होने पर भी वे अपने मार्ग से तिलमात्र भी विचलित नही होते । अन्त-करण की प्रेरणा ही उन्हें ठीक उस रास्ते से ले आती है जिससे होकर उनके पूर्वज न जाने कितने वर्षों से इस देश की यात्रा करते रहे है । ये अपने निश्चित समय पर यहा आ पहुँचते है कुछ तो आते समय रास्ते में रुकते है, कही दो चार दिन, कही हफ्तो, और कुछ बगैर यात्रा-भग किए हुए सीधे अपने निर्दिष्ट स्थान पर आ पहुँचते है । हिमालय के कतिपय स्थानो पर यात्रियो ने ऐसे पडाव देखे हैं जहा ये पक्षी दो-चार-दस रोज ठहर कर विश्राम करते है और तब आगे अपने गन्तव्य की ओर वढ़ते हैं । इनमें जो कमजोर होते है, वे कभी-कभी अपने निर्दिष्ट स्थान पर पहुँ-चने के पहले ही हिम्मत हार बैठते है । हिमालय के कई यात्रियो का कहना है कि उन्होंने हिमालय-स्थित उन झीलो से, जिनकी चर्चा ऊपर आ चुकी है, मीलो दूर कई ऐसे थके हुए, शक्तिहीन पक्षियो को बेबसी की अवस्था में बैठे पाया था । ऐसे ही किसी यात्री की दयनीय दशा पर आसू गिराते हुए उर्दू के एक शायर ने कहा था—

किस्मत पे उस मुसाफिरे-बेकस के रोइए,
जो थक गया हो राह में मजिल के सामने ।

इनके पथ भी एक प्रकार से निर्धारित है, हिमालय के ऊँचे शिखरो के ऊपर से न जाकर ये घाटियो के रास्ते से चलते हैं । ऐसी ही एक घाटी 'क्रौंचरन्ध्र' है जिसे कालिदास ने 'मेघदूत' में 'हसद्वार' कहा है— यह कुमायू जिले में 'नीतीघाटी' के नाम से मशहूर है तया इससे होकर तिब्वत के यात्री आया-जाया करते हैं—

प्रालेयाद्रेरुपतटमतिक्रम्य तांस्तान्विशेषान्—
हंसद्वारं भृगुपतियशोवर्त्म यत्क्रौंचरन्ध्रम् ।

ऋतु-परिवर्तन के होते ही पक्षी स्थानान्तरण की तैयारिया करने लगते हैं । फिर जव कूच का डका वजने का समय समीप आता है, तो वे एक जगह एकत्र हो जाते हैं, जैसा कि अन्यत्र दिये गये एक चित्र से परिलक्षित होता है (चित्र सख्या ३८) । जव उनके गिरोह में सभी पक्षी आकर इकट्ठे हो जाते है—भूले-भटके तक आ पहुँचते हैं —नया वतन की याद उन्हे सताने लगती है, तो वे एक दिन—पता नही किसी शुभ-मुहूर्त पर या यो ही—झुड-से उड चलते है ।

इन पक्षी-यात्रियो के भी दो भेद हैं—एक वे जो निशाकाल में अपना सफर तय करते हैं, दूसरे वे जो कि दिवा-यात्री हैं ।

इन पक्षियो के पास 'स्पीडमीटर'—रफ्तार जाचने का यन्त्र— नही होता, फिर भी ये बडे नियम के साथ अपनी उडान पूरी करते है । जल की जिन वतखो की ऊपर चर्चा की गई है, वे औसतन ४० से ५० मील तक प्रति घटे उडती है । अगर हवा अनुकूल रही हो तो ६० मील प्रति घटे तक भी उडती है । दिन-रात में ६ से ११ घटे तक ये उडती रहती है । एक उडान में टिकरी १६० मील तक, वनकुक्कुट २५० से ३०० मील तक तथा टिटहरी ११ घटे में ५५० मील तक उडती हुई पायी गई है । पूर्व देशीय सुनहली प्लामर (टिटहरी) को समुद्र पार करते समय एक ही उडान में २०० मील का रास्ता तय करते हुए देखा गया है । जापान में पाये जाने वाले चहा पक्षी शीतकाल के दिन पूर्वी आस्ट्रेलिया एव तस्मानिया में विताते है और दोनो देशो के वीच की तीन हजार मील की दूरी एक ही उडान में पार कर लेते है। १,३०० से लेकर ३,००० फुट तक की ऊचाई पर से देश-विदेश की सैर करने वाले ये पक्षी, उडते देखे गये है । भारतवर्ष के शीत-कालीन पक्षी, जो उत्तर से आते है, अधिकतर तिव्वत, साइवेरिया और कश्मीर से, उनका पथ-प्रदर्शन व्रह्मपुत्र तथा सिन्धु नदियो की धाराए करती है । एक चैती वतख—जिसे १६२६ की जुलाई में पश्चिमी साइवेरिया के किसी हिस्से में छल्ला पहना दिया गया था—उसी वर्ष के दिसम्वर महीने में उत्तर प्रदेश के गोडा जिले में पायी गयी थी । हिमालय के नगापर्वत आदि उच्च शृगो की यात्रा करने वाले साहसी यात्रियो का कहना है कि उन्होने १७,००० से लेकर २७,००० फुट तक की ऊचाई पर इन पक्षियो को देखा है । यही नही, २३,००० फुट पर उन्हे कौए तक देखने को मिले हैं । इन वातो से यह स्पष्ट है कि ये पक्षी यदि चाहे तो काफी ऊचे उड सकते है । यही कारण है कि हिमालय की ऊची चोटियो की तनिक भी परवाह न करके ये प्रतिवर्ष यहा आ पहुँचते हैं।

●

खंजन

वर्षा विगत शरद ऋतु आई,
लछमन देखहु परम सुहाई ।
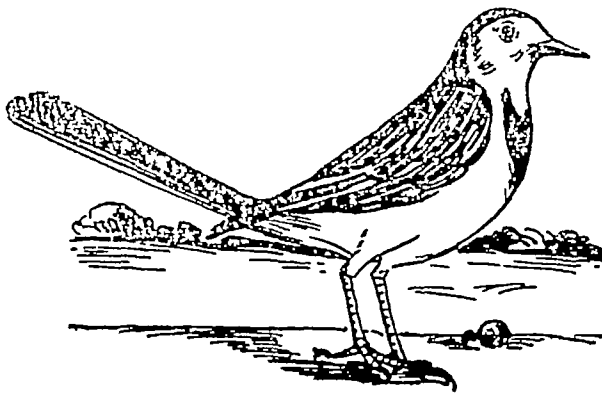
वर्षा काल का अन्त हुआ, आकाश के काले-काले मेघ, जो आषाढ़ से ही किसी सुदूर देश से आकर छाये हुए थे, कभी फट कर व्योम के किसी कोने में जा छिपते थे, कभी लौट कर सारे व्योम-मडल पर छा जाते थे तथा गरज-गरज कर

इतना बरसते थे कि जल-थल में कोई अन्तर न रह जाता था, जल से भरे हुए अन्तरिक्ष में दिन-रात झूमते फिरते थे ।

वे किसी और देश को चले गए, आकाश स्वच्छ, धोया-धोया-सा, अत्यन्त निर्मल, दीखने लगा, पथ-पगडडियो का जल और कीच व्योम में अगस्त्य तारे के उगते ही ऐसा सूखा मानो उसने इन्हे सोख ही लिया हो। चारो ओर कास के रुपहले फूल खिल आये, सरोवर के तट पर वे ऐसे लगते हे मानो वयोवृद्ध श्वेत-जटाधारी योगी-मुनि जल के किनारे ध्य नस्थ वैठे हो तथा सृष्टि-सम्वन्धी शाश्वत प्रश्नो का समाधान ढूढ रहे हो—

तट पर चारो ओर सरोवर के हैं पुष्पित,
शत-सहस्र घन श्वेत कास अति भाव-मग्न-से,
लीन ध्यान में बैठे मानो वृद्ध तपस्वी,
सदियों के 'कोऽहं', 'कस्त्व' का प्रश्न-भार ले।

आकाश में शरदेन्दु उग आया। जिस ओर देखिए, चन्द्र-ज्योत्स्ना दूध की भाति श्वेत और निर्मल विखरी पडी है।

चन्द्रोदय होते ही जगल के चकोर दल वाध-वाध कर शरदेन्दु की ओर ऐसे देख रहे हैं मानो वन के मुनिगण श्री रामचन्द्र को निहार रहे हो—

मुनि समूह मँह वैठे सन्मुख सवकी ओर,
सरद इन्दु तन चितवत मानहु निकर चकोर।

देखते-देखते दशहरा आ गया। चारो और प्राकृतिक फूलो के, मालती और माधवी के, वन्दनवार टँग गये। और इस शुभ अवसर पर न जाने कहा से उतर आये, नीले, अति सुन्दर पर वाले पक्षी नीलकठ, और जहा-तहा विचरने लगे। इनका दर्शन इस अवसर पर अतिशय शुभ माना गया है तथा इन्हे ही देखकर कविवर विहारीलाल ने कहा था—

काल्हि दसहरा वीतिहै, धरि मूरख जिय लाज,
वुर्‌यो फिरत कत द्रुमनि मं नीलकठ, विनु काज!

और इनके साथ-साथ ही अगणित खजन, कद में अति छोटे, गौरैया जैसे, देखने में अति सुन्दर, सुहावने, उत्तर दिशा से—शायद पहाडो से—आ कर छा गये, जहा देखिए, पूछ को तेजी से हिलाते हुए, किसी प्रेम-गर्विता की चचला आखो की तरह, नदी और सरोवरो के तट पर, पगडडियो पर, खेतो में, मकान की छतो पर, गृह-प्रागण में, वाग-वगीचो में घूमने लगे—

जानि शरद ऋतु खजन आये
पाइ समय जिमि सुकृत सुहाये।

* * * *

ये उतर पड़े शत-शत खजन,
कोने-कोने में विखर गये,
ये भव-भूतल के दृग-रजन।

रमणी के सुन्दर नेत्रो की सी जिसमें सुन्दरता है और उससे भी वढ़कर उन्ही जैसी चपलता, उसकी याद महात्मा सूरदास जैसे सन्तकवि को मरण-काल में भी न भूल पायी, और उन्होने दर्द-भरे शब्दो में कहा—

खंजन नैन, रूप-रस माते,
उडि-उड़ि जात, निकट श्रवनन के, उलटि-पुलटि ताटंक फँदाते ।

साहित्य में इतना उच्च स्थान प्राप्त करने वाली यह छोटी-सी चिडिया आखिर है कौन ? पाठको के हृदय में यह प्रश्न आप-से-आप जाग्रत हो उठना स्वाभाविक है। तो सुनिये, खजन—खजरीट, खिडलिच—के सम्वन्ध में दो चार वाते ।

इस देश में पायी जाने वाली चिडियो में एक छोटी-सी चिडिया है जिसे धोविन कहते हैं । यह यहा की बारहमासी चिडियो में नही है, शरद ऋतु के साथ-साथ आती है और वसन्त समाप्त होते-न-होते पहाडो की ओर चल देती है । वही, हिमालय की गोद में, पत्थरो के वीच, यह अपना घोसला वनाती है, अडे, जिनकी सख्या साधारणत पाच होती है, देती है तथा सन्तान को पाल-पोस कर इस लायक कर देती है कि वह वर्षा समाप्त होते ही नीचे उतर आयें । इसकी लम्वाई ज्यादा से ज्यादा आठ इच की होती है । इनमें कुछ ऐसी है जिनका रग ऊपर नीला-हरा और भूरा होता है, नीचे पीला । दुम का मध्य का भाग काला, छोर सफेद होते है । गला भी सफेद ही होता है । वसन्त-काल में नर का गला मध्य भाग में विल्कुल काला हो जाता है । भौंहें सफेद होती है । दूसरे प्रकार की धोविन वह है जिसके नीचे का वर्ण सफेद होता है, गला कुछ काला होता है। वाकी पर भूरे होते है। दोनो ही प्रकार की धोविन की पूछ लम्वी होती है जिसे वह वारम्वार हिलाती रहती है। यही नही, गिरगिट की तरह अपना रग भी वदलती रहती है—फर्क इतना है कि जहा गिरगिट दिन में कई वार रग वदलता है, यह साल में कई वार। इसके पर गिर पडते है और फिर दूसरे, भिन्न रग के उग आते है। यह इसकी विशेषता है । इसे किसी झील के किनारे रहना ज्यादा पसन्द है, जहा सर्द जमीन में पाये जाने वाले छोटे-छोटे कीडो को पकड-पकड कर यह खाती रहती है ।

खजन, धोविन जाति की ही चिडिया है और इसके मुख्यत चार भेद है—सफेद, चितकवरी, भूरी और पीली । प्रकृति सवकी एक है । सवमें देखने में चितकवरी ज्यादा खूबसूरत होती है । नर के शरीर का ऊपरी हिस्सा राख के रग का और नीचे का सफेद, सर के ऊपर का हिस्सा काला होता है, तथा छाती पर एक काला चन्द्राकार चित्ता रहता है । डैनें काले होते है, जिन पर सफेद धारिया वनी होती है । किन्तु उनके सिरे पर सफेदी रहती है । गर्मी आते ही नर का सारा वक्ष-स्थल चमकीला काला हो जाता है, मादा का धूमिल । आख की पुतलिया भूरी तथा चोच और पाव काले होते है । खजन उन पक्षियो में है जो देखने में आखो को वडे प्यारे लगते है ।

खजन साल में कई वार अपना रग वदलते रहते है—कभी काला सफेद होता है, कभी सफेद काला । इनकी चचलता जगविख्यात है और साहित्य में इसकी जगह-जगह पर चर्चा है ।

घने जगलो में खजन शायद ही नजर आयें । ये अधिकतर जल के किनारे अथवा खेत-खलिहान में, पगडडियो पर या मानव-आवास के वीच, गोशाला, घर के आगन आदि स्थानो में अपनी दुम हिलाते हुए घूमते रहते है । कहते है, हस्त नक्षत्र में खजन

का इस देश में प्रथम आगमन होता है। प्रथम दर्शन के सम्बन्ध में जनश्रुति एव ज्योतिष का विचार है कि यदि भाडार के कोने में, हस्त नक्षत्र में, पहली बार वह दृष्टिगोचर हो तो देखने वाले को उस वर्ष धन प्राप्त होता है, इसी तरह यदि ईशान कोण में देखे तो वह मृत्यु को प्राप्त होता है। इसी तरह के विचार अन्य कोणो तथा दिशाओ के सम्बन्ध में भी हैं। हाथी के मस्तक अथवा गोबर के किसी टीले पर इसे देखना सबसे शुभ माना गया है, साप के मस्तक पर भी। हस्त नक्षत्र के बीत जाने पर खजन दर्शन का कोई फल नही होता।

ग्रीष्म काल के आते ही खजन इस देश से चल देते हैं। गर्मी और बरसात ये पहाडों पर या हिमालय की घाटियो में बिताते हैं, वही अडे देते हैं और जब शरद् ऋतु का पुन आगमन होता है, भूमि पारिजात के पुष्पो से आच्छन्न हो जाती है, तो इस देश में ये पुन आ पहुँचते हैं। अक्सर ऐसा हुआ है कि किसी दिन प्रात' काल सैकडो खजन एकाएक चारो ओर घूमते हुए नजर आने लगे है जब कि पिछले दिन कही एक भी दृष्टिगोचर नही थे। इनका सहसा रातभर में इस तरह आकर चारो ओर छा जाना भी एक रहस्य की बात है।

शरद् काल में खजरीट का प्रथम दर्शन हमारे हृदय में एक अद्भुत आह्लाद पैदा करता है और हम उत्सुकतापूर्वक गुलाब के फूलो से लदे उस मौसम की प्रतीक्षा करने लगते हैं, जब भ्रमरावलिया गुनगुनाती हुई पद्म-पुष्पों से पराग चुरा-चुरा कर अपने घर भरने लगती हैं, कुलागनाए एक दूसरी से कहती है—

(१)

निरख सखी, ये खंजन आये,
फेरे उन मेरे रंजन ने नयन इधर मनभाये।
फैला उनके तन का आतप मन ने सर सरसाये,
घूमें वे इस ओर वहां, ये हंस यहां उड़ छाये।
कर के ध्यान आज इस जन का निश्चय वे मुसकाये,
फूल उठे हैं कमल, अधर-से ये बन्धूक सुहाये।

(मैथिलीशरण गुप्त)

(२)

चुरा-चुरा कर मेरी ही आखो को खजन!
बनी विहगि, तू भव-भूतल के हित दृग-रंजन।
मेरे नेत्र, लौट आ मेरे पास आज तू,
पलक सेज पर आ कर मेरी, चिर-विराज तू।
मेरे नेत्र, लौट आ मेरे पास आज तू।

नीलकंठ

समुद्र-मथन से निकले हुए विष को भगवान शकर ने अपने गले में रख लिया, अतएव वे नीलकठ कहलाए। परन्तु नीलकठ पक्षी ने बगैर विष-पान के ही नीलकंठ सज्ञा प्राप्त कर ली। यही नही, वह महादेव की कृपा का भाजन भी वन गया। तभी तो दशहरे के अवसर पर उसका दर्शन अत्यन्त शुभ माना गया। लोग दशहरे के दिन प्रातःकाल से ही नीलकठ के दर्शन के लिए घर के आस-पास अपनी नजर दौड़ाने लगते हैं—

नीलकठ कौं दरस को, दुर्यौ फिरत चहु ओर,
दीठि दसहरा दिवस कौ, पुन्य परव लखि भोर।

नीलकठ का दर्शन पाकर लोग अपने को सौभाग्यशाली समझते है। कारण लोक-कहावतो के स्रष्टा डाक के शब्दो में सुनिये—

नीलकंठ कर दर्शन होए,
मन वाछित फल पावै सोए।

फारसी के भी किसी शायर ने कहा है—

दशहरे रोज फ़र्रुख अंजुमन दये अस्त,
पये लंका सवारी रामचन्द्र अस्त,
वदीदे नीलकंठी हिन्दुआरा,
तमाशे वाग वोस्तां दिलपसन्द अस्त।

इसके दर्शन से हमारे सौभाग्य में वृद्धि हो या न हो, पर इसमें शक नहीं कि देखने में यह एक अत्यन्त सुन्दर पक्षी है। जब यह अपने दोनो पखो को फैला कर उडता है, तो इसके चमकीले पखो से अनोखा सौन्दर्य टपक पडता है। ये कई रग के होते हैं पर इनमें नीले रग की प्रधानता होती है। स्वर्ग के पक्षी की तरह इसे भी अपनी सुन्दरता के कारण वहुधा प्राणो से हाथ धोना पडता है। कवि वायरन ने इटली को सम्बोधित करके कहा था—

इटली, इटली, हाय मिला वर,
सांघातिक यह सुन्दरता का।

जैसे इटली को अपने अनुपम सौन्दर्य के कारण वारम्वार वाहरी आक्रमणकारियो की चोट वर्दाश्त करनी पडी थी—उसकी सुन्दरता ने उन्हें उसे जीतने के लिए प्रोत्साहित किया था, वैसे ही "न्यूगिनी के स्वर्ग पक्षी' तथा हमारे देश के नीलकठ भी अपने सुन्दर परो के लिए तीर अथवा वन्दूक के शिकार होते आये है। इनके परो को लोग—मुख्यत अग्रेज आदि—अपने वन्धु-वान्धवो को उपहार के रूप में भेजते है।

देखने में जो सुन्दर होता है उसका दिल या प्रकृति भी सुन्दर हो, ऐसा कोई नियम नही है। कम से कम नीलकठ के सम्वन्ध में यह कहा जा सकता है कि देखने में यह जैसा सुन्दर है, स्वभाव में नही। इसकी वोली कर्कश है और स्वभाव झगडालू। जव देखिए, कटे हुए अनाज के खेतो में ये एक-दूसरे से लड रहे है, कुश्ती मची हुई है, जोरो में चचु-प्रहार चल रहे है, शोर मचा हुआ है। ये इनके रोजमर्रा के किस्से हैं।

मादा को देखकर यह तरह-तरह के करिश्मे दिखाता है, उडकर सीधे आसमान की ओर चला जाता है, फिर डैने बन्द कर नीचे की ओर ऐसे गिरता है मानो प्राणहीन हो गया हो, पर जमीन तक पहुचते-न-पहुचते पुन उडकर खडा होता है । ऐसी अनेक लीलाए दिखा-दिखा कर वह मादा के मन को वश में कर लेता है, जोडा बाधता है, और तब दोनो मिलकर गृह-निर्माण—घोसला बनाने में लग जाते हैं । इसके अडा देने का समय मार्च से जुलाई तक है । वैसे नाम तो इसका नीलकठ है पर इसका कठ नीला नही होता, पख नीले होते हैं जो खुलने पर अत्यन्त सुन्दर लगते हैं । इसके सर के बीचो-बीच एक आसमानी चित्ती होती है और वहा से पीठ तक का रग भूरा होता है । तत्पश्चात् हरी और आसमानी लकीरे । डैने और दुम पर भी शुरू में आसमानी, फिर हल्का नीला और अन्त में गहरा नीला रग होता है । कई रगो में रगा हुआ इसका शरीर देखने में बहुत ही सुन्दर लगता है । नर और मादा की रूप-रेखा में कोई अन्तर नही है ।

फसल को नुकसान पहुचाने वाले कीडे-मकोडे, टिड्डी, झीगुर, गुबरैला, चुहिया, मेढक, साप आदि—इसके आहार हैं । इनकी खोज में यह चुपचाप बैठा हुआ ऐसा प्रतीत होता है मानो मिट्टी की मूर्ति हो, पर शिकार को देखते ही बिजली की तरह उस पर झपट्टा मारता है और उसे पकड कर खा जाता है । सूर्यास्त के पूर्व बहुधा टेलीग्राफ के तार पर ये ध्यानमुद्रा में बैठे हुए नजर आते हैं ।

नीलकठ ऐसी जगहो पर बैठना अधिक पसन्द करता है जहा से वह चारो ओर वगैर किसी रुकावट के अपनी नजर दौडा सके, उड कर कीडो को पकड सके (चित्र सख्या ६४) । कहावत मशहूर है—

नीलकठ कीरा भखै करै बधिक को काम ।

O

कुररी या टिटहरी
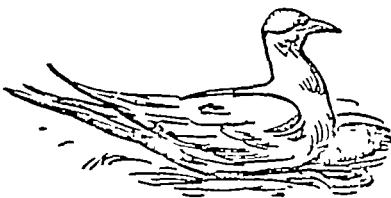
गोस्वामी तुलसीदास ने "विलपत ज्यो कुररी की नाईं" लिख कर जन-समाज की इस धारणा को, कि कुररिया निशा-काल में क्रन्दन करती हैं, और भी पुष्ट कर दिया । श्री मुकुटधर पाडेय की कल्पना शायद तुलसीदास की इस पक्ति से ही एक दिन सहसा सजग हो उठी थी और आज से प्राय ३०-३५ वर्ष पहले उन्होंने दिन भर सुदूर खेतो में दाना चुगने के बाद महानदी के गर्भ में विश्राम करने वाली कुररी के प्रति ये सुन्दर पक्तिया लिखी थी—

बता मुझे ऐ विहग[1] विदेशी अपने जी की बात
पिछड़ा था तू कहा, आ रहा जो कर इतनी रात ?
निद्रा में जा पडे कभी के, ग्राम्य मनुज स्वच्छन्द
अन्य विहग भी निज खोलो में सोते हैं सानन्द।
इस नीरव घटिका में उड़ता है तू चिन्तित-गात,
पिछड़ा था तू कहाँ, हुई क्यों तुझको इतनी रात ?

* * * *

अन्तरिक्ष में करता है तू क्यो अनवरत विलाप,
ऐसी दारुण व्यथा तुझे क्या है, किसका परिताप ?
किसी गुप्त दुष्कृति की स्मृति क्या उठी हृदय में जाग ?
जला रही है तुझको अथवा प्रिय वियोग की आग ?

महाकवि कालिदास ने भी, रघुवश में, कुररी-क्रन्दन का उल्लेख किया है, यथा—

तथेति तस्याः प्रतिगृह्यवाच
रामानुजे दृष्टिपथ व्यतीते,
सा मुक्त कठ व्यसनातिभारा-
च्चक्रन्द विग्ना कुररीव भूय. ।

पर प्रश्न यह है कि आखिर यह कुररी है कौन-सा पक्षी ? श्री पारसनाथ सिंह ने "पक्षी-परिचय" नामक अपनी पुस्तक में टिटहरी (चित्र सख्या ६५) को कुररी माना है । किन्तु कुअर सुरेशसिंह के विचार में यह टिटहरी से भिन्न एक पक्षी है । उनके ख्याल से यह एक स्वतन्त्र पक्षी है जिसे अग्रेजी मे 'टर्न' नाम से पुकारते है । टर्न की अनेक किस्में हैं जो झील और नदी के तटो पर बैठी रहती है, मछली का आभास पाकर उडती है और झपट्टा मार कर उसे पकड लेती है । मुख्य किस्में दो हैं—एक बडी और दूसरी छोटी । बडी का कद प्राय १६ इच का होता है, इसके सारे शरीर का रग हल्का स्लेटी होता है, नीचे का हिस्सा अत्यधिक हल्का । ग्रीष्म ऋतु में सर का कुछ हिस्सा गाढ़ा काला हो जाता है, मानो कोई मखमली टोपी हो । चोच लम्बी होती है तथा पैर के अगूठे बतखो जैसे जुडे होते है । यही कारण है कि यह पेडो पर न बैठ कर जमीन पर ही बैठी रहती है। हा, पर बतख जैसे पैर पाकर भी यह पानी में तैरना नही जानती । इसकी दुम और डैने काफी लम्बे होते है ।

छोटी टर्न के नीचे का तमाम हिस्सा भी काला होता है। हा, प्रसव के बाद कुछ दिनो के लिए इसके काले रग में गाढी सफेदी आ जाती है ।

अडे नदी के किनारे या किसी निर्जन टापू पर जमीन मे देती है तथा बैठी हुई उनकी निगरानी करती रहती है ।

ये झुड-की-झुड एक साथ रहती है। शाम के वक्त अक्सर पानी के ऊपर सटी हुई ये मछली की ताक में उडती रहती है । ससार के अधिकाश देशो में इनकी कोई-न-कोई

---

१. कुररी अधिकतर जाड़े के दिनो में ही इस देश में देखी जाती है, बाकी दिनो में नहीं ।

किस्म पाई जाती है । इन्हीं में एक सामुद्रिक कुररी भी है जो समुद्र के तट पर ही विशेषत नजर आती है । कुछ किस्में ऐसी हैं जो गर्मियो में ठडे देशो को चल देती हैं, कुछ, जो संख्या में बहुत है, गर्मियो में भी उष्ण प्रदेशो में ही रह कर अडे देती हैं ।

बम्बई के प्राय १७०० मील दक्षिण सेसिल द्वीप समूह (Seychelles Islands) में हजारो की तादाद में कई किस्म की कुररियाँ पायी जाती हैं—काली, सफेद, गुलाबी आदि । इन में एक ऐसी जाति भी है जिस के सर पर तुर्रा होता है । यह भारत के भी कई समुद्र-तटवर्ती भागो में पायी जाती है ।

जैसा कि पहले कह आये है, ये नदी, झील या समुद्र के निर्जन सिकतामय तटो पर अडे देती है। एक साथ झुड-के-झुड अडे देती तथा उन्हें बैठी सेती रहती हैं । सयोगवश वहा यदि आप कभी पहुच जाए तो देखेंगे कि आपकी उपस्थिति ने एक तहलका मचा डाला है। अडे सेती हुई ये चिडिया सहसा उड पडेंगी । जल के ऊपर उडते हुए पक्षियों का झुड भी फौरन वहा आ उपस्थित होगा और फिर तो वे सभी मिलकर आपके सर के ऊपर मडराना तथा एक विचित्र प्रकार का क्रन्दन करना शुरू कर देंगी और थोडी देर में आप वहा से स्वय ही चल पडेंगे। "विलपत ज्यो कुररी की नाईं" से अभिप्राय क्या इसी क्रन्दन से है ?

श्रीमद्भागवत के एकादश स्कन्ध, अध्याय ७, में अवधूतोपाख्यान की चर्चा है । महाराज यदु से अवधूत कहते हैं—

हे राजन्। मेरे अनेक गुरु हैं जिन्हे मैंने अपनी बुद्धि से स्वीकार किया है उनके नाम सुनो—

पृथ्वी, वायु, आकाश, जल, अग्नि, चन्द्रमा, सूर्य, कपोत, अजगर, समुद्र, पतग, मधुमक्खी, हाथी, मधुहारी, हरिण, मीन, पिंगलावेश्या, कुरर पक्षी

और फिर आगे चल कर यह बताते है कि उन्होने कुरर पक्षी (स्त्री०—कुररी) से क्या सीखा—

> परिग्रहो हि दु खाय यद्यत्प्रियतमं नृणाम्
> अनन्त सुखमाप्नोति तद्विद्वान्यस्त्वकिंचन. ।
> सामिष कुरर जघ्नुर्वलिनो ये निरामिषा.
> तदामिष परित्यज्य स सुख समविन्दत ।

—अर्थात् (कुरर पक्षी से मैंने यह सीखा है कि) मनुष्यो को जो-जो चीजें अतिशय प्रिय है उनका सचय करना ही उनके दु ख का कारण है। ऐसा जानकर अकिंचन भाव से रहने वाला (असग्रही) असीम सुख का भागी होता है। एक कुरर पक्षी को, जो चोच म मास लिए हुए था, कुछ अन्य वलवान पक्षियो ने देखा। इन पक्षियो के पास मास नही था। उन्होंने कुरर को वहुत मारा, तव उसने उस मास को त्याग दिया और शान्ति प्राप्त की ।

टीकाकारो ने यहा कुरर पक्षी से चील की श्रेणी के एक पक्षी का आशय माना है, चूकि चोच में मास लेकर उडने वाला, मास का शौकीन पक्षी चील ही है जिसके सम्वन्ध में गालिव की यह उक्ति मशहूर है—

विरमो-वाम अपने पास कहां ?
चील के घोंसले में मास कहां ?

कुररी को मछली का शौक तो जरूर है, पर मास का शौक है कि नही, यह हमारे वे पाठक ही वता सकेंगे जिन्हें कुररियो का सान्निध्य प्राप्त हो। महाकवि वाल्मीकि ने रामायण में इसका जिक्र इस प्रकार किया है—

द्वितीयो बलिभोजाना ये च वृक्षफलाशना.
भासास्तृतीय गच्छन्ति क्रौंचाश्च कुररैः सह।

तो क्या कुररी चील की जाति का ही कोई पक्षी है ? स्वभावत उपर्युक्त पक्तिया पढ़ कर यह प्रश्न हमारे मस्तिष्क में जाग्रत होता है ।

कुछ लोगो का कहना है कि कुररी और कोई पक्षी नही टिटहरी ही है, जो तमाम रात करुण-क्रन्दन करती रहती है। कभी-कभी तो इसके विलाप से हमारी नीद तक हराम हो जाती है। इसकी वोली में रोनेपन का इतना आभास है कि लोग इसका वोलना अशुभ तक मानने लगे हैं । टिटहरी भी पानी के किनारे रहने वाली चिडिया है, जिसका कद वारह-तेरह इच से अधिक नही होता। इसके सर, गर्दन और सीना काले होते हैं, नीचे का हिस्सा सफेद । गर्दन पर दोनो ओर दो सफेद धारिया होती है, जो ऊपर आखो तक चली जाती हैं । पूछ और डैनो में भी सफेद धारिया रहती है । इसकी चोच लाल, आख की पुतली कत्थई और पैर पीले होते हैं। पीठ और डैने लाल और हरेपन की चमक लिए हुए होते हैं । वदन दुवला होता है और इसी लिए कभी-कभी अत्यन्त क्षीण शरीर वालो की उपमा टिटहरी से दी जाती है। पर इसका प्रयोग वुरे भाव में होता है, अच्छे में नही ।
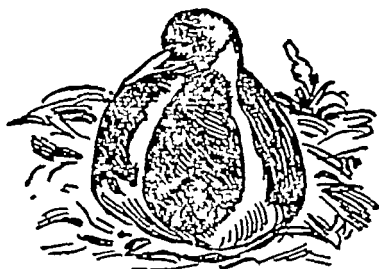
टिटहरियों में ही एक छोटी जाति की, तेज उडने वाली, टिटहरी होती है जिसके सर पर एक चोटी होती है । एक तीसरी जाति भी है जिसकी चोच लाल नही, पीले रग की होती है ।

टिटहरी की आदते वहुत कुछ पूर्वोक्त टर्न पक्षी से मिलती है—जल के किनारे खुली रेती में अडे देना, किसी के आने पर उड कर शोर मचाना आदि-आदि। मनष्य को देखकर कभी-कभी यह उसके आगे-आगे दौडने लगती है, निकटस्थ होने पर आवाज करती हुई उड पडती है । पर कुछ ही क्षणो में पुन पूर्ववत् जमीन पर दौडना शुरू कर देती है।

शिकारियो के लिए यह एक वडा विघ्नकारक पक्षी है । जहा किसी शिकारी को किसी टिटहरी ने देखा झट शोर मचाना शुरू कर देती है। यही नही, उडकर शिकार—शेर, चीते, भालू, घडियाल आदि—के पास फौरन पहुच जाती है और जोर से चिल्लाना आरम्भ कर देती है, जिससे वे सतर्क हो जाते हैं, समझ जाते है कि कोई शिकारी निकटस्थ हैं, और आत्मरक्षा में सलग्न हो जाते हैं । शिकारी इसीलिए टिटहरी को वडी नफरत की निगाह से देखते हैं ।

कटे हुए खेत तथा वे स्थान जहा से जल हट गया हो, पर नमी मौजूद हो, इसे अधिक पसन्द है। छोटे कीडे-मकोडे इसके आहार है। रात में शायद इसे नीद नही आती क्योकि सारी रात यह वोलती रहती है। कौन जाने किसकी विरह-व्यथा में।

टिटहरी सोते समय अपने पावो को ऊपर की ओर कर के सोती है। कहते है, एक वार किसी ने उससे इसका कारण पूछा तो उसने बडे गर्व के साथ उत्तर दिया कि मूर्ख! तुझे पता नही आकाश गिरने वाला है! उसे मेरे सिवाय कौन दूसरा थाम सकेगा ? उसे रोकने को ही तो मै अपने पाव ऊपर की ओर रखती हू। ऊपर की ओर पाव करके सोने के कारण ही सस्कृत में इसे 'उत्पादशयन' या 'उत्तानपाद' भी कहते है— 'टिट्टि-भस्तु कटूक्काण उत्पादशयनोहन्तुक।' पर प्रश्न यह है कि क्या टिट्टिभ (टिटहरी) रात में सोते भी है। "राजनिघण्टु" कहता है—

टिट्टिभीपीतपादश्च सदालुता नृजागर
निशाचरी चित्रपक्षी जलशायी सुचेतना।

यदि यह निशाचरी है, तथा 'सुचेतना'—सदा जाग्रत और सतर्क, तो फिर सोती कव है ? कैप्टेन लेगी लिखते है—

"यह रात में वडी सतर्क—रहने वाली चिडिया है, अपनी आवाज से सोयी हुई वन की प्रकृति को जगा कर भयभीत कर देने वाली है।"

सम्भव है कि यह नीद में न होकर पाव ऊपर करके विश्राम-मात्र कर लेती हो या वह इसकी श्वान-निद्रा हो। पक्षीतत्वविद् 'ईहा' महोदय का कथन है कि किसी ने आज तक टिटहरी को निद्रित अवस्था में नही पाया।

पूर्वोक्त श्लोक में टिट्टिभ की स्वभावगत प्रवृत्तियो का उल्लेख है—'सदालुता' नर और मादा का पृथक-पृथक विचरण करना जाहिर करता है, नृजागर एव निशाचरी है, चित्रपक्षी है शरीर पर इसके चित्राकण जैसा वर्ण-विन्यास है, जलशायी है जल से घिरी जगहो, टापू आदि, इसका निवास स्थल है, तथा 'सचेतना'—हमेशा सतर्क रहने वाला पक्षी है कभी गाफिल नही होता। दिन हो या रात, आगन्तुक को देखते ही टिट्टि-टिट्टि करता हुआ यह भाग खडा होता है। पचतन्त्र में टिट्टिभ (टिटहरी) के सम्वन्ध में एक रोचक कथा है, जो इस प्रकार है

किसी समुद्र के तट पर एक टिट्टिभ-दम्पति रहा करता था। प्रसवकाल के निकट होने पर टिट्टिभी ने एक दिन टिट्टिभ से कहा—अव मेरा प्रसवकाल समीप है, अतएव एक सुरक्षित स्थान ढूढो जहा मै अडे दे सकू। टिट्टिभ वोला—समुद्र तट से वढिया कौन-सा स्थान हो सकता है, यही अडे दो। पर टिट्टिभी को यह वात पसन्द न आयी, वोली—समुद्र में ज्वार-भाटा आता रहता है, मेरे अडो को वहा ले जाएगा। टिट्टिभ ने अहकार भरे शब्दो में कहा—समुद्र की क्या मजाल कि वह मेरे अडो का अपहरण करे।

समुद्र के कानो में उसके ये अहकार-भरे शब्द आए। उसने सोचा, ठीक ही कहा है, कि यह ससार अहकारियो से भरा हुआ है—

उत्क्षिप्य टिट्टिभ पादावास्ते भगभयाद्दिव
स्वचित्तकल्पितो गर्व कस्य नात्रापि विद्यते ?

—आकाश के पतन की आशका से टिट्टिभ अपने पावों को ऊपर करके सोता है। इस ससार में किस मनुष्य को अपने चित्त से कल्पना किया हुआ अहकार नही है ?

अन्त में टिट्टिभ की वात ही रही तथा टिट्टिभी ने समुद्र-तट पर अडे दिए। समुद्र उसके अहकार को वर्दाश्त न कर सका, पूर्णिमा के दिन सारे अडो को बहा ले गया।

टिट्टिभी दुखी होकर सिसकिया भरने लगी, फिर पति पर क्रोधित हो कर वरस पडी। टिट्टिभ ने कोई दूसरा उपाय न देखकर पक्षी-कुल-सम्राट गरुड के पास जाकर अपनी दुःख-गाथा कह सुनाई। गरुड ने भगवान विष्णु से इसकी फरियाद की। गरुड उनका प्रिय वाहन ठहरा, वह किस तरह उसकी अवहेलना करे। सो अन्त में समुद्र को भर्त्सनाए सुननी पडी। यही नही, टिट्टिभी के अपहृत अडे भी उसे लौटाने पडे। उसका मान-मर्दन हुआ। वह भी एक छोटे-से पक्षी के द्वारा—

पश्य, टिट्टिभमात्रेण समुद्रो व्याकुलीकृतः।

एक पक्षी के कारण महासमुद्र तक को अपमान का घूट पीना पडा। पर जैसा कि किसी कवि ने कहा है, सव में सुहागिन वही है जिसे प्रियतम का प्यार प्राप्त है। गरुड न केवल भगवान का वाहन है, वह उनकी असीम कृपा का भाजन भी है। फिर ऐसा हुआ तो इसमें आश्चर्य ही क्या ?

जल-तट के पक्षी

"शीतकाल के पक्षी"—शीर्षक लेख में हमने उन जल-पक्षियो की चर्चा की है जो जाड़ो मे दल-के-दल पहाडो की ओर से यहा, इस देश की विभिन्न झीलो में, उतरते है और हजारो, लाखो की सख्या में छा जाते हैं। फिर वसत के आते-आते पहाडो को लौट जाते है। पर इनके साथ-साथ इन झीलो में कुछ ऐसे जल-पक्षी भी निवास करते है जो इनकी तरह "जालपाद" होकर भी इनसे प्रकृति में भी भिन्न हैं, और रूप-रेखा में भी। ये सभी जल-कुक्कुट वश के पक्षी है जिनका उल्लेख महाभारत के वन पर्व में आया है—कादण्डै-श्चक्रवाकैश्चकुर रैज्जलकुक्कुटै.। सुश्रुत सहिता आदि ग्रन्थो में भी जल-पक्षियो में जल-कुक्कुट का उल्लख आया है तथा ग्रन्थकर्ता ने इन्हें जालपाद, जालाकार पाव वाले कहा है, जसा कि जल में तरन वाले सभ। पक्षियो के पांव हुआ करते है। इनकी एक नही, अनेक किस्म है, रग-रूप म भिन्नता है, फिर भी प्रकृति-सादृश्य के कारण ये सभी जल-मुर्ग की श्रणी म ही रखे गय है।

अन्य जल पाक्षया मे और इनमे सबसे बड़ा अन्तर यह है कि ये जलचारी भी है, भू-चारी भा। जल-थल दाना ही इनक समान रूप स निवास-स्थल है। झाल-तालाब आदि जलाशया क इद-गिद का झाडिया म, सरपत आदि क झुरमुट में, ये एकान्त जीवन बितात है। आस-पास क धान क खता म विचरत है, कभा समीप की वृक्ष-शाखाओ पर बठकर वायु-पान करत हैं। कभा जल में तैरते है आर किसा आगन्तुक का देखते ही जल म एसा डुबका लगात है कि फिर इनके आस्तत्व का पता लगना मुश्किल हा जाता है। हा, पाना स य जब-तब सर निकाल कर देख लेते है कि आगन्तुक है या चला गया, तब फिर य पाना म डुबका लगात है।

जल के बाहर घास म या झाडियो में, ये इस प्रकार छिपे रहते है कि हमें तब तक इनका आभास नही मिल पाता, जब तक कि ये हमारे पाव की आहट पा कर सहसा तेजी से झुरमुट से निकल कर जलाशय की ओर दौड नही पडते, जल में कूद नही पडते। इनमें तेजी ऐसी होती है कि क्षणभर में ही ये झाडी से निकलते हुए दिखाई देकर न जाने किस

ओर चले जाते है। फिर पल मात्र म वृक्ष-शाखा पर बैठे हुए नजर आकर दूसरे क्षण जला-शय के तट पर दीख पडते है—और तीसरे क्षण जल के भीतर। ऐसी फुर्ती शायद ही किसी और जाति के पक्षी में हो।

इनकी रूप-रेखा मुर्गे की-सी न होते हुए भी इनका नाम जल-कुक्कुट क्यो पडा, यह प्रश्न स्वभावत हमारे मन में आता है। अग्रेजी में भी इन्हे इडियन मूरहेन (भारतवर्षीय जल-मुर्गी), वाटर कॉक (जलमुर्ग), पर्पल मूरहेन (बैगनी रग की जल-मुर्गी) आदि नामो से पुकारते है।

दोनो के स्वभाव में सादृश्य ही इसका कारण प्रतीत होता है। मुर्गे की तरह ही ये भी अपनी दुम ऊची करके रखते है, तेजी से इधर-उधर घूमते है तथा आसानी से उडने में असमर्थ है, पाव के नाखून से पृथ्वी कुरेद कर खाने की चीजो की खोज करते है तथा पजो की चोट से अपने दुश्मन को परास्त करने की चेष्टा करते है। इनके नवजात शिशु भी मुर्गे की भाति ही जन्म-धारण करते ही चारो ओर दौडना शुरू कर देते है—इन सारी बातो में मुर्ग-जाति के पक्षियो से इनकी गहरी समानता है।

चपलता की दृष्टि से इनमें सबसे श्रेष्ठ वह है जिसका पेट सफेद, शरीर का बाकी हिस्सा गाढा खैरा होता है, जो दूर से देखने में काला-सा लगता है। शैशव-काल में यह धूसर वर्ण का सा लगता है। नर और मादा में कोई भेद नही है। सस्कृत में इसके कई नाम है—दात्यूह, कालकठ, मासग, सितिकठ, कटाचुर आदि। इसके तीव्र कठस्वर के सम्बन्ध में सस्कृत का एक श्लोक है—

प्रावृट्काले सुखीभूत्वा कोवा कुत्र न गच्छति।
इति वदति दात्यूह : कोवा कोवा क्ववा क्ववा।

कैप्टेन लेगी (१८८०) ने लिखा है—

"वैसे तो मेरे लिए अपने यूरोपीय पाठको को शब्दो द्वारा इन पक्षियो की आवाज को ठीक-ठीक समझाना बहुत मुश्किल है, परन्तु वे शुरू में कुछ धीरे-धीरे कौर-कौर का शब्द करते है और फिर जोर-जोर से और कुछ आवाज को तोडते हुए कौर वक-वक कौर वक-वक करते है। फिर ये शब्द कूर-कूर-कूर की गहरी आवाज में परिवर्तित हो जाते है जो धीरे-धीरे खत्म होते दिखायी देते है और ऐसा प्रतीत होने लगता है कि बहुत अधिक थकावट के कारण पक्षी का गला अचानक बैठ-सा गया है।"

श्रीमद्भागवत, स्कन्ध ८, अध्याय २, का एक श्लोक है—

हसकारण्डवाकीर्णं चक्राह्वै सारसैरपि,
जलकुक्कुट कोयष्टिदात्यूहकुलकूजितम्।

जल-कुक्कुट जाति के यहा दो पक्षियो का उल्लेख है, कोयष्टि तथा दात्यूह। प्रस्तुत पक्षी ही दात्यूह है जिसे जल-कौआ भी कहते है। बरसात में यह इतना शोर मचाता है कि आदमी इसकी आवाज से ऊब जाता है।

कहीं-कही इसे 'बस मुर्गी' भी कहते है, क्योकि बसवारियो में रहना इसे बहुत पसद है। कोयष्टि को अग्रेजी में जल-मुर्ग के नाम से पुकारते है। इसके शरीर का रग धूसर है जिस पर गाढी रेखाए बनी होती है, जनन-ऋतु के आते ही नर के रग में फर्क आ जाता है—धूसर मिश्रित कृष्णाभ में बदल जाता है। यही नही, सर पर इसके एक शृग-सा उग जाता है जो जनन-ऋतु के साथ-साथ ही फिर गायब भी हो जाता है।

वगाल में इसे 'कोडा पाखी' के नाम से पुकारते है । राज्य के पूर्वीय हिस्से में इसे मुर्गे की तरह पालते है, मुर्गे की ही तरह यह खूव लडता भी है । घास-पात आदि से घिरी जगहो में ही यह रहता है । साधारणत ऐसी जगहो पर, जहा मनुष्य का पहुचना कठिन रहता है, वर्षाकाल में यह बहुधा अपने घोसले में ऊँचे वोल कर में अपनी उपस्थिति का परिचय देता रहता है । अपने आहार की तलाश में यह अधिकतर दिन में नही, शाम को ही निकलता है । जल-भरे धान के खेतो में यह ऐसे समय अक्सर नजर आएगा ।

कारण्डव भी, जिसका उल्लेख उपर्युक्त श्लोक में है, एक ऐसा पक्षी है जो जल में वतखो के साथ मिला रहता है, साथ ही जलाशय के निकटवर्ती घास-फूस तथा झाडियो में भी विचरण करता है । इसके सारे वदन का रग स्लेटी काला होता है तथा डैनो में किनारे पर सफेदी होती है । आखें लाल होती हैं, माथे पर सफेद-सा टीका रहता है, जिसकी वजह से कुछ लोग इसे टीका पक्षी के नाम से भी पुकारते हैं । कद में १६ इच से अधिक नही होता । पैर और उसकी अगुलिया बहुत लम्बी होती है ।

अग्रेजी में इसे 'कूट' और हिन्दी में टिकरी कहते हैं । टिकरी से मिलता-जुलता एक पक्षी है खेमा या जल वोदरी । वगला मे इसे वूडी पाखी कहते हैं । डुवकी लेने में यह अत्यन्त कुशल होता है । इसकी देह का वैगनीपन रग लिये हुए स्लेटी है, सीना गाढा नीलापन लिए तथा सर इसका वादामी स्लेटी रग का होता है । आखे रक्त वर्ण, चोच गाढे लाल रग की होती है । धूप में इसका वदन चमकता हुआ वडा ही सुन्दर लगता है । इसीलिए अग्रेजी में इसे 'पर्पल मूरहेन' के नाम से पुकारते है ।

यह दल वाध कर रहने वाली चिडिया है । खेमो को आप अक्सर पानी के ऊपर मालाकार रूप में तैरते हुये पायेंगे । स्वच्छ जल की अपेक्षा घास-पात, सेवार आदि से भरे हुए तालाव इन्हें अधिक पसद है । इनके मुख्य आहार भी वे ही हैं और इसीलिए धान के खेतो में घुसकर ये काफी नुक्सान पहुचाते है ।
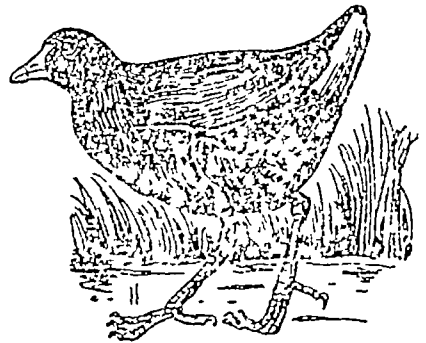
एक और पक्षी है जिसे अग्रेजी में 'मूरहेन' कहते है। इसे आप ज्यादातर छोटी-मोटी ताल-तलैयो में, सडको के किनारे जलभरे गढो में पायेंगे। रग इसका कुछ-कुछ काला पीठ पर पीलापन तथा इसकी पूछ के अत भाग में सादी धारी होती है। आम तौर पर जल-मुर्गी के नाम से ही यह विख्यात है।

जल-कुक्कुट वशीय पक्षी-समूह का सक्षेप में यही इतिवृत्त है। ये सभी रूप-रग में भिन्न होकर भी स्वभाव में अधिकाशत एक-से होते हैं, यह आरम्भ में कहा जा चुका है। वर्षा के प्रारम्भिक दिनो में जोडा बाधते तथा घास-पात के बीच या जलाशय के समीप-वर्ती वृक्षो के कोटर में अडा देते हैं अथवा तालाव के भीतर उगे हुए पौधो के सहारे घोसला बनाकर। इनके घोसले कुरूप तथा अडे एक-से न होकर कई प्रकार के, लम्बे-चौडे, होते हैं।

इनके अलावा भी कई और पक्षी हैं जो देखने में, और प्रकृति में भी, इनसे भिन्न हैं, पर जिनका निवास जल और थल दोनो में ही है। सबसे प्रमुख सिलही (चित्र सख्या : ६६) नामक बतख है जो यहा की बारहमासी चिडियो में है। कद में प्राय १७ इच की, सर, गर्दन, सीना और पैर लाल, चोच भूरे रग की होती है। टागें बडी होती हैं जिनके द्वारा यह आसानी से पहचानी जा सकती है। घास-पात से भरे हुए तालाब इसे ज्यादा पसद हैं, स्वच्छ जल की सरिताए अथवा सरोवर नही। किनारे के बबूल आदि वृक्षो पर यह बसेरा बनाती है। खूब तैराक होती है तथा उडते समय सीटी की-सी सुरीली आवाज करती है जिसके कारण अग्रेजी में इसे 'ह्विसलिग टील' के नाम से पुकारते है। जून से सितम्बर के बीच यह अडे देती है जो शुरू में खूब सफेद होते हैं, पर पीछे चलकर मटमैले हो जाते हैं।

दूसरा पक्षी नकटा (चित्र सख्या ६७) है, जिसकी गणना बडी बतखो में की जा सकती है। इसके नर की चोच के ऊपर काला-सा कुछ उठा हुआ होता है, जिसके कारण यह नकटा नाम से प्रसिद्ध है। इसके ऊपर का सारा हिस्सा काला होता है, नीचे का सफेद। सर और गर्दन पर काली चित्तिया होती है। चोच काली, पैर स्लेटी रग के होते है। मादा की चोच पर कोई उठी हुई चीज नही होती। यह ज्यादातर बडे तालाबो में रहता है। बरसात के दिनो में किनारे के किसी दरख्त पर घोसला बनाकर अडे देता है जिनकी सख्या १०-१२ या इससे भी अधिक होती है। आहार मुख्यत घास-पात, पौधो की जड और धान है। जल के छोटे कीडे भी खा लेता है।

बानवर भी तालाबो में रहने वाले पक्षी हैं, जिनके सर और गर्दन पर'पर' नही होते। रग इनका नीलापन लिए हुए काला, काले बदन पर सफेद भूरी तथा स्लेटी धारिया, बिन्दिया और चिन्ह भी बने होते है। चोच और पैर भी काले ही होते है। लम्बी चोच,लम्बी गर्दन—ये इनकी खास पहचान है। पानी के भीतर से अपनी लम्बी गर्दन निकाल कर चारो ओर देखते हुए तैरते है, बीच-बीच में डुबकी लगा लेते हैं। इनका खास आहार मछलिया हैं। झुड बाधकर रहते है। वर्षाकाल में तटवर्ती वृक्षो पर ये घोसले बनाते तथा अडे देते है। कद में ये प्राय तीन फुट के होते है। तालाब के किनारे तरु-शाखाओ पर ये अक्सर बैठे हुए नजर आयेंगे।

बानवर की आदतो से मिलती-जुलती आदतो वाली एक चिडिया है जिसे

'पनकौआ' (चित्र सख्या ७४) के नाम से पुकारते हैं यह काली वतखो के रग की होती है । शरीर का रग चमकीला काला, लम्वी सख्त दुम तथा चोच कुछ टेढ़ी-सी होती है । गले के नीचे एक श्वेत चिन्ह होता है । नर और मादा में कोई अन्तर नही होता ।

जल में डुवकिया लगाने में पन कौए को निपुता प्राप्त है। जल के भीतर मछलियो का पीछा करना और उन्हे पकड-पकड कर खाना इसका रोज दिन का काम है । तालाब, झील आदि इसके निवास-स्थल है ।

जल-कुक्कुट की तरह जल-कपोत भी तालावो में रहने वाले पक्षी है, पर फर्क इतना है कि ये उन्ही झीलो अथवा तालावो में रहते है जो कमल, कुमुदिनी, सिघाडा आदि पौधो से भरा होता है, स्वच्छ सरोवर में नही । तटवर्ती घास-फूस के झुरमुट भी इन्हे पसन्द नही है । ये ज्यादातर जल-पौधो—कमल आदि के पत्तो पर चला करते है और कभी-कभी उन्ही पर अडे भी दे डालते है । जल में तैरना और डुबकिया लगाना भी इन्हें आता जरूर है, पर इन्हें अधिक प्रिय है पत्तो पर चलना, और इसीलिए ये स्वच्छ जल वाले सरोवरो में रहना पसद नही करते। इनकी अगुलियो की बनावट इनके पद्म-पत्र पर खडे होने अथवा एक पत्ते से दूसरे पत्ते पर चलने में सहायक होती है । झील अथवा सरोवर में ये कभी तो कमल आदि के पत्तो पर खडे मिलेगे या कभी जल के इन पौधो की ओट में झुरमुट में छिपे हुए, जहा से जब-तब गर्दन ऊची करके चारो ओर देखते भी रहते है ।

जल-कपोत के नर-मादा भी ज्यादातर एक साथ ही रहा करते है । किसी-किसी मरोवर या झील में इनके एक-दो नही पचासो जोडे जहा-तहा जल-विहार करते हुए नजर आयेंगे अथवा पत्तो की झुरमुट में छिपे हुए ।

इनमें उडने की शक्ति अधिक नही, और इसीलिए जव ये किसी आगन्तुक को देख कर उडने लगते है तो थोडी दूर जाकर ही पुन पत्तो पर चलना शुरू कर देते हैं ।

इनकी दो किस्में हैं एक वह जिसका सर, गर्दन तथा छाती चमकदार काली, पीठ और डैने काई लगे हुए पीतल के रग के, पूछ पर कत्थई-लाली होती है । दूसरा वह जिसकी पूछ लम्बी होती है तथा रग में स्वच्छ सफेदी और चाकलेट जैसा कत्थई पन होता है । सर का अगला भाग तथा गर्दन का निचला हिस्सा सफेद, पेट, पीठ तथा दुम के लम्बे पर चाकलेटी रग के होते है । दुम के परो का आकार लम्बा हसुआ जैसा होता है । गर्दन का ऊपरी हिस्सा पीले रग का होता है ।

दोनों के स्वभाव में कोई खास अन्तर नही है, और न नर और मादा की रूप-रेखा में

ही। पाव के अगूठे देखने में मकडी जैसे लगते है। किसी जल-पौधे के ऊपर या कभी-कभी जल की सतह पर ही ये वर्षाकाल में घोसला वनाते है। अडो पर तरह-तरह की विभिन्न वर्ण की रेखाए वनी होती हैं। अडे सख्या में अधिकाशत चार होते है। ये अपने घोसले को पानी में नाव की तरह खेकर एक स्थान से दूसरे स्थान पर भी ले जाते हुए देखे गये है।
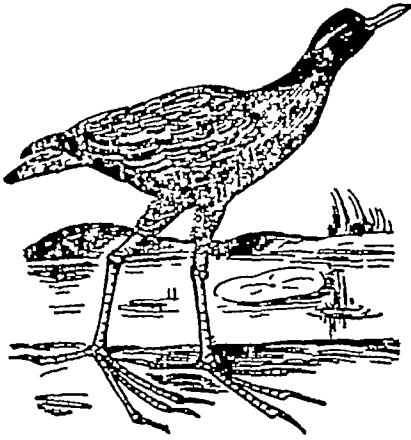
वगाल में इन्हें जल-पिपि तथा वोल-चाल की हिन्दी में 'पिही' अथवा पिहुआ कहते है। सारे देश में उपलब्ध है। कद ये तीतर जैसे होते है।

पेलिकन नाम का एक-जल पक्षी है जो ससार-प्रसिद्ध है। इसे हिन्दी में हवासिल तथा वगला में 'गगन-वेड' अथवा 'गगन-भेरी' के नाम से पुकारते है। कहते है सस्कृत भाषा का 'प्लव' नामक पक्षी भी यही है—प्लस्तु गात्र सप्लव (अभिधान चिन्तामणि)।

पर हवासिल इस देश का वारहमासी पक्षी नही है। शीत काल में इसे अधिकतर समुद्रतटवर्ती प्रदेशो में, जैसे कि वगाल के सुन्दरवन के इलाके में, झुड में देखा जाता है। मद्रास के भी कई स्थानो में यह पाया गया है, घोसले वनाकर अडे देता हुआ भी।

हवासिल जहा भी रहते है झुड में रहते हैं। इनके गाव-के-गाव वसे हुए पाये जाते है। वर्मा में सिताग नदी के आस-पास के जगलो में, झीलो में, फैला हुआ इनका एक उपनिवेश है जिसमें करोडों की सख्या में ये निवास करते पाये गये है। कद में यह गृद्ध से भी वडा, लम्वी गर्दन तथा छोटे लेकिन मजवूत जालीदार पाव वाला पक्षी है। इसका चोंच वहुत लम्वी, मोटी तथा चपटी-सी होती है जिसके नीचे एक नीले रग की वढ़ने-घटने वाली
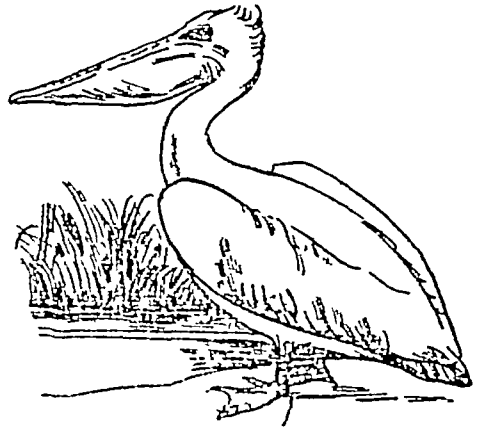
चमडे की वडी-सी थैली वनी होती है। पेलिकन की यह खास चीज है, जो किसी और पक्षी में नही पायी जाती। पेट के निचले हिस्से में सफेदी, पीठ पर कत्थई रग होता है। चोंच के ऊपरी हिस्सो में, नीलापन लिये हुये काले रग के वब्व वने होते है।

ये उड़ने में वहादुर है तथा जव आकाश में उडते रहते है तो इनके गतिशील सुदृढ़ डैनो से एक प्रकार की सीटी की-सी आवाज निकलती रहती है। सम्भव है इनका 'गगन भेरी' नाम इसी कारण से पड़ा हो।

ये मत्स्यभक्षी पक्षी हैं तथा जल में मछली पकडने का इनका तरीका भी बडा रोचक है। समुद्र में जिस तरह दर्जनो की सख्या में मछुए मछली पकडते है, उसी तरह ये भी कई एक साथ मिलकर डैनो की चोट देते हुए आगे बढते है और इस तरह मछलियो को गहरे जल से छिछले पानी की ओर जाने को बाध्य करते है। फिर जल में डूब कर चोच को पानी की सतह पर खोले हुए तिरते है। मछलिया आपसे आप इस चचु-जाल में आ फसती है।

वतखो की तरह ये भी कतार बाधकर आकाश में उडते है। ऊचे वृक्ष पर दल बाधकर घोसले वनाते हैं। अडो की सख्या अधिकतर तीन होती है, रग में वे सफेद होते है।

पेलिकन की चर्वी से निकला हुआ तेल गठिया आदि रोगो के लिए बडा गुणकारी माना गया है।

बगला

पश्य लक्ष्मण ! पम्पायां बक. परम धार्मिक. ।

भगवान रामचन्द्र ने लक्ष्मण को बगले को दिखा कर कहा था। परम धार्मिक.— इसका मतलव यह नही कि वगला सचमुच ही पक्षियो में बडा धार्मिक है, वल्कि इस सज्ञा का प्रयोग व्यग्यात्मक रूप से किया गया है। जिस प्रकार नदी या सरोवर के निर्जन एव शान्त तट पर योगी ध्यान लगाकर वैठा करते है, उसी प्रकार बगला भी जल के किनारे चुपचाप ध्यान लगाकर बैठता है; अन्तर इतना है कि जहा योगी भगवान का ध्यान करते है, यह मछलियो का (चित्र सख्या ७५)। शान्त भाव से वैठे रहने के कारण मछलियो को इसकी उपस्थिति का आभास नही मिलता, व तट की ओर स्वच्छन्दतापूर्वक, निर्भय हो कर, आती है। वगले का ध्यान तभी टूटता है। शिकार को पास आया देख कर वह उसको एक ही झपट में पकड लेता है और निगल जाता है। योगियो जैसी उसकी मुद्रा को देखकर ही शायद भगवान राम ने लक्ष्मण से कहा था—पश्य लक्ष्मण ! पम्पाया वक परम धार्मिक।

आज भी ऊपर से धार्मिक बनने वाले लोगो को, मुह मे राम बगल मे छूरी वालो को "वगला भगत" के नाम से पुकारते है।

तात्पर्य यह कि अडिग होकर लक्ष्य पर ध्यान जमाना बगले का प्रधान गुण है। जिस प्रकार "काकचेष्टा" प्रसिद्ध है, उसी तरह "वको ध्यान" भी ख्यातिप्राप्त है। जीवन में सफलता प्राप्त करने के लिए वगले का यह गुण मानव मात्र के लिए अनुकरणीय है। कितने कर्मठ है ये वगले! किसी सरिता, सरोवर या झील के किनारे जाइए, तो आप देखेंगे कि दिन-दिन भर सैकडो वगले चारो ओर से अपने ध्यान को समेट कर, चित्तवृत्ति का निरोध करके, चुपचाप अपनी कठोर साधना में सलग्न है। उन्हे न तो आकाश के काले-काले, किसी श्यामागी के लहराते केशो-से वादल ही आकर्षित करते है, न वन-उपवन की पराग से भरी हुई, रस से ओतप्रोत, कुसुम-कलिका ही। न उन्हे अमराइयो से प्यार है, न आम्र-मजरी-मदिरा की प्यास है, और न वाग के सुमधुर फलो की ही भूख है। पीले

आम, लाल सेव, काले अगूर—ये सभी उनके लिए तुच्छ है, अनाकर्षक है; उन्हे तो चाह है मछली की, और उसकी प्राप्ति के लिए एकाग्रचित्त होकर ये यत्नशील रहते हैं। काश ! हम भगवद्प्राप्ति के लिए इनकी जैसी एकाग्रता और तन्मयता प्राप्त कर पाते ! तव हमें यह कहने की आवश्यकता न पडती कि—

प्रभुजी, यह मन अधम वरो,
छाडि रावरो चरण सरोरुह, इत-उत भ्रमत फिरो ।

अथवा—

कस न भयो मन थीर,
तजि हरि-चरण-छाह अति सीतल, इत-उत भ्रमत अधीर ।

भगवान करे हमारे चरितनायक का यह वकव्रत—जिस की निम्नलिखित पक्तियो में चर्चा है तथा जो वगले को स्वर एव शरीर-सौन्दर्य से रहित होने पर भी गुणशाली वनाता है—हमारे लिए आदर्श हो !

न कोकिलानामिव मञ्जु कूजितं,
न लब्धलास्यानि गतानि हंसवत्,
न वर्हिणानामिव चित्रपक्षता
गुणस्तथाप्यस्ति वके वकव्रतम् ।

—हे वक ! न तो तू कोयल की भाति मधुरवाणी ही वोल सकता है, न हस के समान तेरी सुन्दर चाल ही है और न मोरो जैसे तेरे रग-विरगे पख ही है । तो भी हे वगुले ! वकव्रत ही तेरा सवसे वडा गुण है ।

वगले को शात भाव से वैठा देख कर ऐसा प्रतीत होता है कि यह पक्षियो में सवसे सीधा-सादा है । पर समय आने पर इसका सारा सीधापन पलमात्र में काफूर हो जाता है; श्रीमान वगला भगत का तभी वास्तविक स्वरूप प्रकट होता है, जव उनके सम्मुख कोई मत्स्यवाला आकर उपस्थित हो जाती है—

न भ्रूणां स्फुरणं न चचुचलनं नो चूलिकाकम्पनम्
न ग्रीवाचलनं मनागपि न यत्पक्षद्वयोत्क्षपणम्,
नासाग्रेक्षणमेकपाददमन कष्टैकनिष्ठं परम
यावत्तिष्ठति वीनमीनवदनस्तावद्वकस्तापसः ।

—इस वगले की न तो भौंहे फडकती है, न चोच ही हिलती है, गर्दन भी विल्कुल स्थिर है, दोनो पख भी निश्चल है। एक पाव पर खडा होकर यह नासाग्र में ध्यान लगाये रहता है । पर यह सव कुछ तभी तक है जव तक कि उसके सामने वेचारी किसी गरीव मछली का अस्तित्व विद्यमान नही है ।

इस गर्दन सिकोडे, एक पाव पर खडे, वूढे वगले को देखकर छोटी-छोटी अवोध मछ-लियो को ऐसा भान होता है कि डडी पर कोई श्वेत कमल खिला हुआ है—

नालेनेव स्थित्वा पादेनैकेन कुञ्चितग्रीवम्,
जनयति कुमुदभ्रान्ति वृद्धवको वालमत्स्यानाम् ।

पर जव वे आगे वढती है तो उस वगले का, जो वडा सीधा-सादा-सा प्रतीत हो रहा था, असली स्वरूप प्रकट होता है—

स्थित्वा धैर्यादुपाम्भः समजठरशिराश्चक्रमूर्तिमुहूर्तम्,
धूर्तः सत्यक्ततीरः कतिचिदपि पदान्युच्चकैः कुचिताघ्रिः
पश्चाद्ग्रीवां प्रसार्य त्वरितगतिरपां मध्यमाविश्य चंच्वा,
चञ्चन्तीमूर्ध्वकठः कथमपि शफरीं स्वारिताक्षो बकोऽस्ति ।

पहले तो वह वगला पानी के पास खडा रहता ह, फिर अपने शरीर को गोल-मटोल वनाकर, अपनी एक टाग को सिकोड कर, आहिस्ता-आहिस्ता किनारे पर आ पहुचता है। और तब तेज चाल से पानी के बीचो-बीच पहुच कर, गर्दन उठा, चमकती हुई मछली को आखें फाड़-फाड कर देखता हुआ, भक्षण करने लगता है ।

यही हैं वे योगिराज जो जल के किनारे कुछ ही देर पहले ध्यानावस्थित नजर आ रहे थे।

नदी, जलाशय, झील, छोटे-छोटे जल भरे गड्ढो में ये अपनी करामात भले ही दिखा ले, विशाल जल-राशि समुद्र में इनकी एक नही चलती—

बकोट ब्रूमस्त्वां लघुनि सरसि क्वापि शफरै
स्तव न्याय्या वृत्तिर्न पुनरवगाढुं समुचितः ।
इतश्चेतश्चाभ्रंलिहलहरिहेलातरलितम्
क्षितिध्रग्रासैकग्रहिलतिमिपोतः पतिरपाम् ।

वगले का जाति-विस्तार बहुत वडा है तथा यह ससार के सभी हिस्सो—यूरोप, एशिया, अफ्रीका आदि में—सम रूप से पाया जाता है। इसकी छ मुख्य उपजातिया हैं जिन में तीन ऐसी हैं जिनका रग स्लेटी है, शेष तीन का गहरा सफेद ।

उपर्युक्त छ उपजातियो में सबसे वडा वगला वह है जिसे आजन बगला कहते हैं। यह आम तौर पर हर जगह पाया जाता है। कद में यह सवसे वडा प्राय ४० इच लम्बा होता है। इसका सर सफेद होता है, सर, चोटी और आंख के पास एक काली पट्टी होती है, गर्दन मटमैली-सफेद होती है। डैने स्लेटी, उनके सिरे काले तथा कन्धो पर सफेद धब्बे होते हे। आखें पीली होती हैं और चोच में कई रग होते हैं—जड नीली, मध्य पीला, सिरे काले रग के होते हे। पैर हरापन लिए हुए धूसर रग के होते हैं। गर्मियो में पीठ के रग में ललाई आ जाती है। इसके पजो में दात होते हैं, जिनके सहारे यह अपने शरीर और चोटी को सँवार लिया करता है ।

मार्च और अगस्त के वीच मादा अडे देती है, जिनकी सख्या साधारणत तीन होती है ।

दूसरे प्रकार का वगला वह है जिसे 'निशावक' (चित्र सख्या ८४) कहते हैं। यह रात में ही विचरता है और कद में करीव २२-२३ इच का होता है । इसके सर के ऊपरी हिस्से तया पीठ पर कालापन रहता है । चोटी सफेद, गर्दन, पेट, दुम और डैने हल्के स्लेटी रग के होते हैं। नेत्र रक्तवर्ण, चोच काली, पर और पाव पीलापन लिए हुए हरे रग के होते हैं । जुलाई-अगस्त के महीनो में मादा चार-पाच तक अडे दिया करती है ।

सवसे छोटी 'वगली' है, जिसमें ढिठाई की मात्रा सवसे अधिक है । पास तक चले जाइए, पर यह न उडेगी, इसके सर और गर्दन का ऊपरी भाग गहरा भूरा व नीचे का सफेद होता है । पीठ स्लेटी, शरीर के वाकी हिस्से साधारणत सफेद होते हैं ।

आख की पुतलियां चमकदार पीली, चोंच काली-पीली-नीली, अर्थात् आगे काली, फिर पीली और अन्त में नीली होती है । पैर गहरे हरे रग के होते हैं । मई से सितम्बर तक इसका प्रसव-काल है। मादा छ-छ अडे तक दे डालती है ।

ये तो तीन स्लेटी वगले हुए । इसके वाद के तीन प्रकार के वगले वे है जो देखने श्वेत, दूध जैसे, होते हैं (चित्र सख्या : ८६) । परन्तु कद में अन्तर होता है। एक खूब वडा, दूसरा मझोला और तीसरा सव से छोटा होता है। ये सभी वर्षाकाल में अडे देते हैं। वर्षा ऋतु में जव आकाश में काले-काले मेघ घिर आते हैं और ऐसा प्रतीत होता है कि वे अव वरसने ही वाले हैं, तो व्योमगामी इन श्वेत वगलो का दल इन मेघो की पृष्ठभूमि में वडा सुहावना लगता है, ऐसा प्रतीत होता है मानो ये मेघवाला के गले का हार हो। इन्ही के सम्वन्ध में विरही यक्ष ने मेघ से कहा था —

गर्भाधानक्षणपरिचयान्नूनमावद्धमाला.
सेविष्यन्ते नयनसुभगं खे भवन्त वलाका. ।

—जलद ! तुम्हारे नेत्र-रजन दर्शन से यह समझ कर कि अव उनका गर्भाधान-काल समुपस्थित है, वलाकाए आकाश में श्रेणीवद्ध रूप में उड-उड कर तुम्हारा अभिनन्दन करेगी ।

उपर्युक्त तीन प्रकार के वगलो में जो सवसे वडा है उसके चोटी नही होती। इस वर्ग की मादा की चोच प्रसव-काल में पीली से काली हो जाती है। मझोले की पीली और छोटे कद वाले की हमेशा काली रहती है ।

मझोले कद के वगले में—जिसे करछिया कहते हैं—एक विशेषता है जिसके कारण किसी जमाने में वे हजारो की सख्या में मार डाले जाते थे। इसके पर वडे सुन्दर होते हैं। प्राचीन काल में पूर्वीय देशो के लोग इसके परो को साफे अथवा पगडी में लगाया करते थे। मणियो से सुसज्जित इसके परो की वनी कलंगी वादशाहो का सवसे मूल्यवान उपहार मानी जाती थी । मिस्र के सुलतान ने नील नदी के विख्यात युद्ध के वाद ऐसी ही एक पगडी नेल्सन को भेंट की थी । यही नही, यूरोप में औरतें भी वडे शौक से इसके परो को धारण करने लगी थी—फैशन में इसका शुमार होने लगा था तथा इसका व्यापार चमक उठा था। परो की खातिर ये हजारो की सख्या म प्रति वर्ष मारे जाने लगे, और एक समय ऐसा भी आया जव मिस्र में इस जाति के वगलो का लोप-सा हो गया ।

छठी अर्थात् अन्तिम श्रेणी उन वगलो की है जिसे 'गाय-वगला' अथवा 'सुरखिया' कहते हैं। यह कद में सवसे छोटा होता है। जव अडा देने का समय समीप आ जाता है तो मादा के शरीर पर नारगी लिए हुए कुछ वादामी पर उग आते हैं और इसी लिए इसे सुरखिया भी कहते हैं । यह अधिकतर चरागाह में मवेशियो के साथ-साथ घूमा करता है, जव-तव उनकी पीठ पर सवार भी हो जाता है तथा उनके पाव की ठोकर से उभारे हुए कीड़े-मकोडो को चट करता रहता है । यही नही, गाय, भैस आदि पशुओ के वदन पर के जू आदि कीटो को भी अपना आहार वनाकर इन पशुओ को इनसे छुटकारा देता है । किसानो के लिए इस जाति का वगला लाभकारी है क्योकि कृषि-कार्य में वाधक न जाने कितने कीडे-मकोडो को यह खा जाता है ।

ऊपर जिन छ प्रकार के वगलो की चर्चा की गई है उन सभी के स्वभाव तथा आदतें

मुख्यत' एक-सी होती हैं। मछली सब को अत्यन्त प्रिय है, साथ-साथ मेढक, जल-कीट आदि जीव भी इन्हे स्वादिष्ट लगते है। यो तो केकडा भी इन्हे प्रिय है, पर यदि वह जिन्दा रहा, तो कभी-कभी इनके गले के भीतरी भाग को कस कर जकड लेता है जिससे इनका प्राणान्त तक हो जाता है। फिर भी लोभवश ये उसे उदरस्थ करने की कोशिश से बाज नही आते।

बगले शिकार तो अलग-अलग किया करते हैं, परन्तु रात में एक ही वृक्ष पर निवास करते हैं—एक साथ, पचासो की सख्या में। जिस वृक्ष पर बगलो ने डेरा डाला, बस समझ लीजिये कि वह समाप्त हुआ। एक तो ये उसे बेतरह गन्दा कर डालते हैं, दूसरे, इनके शरीर से कुछ ऐसी विषैली गर्मी निकलती है जो वृक्ष को धीरे-धीरे सुखा डालती है।

ये वृक्ष पर घोसले बनाकर एक साथ रहते हैं, एक साथ ही अडे देते है। इसका एक कटु अनुभव मुझे हजारीबाग जेल में हुआ। गर्मी के दिन थे। जेल के जिस वार्ड में हम—मैं तथा मेरेसाथी—रखे गये थे, उसमें आम के बहुत-से वृक्ष थे। एक बार सहसा पचासो बगलो ने आकर इन पर डेरा डाला। दिन भर तो वे गायब रहते थे, पर रात में इन पर आ बैठते थे। अडा देने का समय आया। इन्होने घोसले बनाये, अडे भी दिये। बच्चे पैदा हुए। यहा तक तो कुछ बुरा न था। पर धीरे-धीरे इन दरख्तो से असह्य दुर्गन्धि निकलने लगी तो हम घबडा गये। पर करे क्या, कैदी थे, चुपचाप सहते रहे। इतने मे ही एक रात बडे जोर की आधी आयी और वृष्टि भी हुई। सुबह उठकर जो हम देखते हैं तो प्राय एक सौ से भी ज्यादा नवजात बक-शिशु तमाम वार्ड में, कोठरियो में, रसोई घर में, हर जगह विचर रहे हैं। तूफान ने उन्हे घोसलो से निकाल-निकाल कर नीचे गिरा दिया था। एक तहलका-सा मच गया। हम अपनी-अपनी कोठरियो से उन्हे निकालते, वे पुन घुस आते थे। अत में जेल-अधिकारियो को खबर लगी। उन्होने बक-शिशुओ को पकड-पकड कर बाहर भिजवाया और इस प्रकार पवनदेव की कृपा से हमें इन बगलो से सदा के लिए छुटकारा मिला।

दिन मे जो जलाशयो के किनारे योगियो की-सी योगनिद्रा मे लीन नजर आते हैं वे—श्री बगलाभगत—रात में अपने निवास-वृक्षो पर आपस में खूब झगडते भी है। रात भर शायद बैठने के स्थान के लिए घोर सघर्ष चलता रहता है, एक दूसरे पर प्रहार होता रहता है, पखो की फडफडाहट तथा उनकी कोक-कोक की बोली से सारा वृक्ष तथा उसके अडोस-पडोस की जगह अशात बनी रहती है। चेहरे कभी-कभी धोखे में डालने वाले भी होते है, दिन में बगला इतने शान्त स्वभाव वाला दृष्टिगोचर होता है, रात मे वही इस कदर झगड़ालू।

लगलग या महाबक

लगलग या महाबक एक ऐसा पक्षी है, जिसकी बेढगी सूरत-शक्ल पर हम दिल खोल कर हँसते है। पर जिस तरह उल्लू की कद्रदान स्वय लक्ष्मी है, उसी तरह लगलग के कद्रदान भी इस भव-भूतल पर विद्यमान है और वे हैं अलसेस (फ्रास और जर्मनी के बीच

ा एक प्रान्त)के निवासी, जिनका यह विश्वास है कि घर में अथवा अड़ोस-पड़ोस में यदि
ागलग आ कर रहें तो मनुष्य को सन्तान तथा धन की प्राप्ति होती है । यही नही, वहा
ागलगो को आकर्षित करने की तरह-तरह की चेष्टाए भी की जाती है । अभी पिछले
दिनो रिवोविले नामक एक शहर की नगरपालिका ने नगर के भिन्न-भिन्न स्थानो पर ऊचे-
ऊचे मचान बना कर उन पर हू-बहू वैसे ही घास-पात-लकडियो के घोसले बनवाये
है, जैसा कि लगलग स्वय बनाया करते है, ताकि उन्हे नगर में आकर्षित किया जा सके।
इनका मनोवाछित परिणाम भी हुआ है तथा बहुतेरे लगलग इनसे आकृष्ट हो कर शहर
में आ बसे है । नगरपालिका ने इसके लिए एक खास समिति का निर्माण किया है जो
हर प्रकार से लगलगो की सुविधाओ की व्यवस्था किया करेगी। यही नही, मोरक्को से
अडे मँगा-मँगा कर कृत्रिम ढग से उनके सेने का प्रवन्ध भी इस समिति के द्वारा हुआ है
और इनसे निकले हुए बच्चे आज शहर में नगरवासियो के प्यार के भाजन हो रहे है ।
धन्य है अलसेस-निवासियो की यह कद्रदानी !

जिस लगलग की यूरोप के एक हिस्से में आज इतनी पूछ हो रही है, वह आखिर
है कौन-सा पक्षी ?

इस पुस्तक में अन्यत्र हमने कई ऐसे पक्षियो की चर्चा की है जो जल के किनारे
रहा करते है, घाट के पडे है, पर जल के भीतर बतखो की तरह न तो निवास करते है
और न डुबकी ही लगाते है। तात्पर्य सारस, बगला, कुररी, कौडिल्ला आदि पक्षियो से है।
ऐसे ही पक्षियो में एक लगलग भी है जिसे अग्रेजी में स्टार्क, बगला में 'हाडगिला' कहते
है तथा जिसके सम्बन्ध में 'बर्ड्स आफ द प्लेन्स' (१९०९) के लेखक ने लिखा था कि यह
प्रकृति का एक छोटा-सा मजाक है । लम्बे पाव, सर और गर्दन परो से खाली, छोटी
आखें—शायद इसी रूप-रेखा के कारण उपर्युक्त लेखकने इसे 'प्रकृतिका एक छोटा-सा मजाक'
कहा है । पर जिन्होने उसे चक्राकार ऊपर उठते या नीचे की ओर आते देखा है, वे शायद
इस कथन से सहमत न होगे, क्योकि उसकी उस समय की आकृति और ढग आखो को बडा
सुहावना लगता है ।

हिन्दी भाषा में इस जाति के पक्षी के लिए कोई एक उपयुक्त शब्द नही है । इसकी
कई किस्में है। भिन्न-भिन्न किस्मो के लिए अलग-अलग नाम है, जैसे कि "घोघिल" (घोघा
खाने के कारण), "जाबिल", "गैबर", "लोहा", "लगलग" आदि । पर यदि इनको
हम एक ही नाम "महाबक" के भीतर ले जाए तो अधिक अच्छा हो । लगलग इनमें
सबसे प्रमुख है, अत इस पक्षी-समूह को यदि हम लगलग के नाम से भी पुकारे, तो कोई
हर्ज नही है । दरअसल लेख के शुरू में हमने लगलग शब्द का प्रयोग इसी अर्थ में किया
भी है।

लगलग, जो इस जाति के पक्षियो में प्रधान है, कद में प्राय ३ फुट का होता है ।
इसके सर का ऊपरी हिस्सा काला रहता है, बाकी सभी गर्दन के नीचे तक सफेद । दुम
के नीचे का हिस्सा भी सफेद ही होता है। शरीर का बाकी सारा भाग हरी चमक के साथ
घुर काला होता है । आख की पुतली तथा लम्बी टागें लाल होती है, चोच काली ।

महाबक की एक दूसरी जाति भी है, जिसका सारा बदन बर्फ जैसा सफेद होता है,
केवल डैनो के कुछ पर गहरे काले होते है। गरज यह कि इस जाति के पक्षियो में काले
और सफेद दोनो वर्णो का सुन्दर सम्मिश्रण है । स्वभाव से ये शर्मीले होते है । कभी
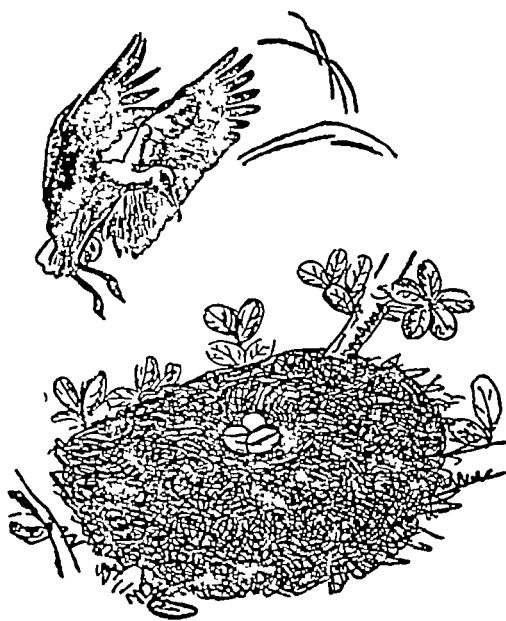
झुड वांध कर नही रहते। छः-सात भी यदि एक स्थान पर होंगे, तो एक साथ या एक जगह पर नही, दूर-दूर।

इनका दाम्पत्य-प्रेम स्तुत्य है। कपोत की भाति नर और मादा, साथ-साथ रहते हैं। स्वभाव से ये चुप रहने वाले पक्षी हैं, पर प्रजनन-ऋतु के आते ही खूब शोर मचाते हैं। उन दिनो इनकी सारी लाज मानो विलीन-सी हो जाती है। इनकी बोली कर्कश और कर्णकटु होती है।

मछली, घोघे आदि इनके आहार हैं, यहा तक कि मृत पशु-पक्षियो के हाड-मास भी ये वडे चाव से खा जाते हैं। कलकत्ते में जिन दिनो सफाई की व्यवस्था अच्छी न थी, वहुतेरे स्टार्क सडे-गले हाड-मास आदि पदार्थों का भक्षण करके नगर की स्वास्थ्य रक्षा में सहायक हुआ करते थे।

वडे-वडे नगरो में ये बहुधा खाने की खोज में लगे देखे जाते हैं। पता नही इस देश की किसी नगरपालिका ने इनकी इस मानव-सेवा की प्रकृति से लाभ उठाने की चेष्टा की है या नही।

लोक-सेवा की उक्त सद्भावना के कारण ही शायद पश्चिम एशिया तथा उत्तरी अफ्रीका के मुसलमान इस पक्षी को वडी श्रद्धा की दृष्टि से देखते हैं। तुर्क उससे भाई-चारे का सम्बन्ध रखते हैं, मोरक्को तथा मिस्र के लोग उसकी मजहवी तरीके पर इज्जत करते हैं तथा भारतवर्ष में भी इसकी हत्या करना मना है। जाडो में तालाव के किनारे के किसी वृक्ष पर, सूखी टहनियो के वने वेडौल घोसले में, आप इसके अडे देख सकते हैं। इनकी सख्या तीन से चार तक होती है।

सक्षेप में महावक का यही परिचय है। यदि हम शरीर-सौन्दर्य पर न जाकर इसकी उपयोगिता पर जाए, तो हम भी अलसेस निवासियो की तरह इसकी कद्र करेंगे और कहेंगे—

> आवहु, आवहु, विहग ! वसहु गृहप्रांगण माहीं,
> हों गुणग्राहक, रूप-रग को गाहक नाहीं।

सारस

दीर्घीकुर्वन्पटु मदकलं कूजितं सारसानाम्
प्रत्यूषेषु स्फुटितकमलामोदमैत्रीकषाय. ।

*   *   *   *

शिप्रावातः प्रियतम इव प्रार्थनाचाटुकारः ।

—मेघदूत

सारस एक ऐसा पक्षी है जिसे एक बच्चा भी बडी आसानी से पहचान सकता है—ऊट जैसा ऊचा बदन, लम्बी गर्दन, लम्बी टागें, कर्कश बोली । ये इसकी पहचान के (चित्र सख्या ७७) चिह्न हैं । बडा ही निडर होता है । जब तक आप उसके बिल्कुल समीप न पहुच जाए, वह उडने का नही । हा, बिल्कुल करीब पहुचने पर खीझा हुआ-सा कर्कश स्वर में कुछ बोलकर उड चलता है । इसके उडने का ढग वायुयान का-सा है । पहले थोडी दूर तक दौडता है, फिर पखों पर आ जाता है । आकाश में ज्यादा दूर तक नहीं जाता, थोडी ऊचाई पर ही उडता है ।

लोग इसे पालते भी है । पालतू हो जाने पर यह साथ-साथ चलता है और रात में पहरेदार का काम करता है । किसी अजनबी के आने पर उस पर चचु-प्रहार तक कर डालता है ।

एक पति अथवा एक पत्नीव्रती है यह । एक बार ही जोडा बाधता है, एक बार जोडा फूट जाने पर फिर नही बाधता । नर-मादा दोनों बहुधा अधर से अधर, चोंच से चोंच मिलाए खडे रहते है । एक को यदि आप गोली का शिकार बना डालें तो दूसरा मरने के लिए तैयार हो जाता है, मुमकिन नही कि मृतक के पास से आप उसे बगैर मारे हटा सकें । वही खडा रहेगा और रोता रहेगा ।

सारस सर्वभक्षी है । तालाब के छिछले किनारो पर यह घूम-घूम कर मछलिया, घोघे, कछुए तथा मेंढक खाता रहता है । पर जल के भीतर नही जाता । मादा पानी के बीच किसी टापू पर अडे देती है । यह स्वभाव से अतरिक्ष-विज्ञान का ज्ञाता है । बरसात कम होगी या ज्यादा, इसका उसे पूर्वाभास-सा मिल जाता है, और मादा उसी के अनुसार अडे देने की जगह चुनती है । यदि अधिक वर्षा होने वाली हुई तो ऊची, वरना नीची जमीन पर । गाव के लोग इसके प्रजनन-स्थान की ऊचाई से ही भावी बरसात की कमी या अधिकता का अदाजा लगा लेते है । इसके सारे शरीर का रग स्लेटी होता है । डैने भूरे होते हैं, गर्दन के ऊपरी हिस्से में ज्यादा सफेदी होती है ।

सारस हमारे देश के प्रसिद्ध पक्षियो में है । भारत, चीन तथा बर्मा के अतिरिक्त यह शायद ही कही और पाया जाता हो । दाम्पत्य-प्रेम का आदर्श रखने वाले इस पक्षी पर स्वभावत हमें अत्यन्त गर्व है ।

चीन निवासी विशेष रूप से इस पक्षी का आदर करते है, इसे सुख-समृद्धि का कारण मानते हैं । वहा एक खास जाति का सारस पाया जाता है, जिसकी जिन्दगी सौ साल की होती है । गत वर्ष हमारे प्रधान मन्त्री श्री नेहरू के जन्म-दिवस पर चीन के प्रधान मन्त्री

श्री चाऊ एन लाई ने इस जाति के कुछ सारस उन्हे भेंट के रूप में भेजे थे, जो आज राष्ट्र-पति भवन दिल्ली के बाग की शोभा बढा रहे है ।

एक खास जाति का सारस है जिसके वश का इस ससार से उत्तरोत्तर लोप होता जा रहा है । ससार भर मे इस जाति के केवल तीस सारस बचे हुए है । देश-देश में, गाव और वनो में, इनकी लगातार खोज की गयी है । फिर भी इनकी सख्या ३० से अधिक नही पायी गई है। इनमें से दो, जो नर और मादा है, अमरीका में सरकार द्वारा पाले गए है।

सारस की एक उपजाति है "करकरा", (चित्र सख्या ७८) जो हमारे यहा केवल जाडो में आता है। इसका रग भी स्लेटी ही होता है, केवल गर्दन के नीचे का भाग काला होता है । आखो के पीछे कुछ मुलायम सफेद पर हुआ करते है । आसमान में हजारो की कतार में उडते हुए और तेज शब्दो मे कुछ बोलते हुए यह शीत काल के आरम्भ में किसी दूर देश से हमारे यहा आते है और फिर गर्मियो के आते ही वही लौट जाते है । अधिकाशत नदी-झील-तालाब के तटो पर आप इन्हे पाएगे । जब-तब अडोस-पडोस के खेतो पर धावा बोल कर फसल को ये काफी नुकसान भी पहुचाते है । बडे सारस से इनका कद छोटा होता है और दोनो की प्रकृति में भी अन्तर है। जहा सारस वैयक्तिक प्रकृति का पक्षी है, ये गिरोह बाधकर रहने वाले पक्षी है। पता नही, एक वश के होकर भी दोनो की प्रकृति में इतना अन्तर क्यो है ।

करकरा को पजाब में 'कुज' कहते है। ये पहाड के पक्षी है जो दाने की खोज में कुछ दिन के लिये समतल क्षेत्रो मे आ जाया करते है । पजाबी भाषा मे इस सम्बन्ध की एक सुन्दर प्राचीन कविता है, जो इस प्रकार है—

कुजा कोलों मोर पुछेंदी,
'तुस्सी नित परदेसी तैयारी,
या तुसाडा वतन कुचजड़ा
या तुस्सी पेट तगारी ?'
'ना साडा वतन कुचजडा
न अस्सी पेंट तगारी,
ते रब्ब डाढा कादिर,
जिसने साडी चोग खिलारी,
ते कोई बम ओ गोरिए !
साडी जिदियां दे मेले ।'

—कुजो से मोर ने पूछा, 'तुम हमेशा परदेस जाने की तैयारी में क्यो रहते हो ? क्या तुम्हारा देश निकम्मा है या पेट की खातिर तुम्हें परदेस जाना पडता है ?'

कुजो ने कहा, 'परमात्मा बडी कुदरत वाला है । उसने हमारा आहार सारी पृथ्वी पर फैला रखा है । उसी की खातिर हमें तुमसे और बहुतो से मिलने का मौका मिल जाता है ।'

दाविल और बुज्जा

जल के किनारे पर रहने वाले पक्षियो में "दाविल" और "बुज्जा" भी उल्लेखनीय है।

दाविल (चित्र सख्या ८७, ८८) दरअसल उसी बिरादरी का है, जिसके बगले और लगलग आदि है। यदि उसको चोच चिमटे की तरह न होकर सोधी होती, तो हम इसे एक प्रकार का बगला ही कहते। रग भी इसका तुषार-सा होता है। चोच और पाव काले होते है। यह गोल बाधकर रहने वाला पक्षी है। जब यह कतार में उडता है, तो दूर से एक श्वेत लकीर-सी नजर आती है।

घास-पात, छोटी मछलिया तथा पानी के कीडे इसके आहार हैं। चोंच खोल कर अपनी गर्दन को यह पानी के भीतर डाल कर घुमाता रहता है, ताकि उसके भीतर छोटे-छोटे कीडे अपने आप आ जाए और यह उन्हें गप कर ले।
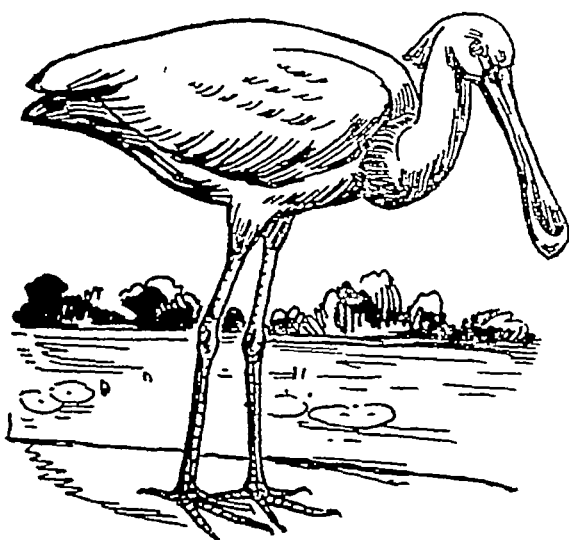
किनारे के किसी पेड की टहनियो पर मचान-सा घोसला बना कर यह अगस्त से नवम्बर तक अडे देता है। बुज्जा के दो भेद है—एक काला, दूसरा सफेद। काले को 'कडाकुल' भी कहते है और सफेद को 'मुडा', हालाकि दोनो की बनावट तथा स्वभाव एक-सा ही है।

कड़ाकुल कद में प्राय २६-२७ इच का होता है तथा नर और मादा के रूप-रग में कोई फर्क नही होता। इसके सर के ऊपर के कुछ पर लाल रग के होते हैं, मानो मुर्गे के पर हों।

मुडा कद में कड़ाकुल से कुछ बडा होता है। इसका सर और गर्दन काले रग के तथा बगैर बाल के होते है। शरीर के बाकी सभी हिस्से सफेद होते है। दोनो की चोच लम्बी और टेढी होती है। रात में ये किनारे के किसी वृक्ष पर दल बाध कर रहते है, दिन में पानी के किनारे अथवा धान के खेतो में कीडो की तलाश मे घूमते रहते है। मुडा जून से अगस्त तक, कडाकुल मार्च और नवम्बर के बीच अडे देते है। अग्रेजो मे इन्हें 'आइबिस' कहते हैं।

पहाड़ के पत्ती

भारतवर्ष के पहाडो पर समतल क्षेत्र में पाये जाने वाले प्राय सभी पक्षी—कोयल तक—प्राप्य है, पर उनकी रूप-रेखा में काफी अन्तर पाया जाता है । कद में और रग में भी। उदाहरण के लिए गौरैये को लीजिए । पहाडी गौरैये मैदानो के गौरैयो से, जो हमारे गृह-प्रागण में दिन भर फुदकते रहते है, रग मे काफी भिन्न होते है । उनके गले और पीठ पर जो गहरा बादामीपन होता है वह मैदानी गौरैयो में नही होता, और न उनकी तरह ये मोटे-ताजे ही होते है । गरज यह कि मैदान के तथा पहाड के पक्षियो में भी प्राय वही अन्तर है जो कि मनुष्यो मे ।

पहाडो पर कुछ एसे पक्षी अवश्य है जो साधारणत नीचे के इलाको में नही पाये जाते। इनमें मुख्य वे है जो एक जाति के होते हुए भी रूप तथा रग भेद से 'चीर', (चित्र सख्या . ७६, ८०) 'कोकला', 'कालिज', 'मोनल' (चित्र सख्या . ८१) आदि नामो से जाने जाते ह। जिस तरह तीतर, बटर आदि शिकार के छोट पक्षी है, उसी तरह चीर, कोकला, कालज, मोनल शिकार के बड पक्षी है जा पहाडी प्रदेशा क एसे जगलो में, जहा ठडक अधिक रहती है, निवास करते है । चित्तियो तथा धारियो से युक्त इनका शरीर बहुत कुछ तीतर जैसा हाता है, पर अपन चमकदार रगा, सर के तुर्रा तथा लम्बी सुन्दर पूछा के कारण य उनस कही अधिक चित्ताकर्षक ह । मासभक्षियो को इनका मास बहुत प्रिय है ।

चीर का नर कद मे काफी बडा होता है। २८ इच की पूछ, सर पर प्राय ३ इच का तुर्रा रखन वाले इस पक्षी का वजन एक सर से लेकर दो सेर तक हाता है। मादा नर से कुछ छाटी हाती है ।

नर का मस्तक तथा तुर्रे के पर कालापन लिए हुए बादामी रग के होते है। शरीर के बाकी हिस्से पर भी कालेपन की झलक लिए हलका अथवा गाढा बादामी रग होता है। गले का निचला हिस्सा सफदी लिए हुए हाता है । डैना में भी जहा-तहा सफेद रग के स्थल नजर आते है, यद्यपि नीव बादामी रग की ही होती है । पट का मध्य भाग कालापन लिए हुए ललछौह तथा चोच हल्की पीली, पाव स्लटी बादामी, पाव की अंगुलिया और तलव हल्के पीले रग के होते ह । मादा क रग म कुछ अन्तर रहता है ।

नर और मादा का आमरण जोडा होता है । दोनो मिलकर बडे चाव से अडे सेते एव बच्चो का लालन-पालन करते है । इनका अडा देने का समय अप्रैल से जून

तक है। ५,००० फुट से लेकर ६,००० फुट की ऊंचाई वाले स्थानों में ये अडे देते हैं। इनके घोसले जमीन पर ही किसी गड्ढे में घास-फूस के बने होते हैं।

नेपाल, कुमाऊ, गढवाल, टेहरी गढवाल, शिमला, बराहिर, चम्बा के इलाकों में ये बहुतायत से पाये जाते हैं। घने जगलो की बजाय कुछ खुले जगलो में रहना इन्हें ज्यादा पसद है। ये सुबह-शाम भोजन की तलाश में निकलते हैं, बाकी समय अधिकतर झाडियो के अन्दर छिपे रहते हैं।

नर और मादा सुबह-शाम मुर्गे की तरह जोर से बोल उठते हैं बोली इनकी इतनी बुलन्द होती है कि करीब एक मील तक सुनाई देती है तथा पहाड़ की घाटी को गुजा डालती है।

पौधो की जड, कीडे, नाज के दाने तथा वृक्षो के छोटे-छोटे फल इनके आहार है।

ये ग्राम-कुक्कुट की तरह उडते हैं तथा उडते और दौडते समय ये अपनी पूछ के परो को फैला लेते हैं।

नर के सर का तुर्रा गहरे बादामी रग का, बगल के परो का गुच्छा एव समूचा सिर, ठोढी, गला तथा गर्दन के पीछे का हिस्सा गहरे चमकीले हरे रग से मिला हुआ काला, गर्दन के दोनो ओर सफेद धब्बे, बदन का ऊपरी हिस्सा, सर से दुम तक, सफेद-धूसर, हरएक पर काली लकीर, दुम का अतिम हिस्सा ललछौंह, किनारे पर काली लकीरे, चोच कत्थई—मोटे तौर पर कोकले की यही रूप-रेखा है। मादा के रग में कुछ फर्क होता है—कत्थईपन ज्यादा है। लाली भी।

हरएक कोकले का रग एक-सा नही होता। सब में कुछ-न-कुछ फर्क पाया जाता है। यह इस पक्षी की विशेषता है। पूछ लम्बी होती है। नर का वजन सेर सवा सेर तथा मादा का पौन सेर के करीब होता है। देखने में यह अत्यन्त सुन्दर, चित्ताकर्षक पक्षी है।

नैनीताल, अलमोडा, गढवाल, शिमला, जम्मू, मरी आदि के पहाडी इलाको में यह बहुतायत से पाया जाता है। ६,००० फुट से लेकर ६,००० फुट की ऊचाई तक यह अडे देता है · कही-कही १२,००० फुट की ऊचाई पर भी इसे अडे देते देखा गया है। इसका लकडी के चद टुकडो का बना हुआ घोसला होता है जो यह झाडियो में या पहाड के किसी दर्रे में बनाया करता है ताकि मानव-दृष्टि से यह ओझल रहे।

मई-जून इसके अडा देने के महीने हैं। यह जोडा जीवन भर के लिए बांधता है और घोंसला भी हर साल एक ही स्थान पर बनाते पाया गया है। इसके अंडों की सख्या ६ तक होती है।

इसकी आवाज मोर की तरह गहरी होती है। बन्दूक की अथवा किसी बडे दरख्त के गिरने की आवाज सुन कर यह भी कूक उठता है। पर इसकी सबसे बडी विशेषता यह है कि जानवरो की भाति यह खूब खर्राटे भी लेता है, गहरी नीद सोता है, और सुप्तावस्था में बहुधा शिकारियो के द्वारा इसे बन्दी बनना पडता है। शायद ही कोई और पक्षी इस तरह गहरी नीद में सोता हो। नाज के दाने, घास के बीज, वृक्ष के छोटे फल, फूल की कली, कीडे-मकोडे इसके आहार हैं।

कश्मीर के कोकलों का रग औरों की अपेक्षा ज्यादा गाढ़ा होता है। मादा के शरीर

की लकीरें भी ज्यादा स्पष्ट होती हैं। ये लद्दाख, गिलगित आदि के इलाकों में पाये जाते है।

नेपाल के कोकले और भी गाढे रग के होते है, पर कद में औरो से छोटे। ये आसानी से पाले भी जाते हैं।

इस जाति के पक्षियों में कालिज, जिसकी अनेक किस्में है, सबसे ज्यादा वनमुर्ग से मिलते है। बडा कद, मजबूत, गोलाकार छोटे-छोटे पख, सोलह परो की लम्बी पूछ, जिनमें बीच का पर सबसे अधिक लम्बा, नर के दोनो पाव के हिस्से घने उभरे हुए, सर पर एक बडा-सा गठीला तुर्रा, आखो के पास गहरे रग में रगा हुआ परो से रहित एक स्थान—कालिज पक्षी की ये मुख्य पहचान है। पहाड तथा पर्वत-घाटी इसके निवास-स्थान हैं। इसकी कई उपजातियां है और मोटे-तौर पर समानता होते हुए भी इनके रूप-रग में काफी भिन्नता है। स्वभाव सबका प्राय एक-सा है। मुख्य किस्में ये है—

१ **सफेद चोटीदार**—इसके सर पर एक लम्बी-सी सफेद अथवा क्षीण कत्थई रग की चोटी होती है, सर का बाकी हिस्सा चटकदार पीला-नीला मिला हुआ काला, पीठ का ऊपरी हिस्सा नीलापन लिए हुए काला, परो का किनारा सफेद अथवा क्षीण बादामी, जिन पर श्वेत सीधी लकीरें बनी होती है, दुम के पर ऊपर चमकदार काले, नीचे बादामी, डैनो तथा पूछ के परो पर हरापन, पेट बादामी, चोच सफेद, पाव सफेदी लिए हुए बादामी, होते है। शरीर का वजन एक सेर से कुछ ज्यादा होता है।

मादा के शरीर पर बादामीपन का अश नर की अपेक्षा बहुत अधिक होता है, जिस पर तीर की-सी सफेद लकीरे बनी होती है। चोच, पाव आदि समान रग के होते हैं। दोनो की आखो के चारो ओर गाढे लाल रग का एक गोलाकार स्थान होता है।

नेपाल, गढवाल आदि के पहाडो पर ये बहुतायत से पाये जाते हैं। मार्च-अप्रैल से लेकर जून के अत तक इनका प्रसव-काल है २,००० फुट से लेकर ४,००० फुट तक की ऊचाई पर ये अडे देते है, पर जब-तब ११,००० फुट तक पर भी ये अडे देते देखे गये है। दरअसल पहाड की तलहटी से लेकर हिमाच्छादित शिखर तक ये पाये जाते है। अतएव यदि ये दस या ग्यारह हजार फुट की ऊचाई पर भी अडे देते देखे गये है तो इस में कोई आश्चर्य नही। इनके अडो की सख्या ९ से १४ तक होती है। इस जाति के और पक्षियो की तरह इनके भी घोसले वेढगे हुआ करते है। पर उनकी तरह ये घने जगलो के प्रेमी नही है; पहाड की खुली जगहो पर विचरना इन्हे अत्यधिक प्रिय है। झुड बाध कर रहना भी इन्हें प्रिय नही, अधिकतर नर-मादा अपनी सतान के साथ विचरण करते हैं, यदि कोई और नर इनके बीच आ गया तो ये मुर्गे की तरह लड पडते है और बेतरह लडते है, कभी-कभी तो ऐसा प्रतीत होने लगता है कि ये लडते-लडते अपनी जान ही दे डालेगे।

उडने में औरो की अपेक्षा ये ज्यादा तेज होते हैं। प्राय ऊचे स्वर में कुछ बोलते हुए, दाना चुगते हुए वन में विचरण करते है। मनुष्यो को देखकर वनमुर्ग की तरह तुरन्त भाग खडे नही होते बल्कि कभी-कभी मानव-आवास के पास तक दाने की तलाश में आ पहुचते है। नाज के दाने, छोटे पौधे की जडें, छोटे-छोटे कीडे भी इनके आहार है।

२. **नेपाली कालिज**—सफेद चोटीदार के सिवाय, चमकदार नीलाभ काली चोटी वाले कालिज भी काफी प्रमुख है, जिन्हें नेपाल-कालिज के नाम से पुकारते है और जो

नेपाल के वनो में २,००० फुट से लेकर ६,००० फुट की ऊचाई तक पाये जाते हैं । नेपाल के समीपवर्ती स्थानो जलपाईगुडी, घनखेता आदि में भी पाये गये है । शायद "पर्यटन विविधान् लोकान्"—इधर-उधर घूमते-घामते इन जगहो में भी ये आ जाते हो, पर रहने वाले ये नेपाल के पहाडो के ही हैं ।

सिक्किम, भूटान आदि में पाये जाने वाले कालिज की पीठ बिल्कुल काले रग की होती है । असम तथा दार्जिलिग के चाय बागानो में भी सैर करते हुए ये बहुधा नजर आते रहते है । यही नही, यदा-कदा यहा घोसले बनाकर चाय के पौधो की झुरमुट में अडे तक दे डालते है—पर ये सिक्किम और भूटान के ही वासी है । किन्तु ऊचे पहाड इन्हें पसन्द नही । २,००० फुट से ५,००० फुट की ऊचाई ही इन्हें अधिक प्रिय है ।

ये अधिकतर चुप रहने वाले पक्षी है, पर जब गुस्से में आते है तो "कूर-कूर" "वाक-वाक" बोलना शुरू कर देते है—कहते हैं, इनकी यह ध्वनि युद्ध का आह्वान है ।

कभी-कभी जब ये मौज में आते हैं तो एक प्रकार की दूसरी आवाज भी करते है जो ढोल के स्वर से मिलती-जुलती है । ग्रामीणो का कहना है कि यह आने वाली वर्षा का पूर्व सकेत है, अर्थात् जब काली पीठवाला कालिज ढोल के स्वर में, आनन्दोल्लास के साथ बोलना आरम्भ करे, तो आप समझ जायें कि वर्षाकाल निकट है ।

३ काले पेट और काली पूछ वाला एक तीसरे प्रकार का कालिज असम में पाया जाता है। बिहार के मानभूम जिले में भी यह मिलता है पर अधिकाशत असम और मणिपुर, अराकान आदि के जगलो में ही पाया जाता है । पता नही, मानभूम के जगल में यह कब और कैसे आया । यही एक जाति है जिसे गर्म जगहे पसद है । सुबह-शाम जगली रास्तो के दोनो ओर अथवा खेत या सर-सरिताओं के कछार में आप इसे बहुधा दाना चुगते हुए पायेंगे ।

मणिपुर के आस-पास एक और प्रकार का कालिज पाया जाता है जिसके सर का तुर्रा बिल्कुल स्याह तथा सर, गर्दन, पीठ और डैने राख के रग के होते है । पूछ काली होती है, परन्तु इस पर सफेद लम्बी धारिया बनी होती है । चार हजार फुट से नीचे यह शायद ही उतरता हो । साथ ही, ६,००० फुट से ऊपर का शीत भी इसे पसद नही है । यह मध्यम-मार्ग का अनुयायी है ।

उपर्युक्त श्रेणी के चीर, कोकला तथा कालिज पक्षियों के अलावा इसी वश का एक और पक्षी भी है जिसे कश्मीर में 'नील-मोर', 'जगली मोर' के नाम से पुकारते हैं तथा कुलू में 'मुनाल', 'करारी' आदि नामो से । कुमाऊ में इसे 'दतिया', नेपाल में 'दाफिया' कहते है । ये तीन प्रकार के होते है तथा औरो की अपेक्षा इनकी चोंच अधिक लम्बी एव घूमी हुई होती है । पूछ छोटी होती है जिसमें १८ पर होते है । चोटी हरे रग की होती है । सर भी हरा होता है—मोर की भाति—तथा शरीर के अधिकाश स्थानों पर ताबा और हरे रगो का सम्मिश्रण है । पूछ का अतिम भाग गहरा बादामी, चोंच भूरी, पाव हल्का पीला अथवा बादामी मिला हुआ हरा होता है । दरअसल देखने में इसका रग बहुत हद तक मोर जैसा लगता है । कश्मीर, गढवाल, नेपाल, चम्बा आदि क्षेत्रो में ये प्राप्य है—सिक्किम, भूटान, तिब्बत तो इनका मूल स्थान ही है । शिमला के आसपास ७,००० फुट की ऊचाई तक भी ये पाये गये है । साधारणत सात-आठ हजार फुट से नीचे ये नही उतरते है । १४-१५ हजार फुट की ऊचाई तक ये अडे देते हुए पाये गये है ।

कुलू तथा कांगडा के इलाकों में भी ये काफी सख्या में उपलब्ध ह । न्यूज़ीलण्ड के 'स्वर्ग-पक्षी' की भाति ही इन्हे भी अपनी सुन्दरता के लिए भुगतना पडता है । इनके पर वडे सुन्दर होते है तथा देश-देशान्तर में खूब विकते है। अतएव पैसे के लोभ में लोग इन्हें जाल में फसा-फसा कर इनके परो को वेचते तथा काफी धन पैदा करते हैं। इसके फलस्वरूप इस जाति के पक्षी सभ्य समाज के क्रमश दूर होते गये है—हिमालय के उन प्रदेशो में चले गये है जहा मनुष्य का पहुचना आसान नही है। फिर भी कुछ तो आज भी शिमला, दार्जिलिंग, सुकेत, चम्वा आदि स्थानो के आसपास जव-तव मिल जाया करते है ।

वनमुर्ग और उपर्युक्त पक्षियो में काफी सादृश्य है। यही नही, उसके साथ इनकी घनिष्ठ मैत्री भी है। वहुधा आप देखेंगे कि वनमुर्ग के साथ-साथ ही इस जाति के पक्षी भी वनों में विचरण कर रहे है । रूप-रग में भी ये एक-दूसरे से काफी मिलते है, फिर भी इनमें भिन्नता है । चीर, कोकला, कालिज, मोनल, न तो वनमुर्ग की तरह तेज ही होते है और न तीक्ष्णबुद्धि ही । किसी खतरे के मौजूद होने पर आप देखेंगे कि वन-मुर्ग एक क्षण में ही निर्णय कर लेगा कि उसे क्या करना है, जवकि कालिज आदि मिनटो तक इस सोच-विचार में पडे रहेगे कि हम क्या करे । ढिठाई में वनमुर्गों की अपेक्षा ये जरूर ही वढे-चढे है तथा मनुष्य को देखकर जिस प्रकार वनमुर्ग पल-मात्र में दौड कर आख से ओझल हो जाते है, ये नही होते और न वनमुर्ग की भाति ये शोर ही मचाते है । सुवह-शाम वोलते है, कूकते है, पर उनकी तरह दिन भर वोल-वोल कर पर्वत-घाटियो की शान्ति को भग नही करते ।

जरूरत पडने पर ये काफी उड लेते है, पर मुर्ग की तरह पखो की वनिस्वत पाव से काम लेना इन्हे अधिक प्रिय है। ये सर्व-भक्षी होते है । इन्हे पालतू वना कर रखना वडा कठिन है, वरसो पिंजडे में रहेंगे, पर जगली वने रहेगे, सभ्य न होगे । इनके लडने का ढग भी विचित्र है। फर्ज कीजिए, दो नरो मे आपस में तकरार हो गयी । वे एक दूसरे से लडने के लिए कमर कस कर तैयार हो जाएगे। दोनो जोर-जोर से धरती पर पाव पटकेंगे, हुकार भरेगे, ताल ठोंकेंगे, पर अत में इस निर्णय पर पहुचेगे कि लडना फिजूल है और धीरे से दुम दवा कर अन्यत्र चल देंगे या दाना चुगने लगेंगे ।

●

वनमुर्ग

पर्वतीय चीर, कोकला, कालिज आदि पक्षियो से इसका घनिष्ट सादृश्य है (चित्र सख्या ८२) । उनकी ही तरह इसके नर-मादा के परो में काफी अन्तर है, मादा की अपेक्षा नर कद में वडा होता है । ऐसे घने वन में, जिसके आस-पास जल आसानी से मिलता हो, ये पाये जाते है।

इस देश में पाये जाने वाले वनमुर्ग के सर पर एक मासयुक्त तुर्रा होता है तथा गले के दोनो ओर लटकती हुई थैली के जैसी दो टोपिया होती है। पूछ में १४ पर होते हैं, एक जाति के वनमुर्ग के १६, जिनमें नर के मध्य भाग के पर औरो से अधिक लम्बे होते

हैं। पख गोलाकार तथा गठीले होते है । गर्दन तथा पीठ के पर काफी लम्बे तथा पाव मजबूत होते है। नर के पाव पर लम्बे तथा कटीले उभडे हुए स्थल होते है, जिनकी मदद से ये दुश्मन पर पूरी तरह आघात-प्रत्याघात करने में समर्थ हो पाते है ।

इस देश के प्राय सभी हिस्सो में प्राप्त यह वनमुर्ग रक्तवर्ण होता है जो कि कश्मीर से लेकर असम तक के पहाडी प्रदेशो में उपलब्ध है । पूर्व बगाल, पश्चिम बगाल का पर्वतीय हिस्सा, छोटा नागपुर, मध्य प्रदेश, गोदावरी से उत्तर उडीसा का समस्त भाग, इन सभी स्थानो में भी इसने अपना घर बना रखा है । पर सिन्ध में यह बिल्कुल ही नही होता।

सर का तुर्रा तथा गले से लेकर पीठ तक के बाल चमकीले नारगी-लालरग के होते है ।

अन्य स्थलो के बालों में स्थान-भेद से लाल, हरे, नीले रगो का सम्मिश्रण होता है। मादा के सर का ऊपरी हिस्सा कालापन लिये हुए बादामी रग का होता है । दरअसल मादा के सारे बदन पर ललछौंह बादामीपन अधिक है ।

जोडा बाधने के समय तक वनमुर्ग का रग तेज रहता है पर उसके बाद इसमें मलिनता आ जाती है ।

अप्रैल से लेकर जून तक इसके जोड़ा बाधने—अडा देने—का समय है । किसी ऐसे स्थान में, जो मानव-दृष्टि से ओझल हो, झाडियो के बीच, दस-बीस टहनिया रखकर मादा अडे देती है । इनकी सख्या ५ से ७ तक होती है । बीस दिन मे अडो से बच्चे बाहर निकल आते है ।

ऐसे तो ये ६,००० फुट की ऊचाई तक पाये जाते है, पर अधिकतर पहाड के किनारे अथवा घाटियो में रहना ज्यादा पसन्द करते हैं। ये बडे लडाकू होते है, अपने तीक्ष्ण पावो की मदद से दुश्मन या प्रतिद्वन्द्वी की जान तक ले लेते है । दिल्ली तथा लखनऊ मे मुस्लिम शासन के दिनो में मुर्गों की लडाई की बडी धूम थी । नवाबो, अमीर-उमरा तथा बादशाहो को इसे देखने का बडा शौक था । पता नही, उन दिनो मे इन वनमुर्गों की पूछ राज-दरबार में थी या नही । शायद नही, क्योंकि इन्हे पालना कोई आसान काम नही है। बरसो इन्हे आप अपने पास रखे, इनकी आव-भगत करे, खिलायें-पिलाय, पर मौका पाते ही ये वन की ओर दौड़ भागेगे, भूल कर भी आपकी ओर न देखेंगे । यह इनका जाति-गुण है ।

दो किस्म के जगली मुर्गे इस देश में बहुतायत से पाये जाते है—एक वह जिसकी ऊपर चर्चा की गई है, दूसरा वह जिसके रग में भूरापन अधिक है । शरीर पर हलके पीले अथवा सफेद छीटो की अधिकता भी। पैर पीले अथवा ललछोह, चगुल स्याह, चोच में कालापन। मादा के रग में हल्के ढग का बादामीपन अधिक है तथा सफद चित्त भी ।

भारत के दक्षिणी तथा पश्चिमी इलाको में, हर जगह, इनका अस्तित्व है। पूर्वीय तट पर गोदावरी नदी तक, तथा मध्य प्रदेश के वन्य प्रदशो मे, एव राजपूताने म आबू पर्वत तक में ये प्राप्य है, पर इससे आगे के इलाको में नही । दक्षिण के नीलगिरि तथा सतपुडा की पहाडियो में भी आप इन्हे देख सकते है ।

रक्तवर्ण वनमुर्ग की भाति ये दल बाध कर नही रहते; एकान्त प्रिय है तथा अधिकतर नर-मादा ही एक सग रहते है, और नही । घने जगलो में ये निवास करते

है, पर सुबह-शाम भोजन की तलाश में झुरमुट से बाहर विचरते हुए भी नजर आते हैं। किसी खतरे की आशंका होते ही उड कर फौरन किसी दरख्त की डाल पर जा बैठते हैं। समय के बडे पाबन्द हैं, आप हर रोज एक ही वक्त पर, और अधिकतर एक ही स्थान पर, इन्हें दाना चुगते हुए पायेंगे।

लाल मुर्गे की तरह ये झगडालू अथवा लडाकू नही होते। एकान्तप्रियता के साथ-साथ इनमें शान्तिप्रियता भी काफी मात्रा में है। मादा शायद ही कभी अपनी जुबान खोलती हो, पर नर सुबह-शाम बोलते हैं, हाँ, औरो की तरह ये शोर नही मचाते और न इन्हे पालतू बना कर रखना ही उतना दुष्कर है जितना की लाल मुर्गों को।